दिशाओं का परिवेश





वाणी प्रकाशन

७६ एक, कमला नगर, दिल्ली–७

[illegible]

[illegible]

DISHAON KA PARIVESH

CRITICISM

EDITOR : DR. LALIT SHUKLA

Price : Rs. [illegible] 00



वाणी प्रकाशन
कमलानगर, दिल्ली-७

प्रकाशक | वाणी प्रकाशन, ७६ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७
मुद्रक | आर० के० प्रिंटर्स, कमला नगर, दिल्ली-७
सज्जा | एस० के० सिन्हा
प्रथम संस्करण | अक्तूबर : १९६८
मूल्य | सोलह रुपये

गुरुवर

श्रद्धेय पं० कृष्णशंकर शुक्ल

को

प्रणतिपूर्वक



आभार

सर्वश्री विवेकीराय : गाजीपुर, कन्हैयालाल ओझा : कलकत्ता, राही मासूम रज़ा : बम्बई, शैलकुमारी : दिल्ली, शरद जोशी : भोपाल, रामदरश मिश्र : दिल्ली, रणधीर सिनहा : दिल्ली, अरविन्द पाण्डेय : बम्बई, विजयमोहन सिंह : आरा, धनञ्जय वर्मा : नरसिंहपुर, विश्वनाथ गौड़ : कानपुर, जयशंकर त्रिपाठी : इलाहाबाद, गंगाप्रसाद विमल : दिल्ली, सुरेन्द्र चौधरी : गया, रणवीर रांग्रा : दिल्ली, गोविन्दलाल छाबड़ा : दिल्ली, जीवन शुक्ल : कानपुर, दिलीप कुमार : खरसिया (म० प्र०), कुमारी सुदेश तायल : भोपाल, आदित्य प्रसाद त्रिपाठी : गोवा, शालिग्राम मिश्र : कानपुर, सलिल गुप्त : कानपुर एवं शंकरदेव अवतरे : दिल्ली, के प्रति।

—सम्पादक

यह सम्पादन

अनेक व्यवधान और असंगतियों को झेलने के पश्चात् कुछ उपन्यासो पर विभिन्न समीक्षको द्वारा लिखी हुई समीक्षाओ को एकत्र कर सका हूं। हिन्दी के आलोचना-साहित्य मे इस प्रकार के प्रयास नहीं हैं। जो एकाध पुस्तकें मिलती भी हैं उनमें पत्रकारिता के वजन पर लिखी गयी टिप्पणियां संकलित हैं। प्रस्तुत सग्रह की समीक्षाओ में आलोचकों ने अपनी आवश्यकतानुसार शब्द-सीमा बांधी है। कुछ उपन्यासो की समीक्षा मैं चाह कर भी न दे सका, इस बात का मुझे खेद है। इस सूची में राहुल जी का 'सिंह सेनापति', भैरवप्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा' सन्हैयालाल ओझा का 'सिन्धु सीमान्त', निराला का 'निरुपमा' राजेन्द्र यादव का 'उखड़े हुए लोग' तथा राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' इत्यादि का नाम आता है। इन कृतियो से सम्बन्धित समीक्षकों की बीमारी, आलस्य, दगो और पालतू प्रथियों के कारण ऐसा हुआ। अवसर मिला तो भविष्य में यह कमी पूरी करूंगा। और भी कुछ उपन्यास ऐसे हैं जिनका मूल्यांकन होना आवश्यक है।

कृति की योजना में भाई रणधीर सिनहा और कार्यान्वयन मे श्री सलिल गुप्त का सहयोग फलप्रद रहा है। प्रकाशन के लिए श्री भीमसेन जी और बन्धुवर प्रेमचन्द्र महेश का आभारी हूं।

समीक्षा के वैविध्य की प्रस्तुति कैसी बन पड़ी है? यह बताना मेरा काम नहीं है। पाठको का यह उत्तरदायित्व मैं क्यों वहन करूं।

ललित शुक्ल

डी-१३०, न्यू राजेन्द्र नगर,
नयी दिल्ली-५
रक्षाबन्धन
सं० २०२५ वि०

क्रम-सूची

संघर्ष

आलोच्य उपन्यास

अलग अलग वैतरणी : शिवप्रसाद सिंह, खोज : अमृतराय, मछली मरी हुई : राजकमल चौधरी, खोया हुआ आदमी : कमलेश्वर, कालेज स्ट्रीट के नये मसीहा : शरद देवड़ा, अंधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश, यह पथ बंधु था : नरेश मेहता, मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु, सूरज का सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती, बलचनमा : नागार्जुन, झूठा सच : यशपाल, सागर, लहरें और मनुष्य : उदयशंकर भट्ट, चारुचन्द्र लेख : हजारीप्रसाद द्विवेदी, मुर्दों का टीला : रांगेय राघव, शेखर : एक जीवनी—अज्ञेय, बूँद और समुद्र : अमृतलाल नागर, गिरती दीवारें : उपेन्द्रनाथ अश्क, चित्रलेखा : भगवतीचरण वर्मा, जहाज का पंछी : इलाचन्द्र जोशी, चलते-चलते : भगवतीप्रसाद वाजपेयी, नारी : सियारामशरण गुप्त, गढ़-कुण्डार : वृन्दावनलाल वर्मा, सुनीता : जैनेन्द्र, कंकाल : प्रसाद, गोदान : प्रेमचन्द ।

उपन्यास के सम्बन्ध में

०

सम्पादक

प्रारम्भिक

कुछ अनिवार्य और सतत परिवर्तनशील तत्त्व ऐसे हैं जो उपन्यास की परिभाषा बनाने में बाधा डालते हैं। यही कारण है, कि संसार की सर्वाधिक ख्यातनाम साहित्य-विधा की उपयुक्त और अन्तिम परिभाषा नहीं हो सकी। समाज की आयु का आगे बढ़नेवाला कारवाँ कभी रुकता नहीं, इसीलिए गतिशील जीवन का रूप भी स्थिर नहीं हो पाता। जीवन सम्बन्धी स्थिरता में व्यक्तित्व जड़ीभूत हो जाता है। समाज ऐसी स्थिति में उन व्यक्तित्वों को एक सुगम और प्रकृत स्वभाव वाला मार्ग दिखाता है। सामाजिक गतिविधियों के बदलाने से मानव जीवन में एक नया मोड़ आता है। इससे सबसे अधिक आकर्षक लाभ यह होता है, कि मनुष्य को जीने का सहारा मिल जाता है। वस्तुतः परिवर्तन जीवन का दूसरा रूप है इसलिए उसे नकारा नहीं जा सकता।

अपने में पूर्ण और व्यापक परिभाषा न बनने से हमारे सामने उपन्यास का इतिहास (मूल) जानने में कठिनाई उत्पन्न होती है। इस विचारबोध के सन्दर्भ में अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करने के बाद यह पता चलता है, कि साहित्य के अभ्युदय के साथ-साथ गद्य का कोई न कोई रूप पाया जाता था। 'नॉविल्स इन वर्स' की रचना के मूल में गद्य और पद्य का कोई भेद नहीं था। 'नॉवेल' (Novel) शब्द की उत्पत्ति इतालवी 'नॉवेला' (Novella) से मानी जाती है जो एक प्रकार की कहानी होती थी। फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में 'मध्ययुगीन रोमान्स' से 'नॉवेल' का सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

एक युग था जब 'नॉवेल' के वर्गीकरण के लिए तीन भेद सुझाये गये थे। प्रेम-कथाएँ (Love stories), साहसिक यात्रा-कथाएँ (Adventure stories) और काल्पनिक एवं अमूलक कथाएँ (Fantastic stories) अपने अनेक रूपों में लिखी-पढ़ी जाती थीं। इस प्रकार का वर्गीकरण अधिक उपयुक्त इसलिए माना गया क्योंकि इनमें आरम्भ में एक दूसरे से मिल जाने का सन्देह नहीं था। सन् १७१९ ई०

में लिखा गया 'राबिन्सन क्रूसो' उपन्यास विश्व का प्रथम और बड़ा 'एडवेन्चर नॉवेल' है। इसमें विशेष बात यह है, कि यह 'फीमेल इन्ट्रेस्ट' रहित उपन्यास है। 'ग्रीन मैन्सन' की प्रकृति इसके विपरीत है। इसमें प्रेम और साहसिक यात्रा वृत्तान्त को परस्पर मिला कर लिखा गया है। फैन्टास्टिक कथाओं में गलिवर की यात्राएँ (Gulliver's Travels) तथा 'कैन्डिड' (Candide) आदि के नाम आते हैं। मूलत जब हम उपन्यास की प्रसिद्धि पर विचार करते हैं, तब पता चलता है, कि मानव के विचार-बोध की बढ़ती हुई परिधि और उसकी अध्ययनप्रियता के आधार पर सारा विकास सम्भव हो सका है। पश्चिम में सत्तरहवीं शताब्दी में 'नॉवेल' के पैर जम रहे थे। धीरे-धीरे सामान्य जनता में 'नावेल' के प्रति जिज्ञासा बढ़ रही थी। यही वह समय था जब 'नॉवेल' अपने साहित्यिक स्तर को पाने की कोशिश कर रहा था। और अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'नॉवेल' एक जनप्रिय साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

अब तो उपन्यास लेखन में अनेक प्रकार की शैलियाँ हैं। शैलियों के आधार पर विभिन्न प्रकार के प्रयोग और प्रकार देखने में आते हैं। यूटोपियन (काल्पनिक), डिटेक्टिव (जासूसी), साइंस फिक्शन (विज्ञान कथाएँ), स्ट्रीम ऑफ कन्शसनेस (चेतना प्रवाह), साइकोएनालिटिकल (मनोविश्लेषणात्मक), धार्मिक, सामाजिक रोमाण्टिक, सेण्टीमेण्टल्स (भावनावादी), रियलिस्टिक (यथार्थवादी), सुर्रियलिस्टिक (अतियथार्थवादी), नेचुरलिस्टिक (प्रकृतिवादी), तथा वृत्तात्मक (डाकुमेण्टरी) उपन्यास मुख्य रूप से जाने जाते हैं। हिन्दी उपन्यास में इस प्रकार का वैविध्य नहीं पाया जाता है। इस बात के मूल में कई कारण हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे।

प्रारम्भिक काल से आज तक के उपन्यासों में घटनाओं (Events) का महत्व अधिक रहा है। अपने किसी न किसी रूप में घटना उपन्यास में मौजूद रहती थी। सन् १८८१ में Henry Ceard नामक एक फ्रेंच उपन्यासकार ने Unebelle journe'e नाम का उपन्यास लिखकर यह दावा किया था, कि उसकी कृति में घटनाएँ (Events) बिल्कुल नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह है, कि उपन्यास की रचना में किसी भी तत्व को छोड़ा जा सकता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप नायक रहित, नायिका-हीन, वस्तु विहीन, स्त्री पात्र रहित उपन्यासों की सृष्टि की गयी।

उपन्यास का सर्वाधिक अनिवार्य तत्व कल्पना (Imagination) है। बिना कल्पना के उपन्यास की रचना असम्भव है। प्रायः सभी प्रकार के उपन्यासों के मूल में कल्पना तत्व का हाथ होता है। यह एक ऐसा माध्यम है जो कृति में रीडेबिलिटी (पठनीयता) पैदा करता है। हाँ, कल्पना का रूप जब उद्दाम होता है तब उपन्यास का स्तर बदल जाता है। अधिक पढ़ने की प्रवृत्ति और जिज्ञासा के साथ-साथ मनुष्य की व्यवसाय वृत्ति ने उपन्यासों के रूप को अधिक कमर्शियल बना दिया है। आज विश्व की प्रायः प्रत्येक भाषा में ऐसे उपन्यासकारों की संख्या अधिक है जो 'व्यापार' के रूप में उपन्यास लेखन को मानते हैं। वैज्ञानिक प्रभाव और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

भावना ने साहित्य पर इतना प्रभाव डाला है, कि वह रोटी का साधन बन गया है। युगव्यापी व्यापारिकता में वैश्य संस्कृति काम कर रही है।

नये प्रयोगो और नयी दिशाओ के खुलने के कारण उपन्यास के तत्वों मे परिवर्तन होता आया है। एक समय था जब घटना का बोलवाला था। एक समय ऐसा भी आया जब वस्तु को प्रधानता दी गयी। परिवर्तनशील भूमिकाओ मे कभी किसी तत्त्व का महत्त्व कम हो गया कभी किसी का बढ गया। एक बात और है, कि अपनी-अपनी रुचि के अनुसार शिल्प-निरूपण और कला-विधान पर शैलीकारो ने अपने मत व्यक्त किये हैं। बात यहाँ तक बढी है, कि वर्ग-संघर्ष और लोक-शक्ति पर विश्वास करने वाले माओ-त्से-तुंग जैसे विचारको ने साहित्य और कला को राजनीति के सेवक के रूप मे स्वीकार किया है। यह विषय विवादपूर्ण है। राजनीति के क्षणिक मूल्य यदि साहित्य को अपनी उन्नति का सोपान बनाते हैं, तो इससे उनका स्वार्थ ही सामने आता है। साहित्यिक मान समाज की चिरस्थायी सम्पत्ति है जब कि राजनैतिक मूल्यो को लोक अपनी सुविधा के अनुसार बदल लेता है।

'उपन्यास' शब्द पर भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचार करने से भी उपन्यास की परिभाषा बताने में कोई सहायता नही मिलती। हिन्दी के कुछ आलोचकों ने 'न्यास' और 'उप' को अलग करके कुछ कहने का प्रयास किया है; किन्तु इस प्रकार की व्याकरणिक व्याख्या से हाथ कुछ नहीं लगा। अनेक प्रकार की शैलियों और प्रयोगो को व्याकरण के आधार पर 'उपन्यास' शब्द में नही समेटा जा सकता। प्रसादन की बात भी उपन्यास के सन्दर्भ में अधूरी है।

प्रेमचन्द जी ने उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रमात्र समझा था। देवकी-नन्दन खत्री ने उसे मनोरंजन का साधन बता कर संतोष कर लिया था। अनेक विचारों और परिभाषाओ को देखकर यह निष्कर्ष निकलता है, कि उपन्यास का सीधा सम्बन्ध मनुष्य से है; क्योकि यह उसी के जीवन की कथा है, एक झांकी है। अस्तु उपन्यास के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

- उपन्यास मानव जीवन का चित्र है।
- इसमे सत्य और कल्पना का सयोग होता है।
- यह सामाजिक यथार्थ का गद्यात्मक आकलन है।
- उपन्यास लेखक की व्यक्तिगत अनुभूति और मानव जीवन की अन्तर्बाह्य लीलाओं का संगम है।
- उपन्यास सामान्य जीवन और प्रकृति का मनोवैज्ञानिक चित्रण है।
- उपन्यास आदर्श और यथार्थ का वह कलात्मक रूपांकन है, जिसमे प्रेम और अनुभूति की व्याख्या होती है।

अंकुरण

उपन्यास का बीज किन परिस्थितियो में किसी लेखक के हृदय में अंकुरित

होता है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए मुझे एक संस्मरण याद आ रहा है। कानपुर के किदवई नगर मुहल्ले में नौरोज होटल में उपन्यासकार भगवतीप्रसाद वाजपेयी के साथ मैं चाय पी रहा था। साथ में एक सज्जन और थे। उपन्यास लेखन पर चर्चा चल पड़ी। चाय की चुस्की लेते हुए वाजपेयी जी ने उन सज्जन से पूछा—क्यों भाई, आप भी कुछ लिखते हैं ?' कुछ संकोच का भाव प्रदर्शित करते हुए वे बोले—'नहीं पण्डित जी, मैं तो कुछ नहीं लिखता हूँ।' तुरन्त वाजपेयी जी ने कहा—'क्यों, आपने कभी कोई दर्द नहीं महसूस किया क्या ?' यह कह कर वे कुछ गंभीर हो गये। वाजपेयी जी को कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने बीच में टोकते हुए पूछा—'क्या पण्डित जी, दर्द महसूस करने वाला हर व्यक्ति लेखक हो सकता है ? वाजपेयी जी ने कहा था, कि 'भाई दर्द को वाणी देना लेखक का काम है। सामान्य व्यक्ति से यह काम नहीं बन पाता। इसे तो कोई लेखक ही कर सकता है।'

लेखन के मूल में दर्द, महसूस किया हुआ दर्द बड़ा काम करता है। जीवन के तमाम चित्र, बहुत सारी बातें, सुख-दुःख के प्रभाव और अगणित अनुभूतियाँ व्यक्ति को लेखक बनने के लिए मजबूर कर देती हैं।

ये बातें स्वतंत्र चिंतन वाले लेखक से सम्बन्धित हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है, कि प्रकाशक अपनी आवश्यकतानुसार उपन्यास लिखवाता है। पाठ्यक्रम में पढ़ाये जाने वाले उपन्यास की लेखन विधा अलग है। गाँधी, टालस्टॉय, विवेकानन्द की शिक्षाएँ जब तक उनमें नहीं भरी जाती तब तक वे सदाचार और नीति के उपदेशक नहीं बन पाते। आजकल हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न अपने चरम उत्कर्ष पर है। इस काम में छोटी-बड़ी पूँजी वाले प्रकाशक, लेखक, विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक और विभागीय अध्यक्ष सभी सम्मिलित हैं। जिस व्यापारिक सभ्यता की ओर मैंने संकेत किया है वह साहित्य और शिक्षा दोनों को प्रभावित कर रही है। प्रत्येक वर्ष विशुद्ध साहित्यिक स्तर के एकाध उपन्यास ही प्रकाशित हो पाते हैं।

किसी रचना का अंकुरण जब लेखक के यहाँ होता है तब उसके हृदय में कोई घटना, बात अथवा दृश्य विशेष होता है। यह तथ्य 'गोदान', 'शेखर एक जीवनी', 'चित्रलेखा', 'चलते-चलते' 'अलग-अलग वैतरणी' तथा 'माया-गाँव' आदि की रचना के प्रसंग में मिलता है। यह संसार का झमेला किसी लेखक को 'भ्रमजाल' लगा है, किसी ने इसे 'वेगवती नदी' समझा है, किसी ने 'वेदना का चित्र' कहा है। जीवन के चढ़ाव-उतार, दमन-दैन्य, वर्ग-वैषम्य आदि सभी में वह शक्ति और आकर्षण मिलता है जो किसी लेखक के हृदय में अंकुरण का आधार बन सकता है। बन्दी-गृह में लिखे जाने वाले उपन्यासों में यह बात साफ उभरती है, कि अंकुरण स्थिति सापेक्ष है। अपने उपन्यास के अंकुरण के सन्दर्भ में उसे विज्ञापन नहीं करना पड़ता—रचना अपने आप सब कुछ कहती है। प्रभावक तत्त्वों की खोज के आधार पर उपन्यास का अध्ययन करने में नयी उपलब्धियाँ सामने आ सकती हैं। 'चित्रलेखा' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' पढ़ने से पूर्व अनातोले फ्रांस की 'थाया' तथा 'कादम्बरी' पढ़ना आवश्यक है।

वैचारिक परिवेश के अन्तर्गत ही ये बातें और प्रयास सम्भव हैं; क्योंकि सामान्य रूप से समय काटने के लिये पढ़े जाने वाले उपन्यासों के सम्बन्ध में ऐसा सोचना एकान्ततः निरर्थक है। यह भी सम्भव है, कि कोई देखी हुई घटना अथवा प्रभावशाली दृश्यावली हृदय पर एक व्यापक प्रभाव छोड़ जाये। मस्तिष्क मे पर्याप्त समय तक वह दृश्य अथवा घटना पुरानी होती रहे। उससे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तमाम आनुषंगिक घटनाएँ और दृश्य आते रहें और अन्त मे कई वर्षों के अन्तराल से वह सारी सामग्री एक कथाकृति का रूप ले ले।

ऐसा भी हो सकता है, कि किसी विशेष चरित्र में इधर उधर से कुछ प्रसंग और आ जुड़ें। अनुभूत सामग्री को उपन्यास का रूप देने मे कलाकार की प्रतिभा, शिल्प-कौशल तथा समय बड़ा काम करते हैं। इस सारी व्यवस्था का संयोजन नहीं करना पड़ता। स्वतः एक दृष्टिकोण बनता चलता है। लेखनी विचार को, आत्मानुभूति को चिन्तन को रूप देती चलती है।

कुछ उपन्यासकार 'असाधारण मानवीय अनुभूति' के प्रति अपना लगाव अधिक मानते हैं। यह भी कहा जाता है, कि उनका काम प्रकृति की प्रतिलिपि तैयार करना नहीं है। कौन दृश्यांकन, अनुभूति, घटना और बात उपन्यास बनने के योग्य है इसके निर्णय का पूरा उत्तरदायित्व लेखक पर होता है। एक बार फ्लाबेयर को पत्र लिखते हुए जॉर्ज सैण्ड ने कहा था, कि 'मैं इस बात पर विश्वास करता हूँ, कि लेखक को अपनी प्रकृति के अनुकूल जिन्दा रहना चाहिए। लेखक के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता, बहुत बड़ी उपलब्धि है।' परिणाम यह निकला, कि हिन्दी के लेखकों ने फैशन के आधार पर अपने अपने आचरणों की प्रदर्शिनी लगा दी। स्त्री, शराब और अनोखा-पन साहित्यकार का शौक बन गया। मैंने 'अंकुरण' का उद्देश्य लेकर मजनूँ बन कर दौड़ते हुए लेखकों को देखा है। उनकी विषय वस्तु पढ़ी और सुनी है। अधिक कहने की आवश्यता नहीं, स्वांग रचकर उपलब्धि का आयोजन कितना हेय है।

प्रायः सभी प्रकार के उपन्यासों का सम्बन्ध चरित्र से होता है। लेखक के अन्तर्मन को वह प्रभावित करता है। वैविध्य की दृष्टि से विश्व के किसी भी भाग मे पाया जाने वाला चरित्र अपनी विशेषताओं के आधार पर उपन्यास के अंकुरण का कारण बन जाता है। कभी-कभी तो यह भी देखने में आता है, कि चरित्रों के आकलन का सच्चा और आकर्षक रूप उपन्यास मे मिलता है पर कथावस्तु का भीनापन उसकी (कथावस्तु) याद भी नहीं आने देता। बंगला के प्रसिद्ध उपन्यास 'चौरंगी' (ले॰ शंकर) के सन्दर्भ में यह बात पूरी तरह चरितार्थ होती है। चरित्रों का परि-वर्तनशील व्यक्तित्व कहानी के ढांचे को उभरने नहीं देता। यह बात डायरी शैली के उपन्यासों के सम्बन्ध मे भी सोची जा सकती है।

सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विषमताओं के साथ जब धार्मिक कट्टरता की उलटी सीधी गतिविधियाँ जीवन को, जीने की कला को दृष्टिकोणों की सर्गबद्धता को अनिवार्य रूप से प्रभावित करती हैं, तब उपन्यास के अंकुरण का रूप कुछ और

होता है। वैयक्तिक धरातल पर आकर्षण और विकर्षण के अगणित रूपबंधों की भूमिका में होने वाला अंकुरण अपनी पृथक् विशेषता रखता है। 'झूठा सच', 'सोना और खून', 'बलचनमा' 'गुनाहों का देवता' तथा 'शेखर : एक जीवनी' आदि का नाम इस सन्दर्भ में लिया जा सकता हैं।

सौन्दर्य की अनुभूति और वैयक्तिकता के आधार पर भी रचना के नूतन आयामों को दिशा मिलती है। यह वैयक्तिकता कभी-कभी इतना आगे बढ जाती है, कि लेखक यह भूल जाता है, कि उसके योग्य अनुभूति कौन सी है। यौन भावनाओं की नग्नता के पीछे यही प्रवृत्ति काम करती हैं। स्त्री और पुरुष के भीतर बैठी हुई एक अन्य स्त्री और एक अन्य पुरुष अपने एकाकी जीवन में कितना खुल जाना चाहता है, किसी को इस बात का पता नहीं होता। नग्नता जीवन की उद्दाम कामना है। बस इसीलिए विचार शून्य जासूसी उपन्यासों में नग्नता का, अनर्गल तथ्यों का और अनहोनी घटनाओं का बोलबाला रहता है। कभी-कभी हिन्दी के उच्चस्तरीय उपन्यासकारों में भी यही प्रवृत्ति देखकर बड़ा दुःख होता है।

जब देवकीनन्दन खत्री के मस्तिष्क में उनकी कृति का अंकुरण हुआ होगा अथवा शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग-अलग वैतरणी' की बात सोची होगी उस समय उपन्यास के सम्बन्ध में उनका क्या दृष्टिकोण रहा होगा, इसका पता कृतियों के अध्ययन से लग जाता है।

प्रयोजनवादी धारणा बिछल कर जब कलात्मक अभिरुचि का साथ छोड़ देती है तब अंकुरण के मूल में व्यावसायिकता की नागिन कुण्डली मार कर बैठ जाती है। मानसिक व्यापारों की व्यावहारिक साधना के सहयोग से अंकुरण का रूप बहुत कुछ निखरा हुआ मिलता है। जैसे भूगर्भ से निकला हुआ धूल सना सोना कलापरक परिश्रम के पश्चात् दर्शनीय कंचन का रूप लेता है उसी प्रकार वैचारिक उपलब्धि में मनोवैज्ञानिकता, कलात्मक व्यवस्थापन, सौन्दर्यमूलक अनुक्रियाएँ और प्रस्तुति का बाँकपन प्राण फूंक देता है। इन सारी प्रक्रियाओं में अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार अन्विति का रूप अत्याधिक होता रहता है। सजगता ऐसी स्थिति में अपने मारक प्रभाव द्वारा लेखक की मनचाही वस्तु में नया रंग भर देती है।

अपने समाज का सतुलन इतना मोहग्रस्त और रूढ़ है, कि उसकी अविवेकशील स्थिति पर तर्क की रोशनी न पड़ सकती है और न समाज ऐसा कुछ प्रयास करता है। अभिशाप के रोग ने जितना अधिक वैधव्य को अपना ग्रास बनाया है उतना वैधुर्य को नहीं। जाने क्यों अभिशप्त स्थिति में नारी को पंगु बनाने में पुरुष को क्या लाभ पहुँचा है! प्रस्तुति का यह असामञ्जस्य अपने चरम उत्कर्ष पर है। अन्यथा, शिक्षा और वैज्ञानिक विकास का प्रभाव अभी न के बराबर है। अभी समाज में कन्यादान होता है, तुलसी माता की शादी में अश्लील और भद्दे गीतों का पाठ किया जाता है, लड़कियों को अशिक्षित रखा जाता है। जिस प्रकार पिता और माता उन्हें विवाह के लिए बाध्य करते हैं उसी प्रकार पति या बाल पति उन्हें माँ बनाने

के संकल्प को निष्ठा के साथ पूरा करते हैं। यह सारी स्थिति शल्य क्रिया की हकदार है। ऋषियों, महर्षियों के मत पुनर्मूल्यांकन की मांग करते हैं। भारतीय धर्मबुद्धि के माध्यम से असली पाप बुद्धि जन्मी है। इस सामाजिक परिवेश की गिरावट के लिए शहर और गाँव समान रूप से उत्तरदायी हैं। 'बलचनमा', 'आधा गाँव', 'गोदान', 'कंकाल', 'अलग-अलग वैतरणी' आदि की उपलब्धि की दिशाओं के स्वर बोल हमारे समाज से कुछ कहते हैं। अधिक विस्तार में जा कर तमाम उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। फलकियाँ इतनी साफ हैं, कि आसानी से समझ में आ जाती हैं।

चेतना की खिड़की से झाँकने में प्रत्येक लेखक का दृष्टि-पथ अलग-अलग होता है। तारों भरी रात का रूप अपने कई रूपों में दिखायी पड़ सकता है। मुंशी प्रेमचन्द ने एक बार उपन्यासकार को नोटबुक रखने की सलाह दी थी। कोई बात, दृश्य, घटना आदि को नोट करने में सुविधा की दृष्टि में उन्होंने ऐसा बताया था। किन्तु इस सुझाव के साथ अनिवार्यता का बंधन नहीं है। अंकुरण की स्थिति में कोई बात उपन्यासकार के हृदय में पड़े-पड़े काफी समय के पश्चात् रूपायित होने योग्य बनती है। इस सन्दर्भ में रोचकता, समय, प्रभावोत्पादकता, स्थिरीकरण की क्षमता, वैयता और विश्वसनीयता के माध्यम से अंकुरण का रूप सँवरता है। अपनी जिस इकाई के आधार पर किसी लेखक की कृति सार्वजनीन हो जाती है उसी की व्यापक अपील कृति के माध्यम से वह समाज को देता है। इस संयोजन में निस्संगता का पाया जाना संदिग्ध है; किन्तु क्रिया-विमूढ़ता की उपस्थिति भोग के लोभ में सामाजिक धारा के मार्ग को थोड़ा तिरछा कर देती है। वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि और सजगता के साथ रचना सान्निध्य का प्रभाव कलाकार को इष्ट पथ पर चलाता जाता है। अपने देश ने जन्म-मृत्यु की गणना में काफी दिलचस्पी ली है। और भी काम देखे सुने जाते हैं। दुष्टियंत्र का यह खिलवाड़ समूची जाति को पतनोन्मुख बनाये हुए है। सामान्य स्तर का व्यक्ति जान नहीं पाता है। जो जानता है, वह कहना नहीं चाहता है। जो कहना चाहता है उसका मुख बंद कर दिया जाता है। यह आत्म परवशता की उलटी स्थिति कितनी रमणीय है।

तात्त्विक पृष्ठभूमि

उपन्यास लेखन के लिए तत्पर कोई लेखक कागज कलम लेकर जब अपने सृजन कक्ष में जाता है तब उसके सामने पृष्ठभूमि की समस्या उठती है। जहाँ तक उपन्यास के तत्त्वों का प्रश्न है, हिन्दी उपन्यास के विकास के साथ-साथ इस सैद्धान्तिक मान में भी परिवर्तन होता है। आलोचना का उद्देश्य जब स्थिरीकरण की मान्यता में अक्षांश और देशान्तर की रेखाएँ खींचना हो जाता है तब एक जटिल और अनचाहा परिणाम सामने आता है। अपनी वैचारिक दृष्टि को आधार मान कर यदि निष्कर्षों के स्तम्भ स्थापित कर दिये जाते हैं तो असंगति की भूमिका में सृजन का भविष्य धूमिल हो जाता है। इसलिए परिवर्तनशीलता युगीन परिप्रेक्ष्य में विचार

बोध की शर्त होनी चाहिए। कुछ अथर्वणी आलोचकों ने मनमाने ढंग से अपनी बातें कही हैं। उनके अनुसार 'गोदान' के पश्चात् हिन्दी में उपन्यास लिखे ही नहीं गये। ऐसे मत्सरी वृत्ति के लोगों में सदैव अपरकिन की न्यूनता रही है। यही कारण है कि वे और उनका एकांगी दृष्टिकोण बहुत पीछे छूट गया है।

युग सापेक्ष विचार-बोध कभी भी दूषण नहीं माना जा सकता। मैं इस बात पर अधिक बल नहीं देता, कि चरित्र, कथोपकथन और शैली आदि तत्त्व निरर्थक और निष्प्रयोजन हैं, किन्तु यह बात एकान्ततः स्पष्ट है, कि इन शीर्षकों के आगे भी कुछ शीर्षक बने हैं या बनाये जा सकते हैं जो नये युग की देन हैं। प्रारम्भिक प्रयास वाले उपन्यासों में उनकी गन्ध नहीं मिलेगी। 'गोदान' के रचना-काल में हिन्दी उपन्यासकार का दृष्टिबोध जिस स्तर का था आज उससे कुछ भिन्न है। इसलिए विचार करने का मानदण्ड सर्वथा एक जैसा नहीं होना चाहिए।

अपनी कला के सम्बन्ध में कुछ कहने में हिन्दी के उपन्यासकारों ने कुछ कम दिलचस्पी दिखायी है। यह बात ऐसी है जिसे साहित्य का इतिहास कभी भूल नहीं सकता। अपनी शिल्पगत मान्यताओं का लेखा-जोखा यदि विस्तार से मूर्धन्य उपन्यासकारों ने दे दिया होता तो आज उपन्यास के प्रसंग में विचार करने का ढंग कुछ और होता। युग चला गया जब साहित्य को मनोरंजन का साधन माना जाता था।

मनोरंजन, रूप-वय के मान, कहानी, चरित्र, संवाद, शैली और कथा-सूत्र का ऐक्य विधान प्राय प्रत्येक उपन्यास में मिल जायेंगे। इससे यह निष्कर्ष निकालना अत्यन्त भ्रामक है, कि ये तत्त्व उपन्यास के लिए अनिवार्य हैं। मेरे विचार से लेखक को स्वच्छन्दता पूर्वक विहार करना चाहिए। बँध कर चलने से एक हीन दृष्टि का सामना करना पड़ता है जो कला को प्रथम श्रेणी नहीं पाने देती। जोजेफ कानरॅड का विचार अपने में कितना निराला है, कि 'उपन्यास लेखन में प्रथमतः कथा पर विचार होना चाहिए। उसके बाद फिर उसी पर विचार होना चाहिए।'

समय-सीमा, वैचारिक बोध, एकरूपता, वर्णनात्मकता, चेतना-प्रवाह, आंचलिकता आदि तत्त्वों को ध्यान में रखकर लिखे गये उपन्यासों पर इसी दृष्टि से विचार होना चाहिए। समय यह भी था, जब लेखक को पाठकगण का ध्यान रखना पड़ता था। अब तो कुछ स्वयं सोच समझ कर, कुछ अन्य लेखकों का प्रभाव ग्रहण कर हिन्दी के उपन्यासकारों ने लेखन के तमाम दरें ढूँढ निकाले हैं। यद्यपि विशुद्ध रूप से कलात्मक अभिव्यक्ति वाली कृतियाँ बहुत कम हैं; किन्तु प्रयोग की दृष्टि से अनेकरूपता लाने में सजगता का परिचय मिलता है। पाठ्यक्रम में आने वाले उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया पर प्रकाशक और लेखक का परस्पर सलाप सुनने का अवसर मुझे मिला है। रोमांस की चासनी हो पर सूखी हुई होनी चाहिए जिसका आस्वाद केवल अध्यापक ले सकें। विद्यार्थी के चरित्र पर गलत प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। बीच-बीच में महापुरुषों और सन्तों के विचार होने चाहिए जिससे उपन्यास का शाकाहारी (वेजिटेरियन) स्तर बना रहे। जीवन में संघर्ष करते-करते अन्त में

न यह तो तेल पेरने का कोल्हू लगा लेना चाहिए और नायिका को मियामुकुनागो के आदर्शों का अनुकरण करना चाहिए। यह कथा लम्बी है। सामान्यरूप से जनता में ये उपन्यास नहीं पढ़े जाते। इन्हें पढ़ते हैं आज के छात्र और कल के कर्णधार। रोमान्स केवल उपन्यास का ही नहीं अपितु जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। जो लोग हठपूर्वक त्याग की नदी के किनारे समाधि लगा कर रोमान्स के विरोध में महामारण मंत्र जपते हैं वे अपनी द्वैत स्थिति के मोह में सहजता और स्वाभाविकता को नहीं समझ पाते हैं। वस्तुतः साहित्य के किसी भी प्रसंग में अतिवाद की स्थिति अत्यन्त भयावह है, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से सुई का काम तलवार नहीं कर सकती। साहित्यकारों में अत्यागमन का रोग मूलबद्ध हो गया है। यही कारण है, कि अहरह साहित्यकार लोक जीवन से दूर होता जा रहा है। कहाँ तक पीछे हटेगा, कहा नहीं जा सकता।

यदि पाठक सौन्दर्यानुभूति के समय अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त हो जाय तो उसकी रुचि में सार्वकालिक और सार्वजनीन भाव आ सकते हैं। किन्तु ऐसे उदाहरण मिलने कम हैं। परख की निरमंगता श्रेष्ठ है पर उसे प्राप्त करना बड़ा कठिन है।

सन्तुलित अनुभूति और चेतना का तत्त्व पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करता है। मर्यादाओं के आगार में बन्द रहने वाले 'बेचारे' भी सहज के प्रति आकर्षित होते हैं। युगों पुरानी रूढ़ियों को अलंकार-मंजूषा समझ कर ढोने वाले भी अपने एकान्त में स्वाभाविक को 'ठीक' कह कर पुकारते हैं।

जब हिन्दी उपन्यास समाज को छोड़ कर परिवार में घुसा और फिर व्यक्ति के मन की पर्तों को पढ़ने लगा तब कुछ नयी बातें देखने में आयी। 'वे दिन' (निर्मल वर्मा), 'दो हथेलियों का पुल' (कृष्णनन्दन पीयूष) 'मछली मरी हुई' (राजकमल चौधरी), 'पानी के प्राचीर' (रामदरश मिश्र), 'बाण भट्ट की आत्म कथा' (हजारी प्रसाद द्विवेदी), 'चलते-चलते' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी), 'शहर में घूमता आइना' (उपेन्द्रनाथ अश्क) तथा 'जहाज का पंछी' (इलाचन्द्र जोशी) आदि कृतियों की वैयक्तिकता देख कर एक नयी आशा बँधती है। लगता है कि अन्तर्मन के गहन कान्तार को कलाकार की सारग्राही दृष्टि ने बहुत समीप से देखा है। देखिए जोशी जी क्या कहते हैं—'सब ओर जीवन अरक्षित और अव्यवस्थित है। सब के मन के अणु बिखर कर छितरा गये हैं।' जिस प्रकार सामाजिकता की भावना चित्रण के आधार पर कभी उपन्यास का तत्त्व बन गयी थी उसी प्रकार वैयक्तिकता के साथ भी हुआ था। अपने विचारों का कैनवेस बड़ा न करके जब एक ही व्यक्तित्व की गहराई पर विचार होने लगा तब वैयक्तिकता की बात अधिक मुखरित हुई।

नाटकीयता का तत्त्व भी उपन्यास के अन्दर एक नयी दिशा की खोज है। कमलेश्वर रचित 'खोया हुआ आदमी' और सन्हैयालाल ओझा के 'सिन्धु सीमान्त' में पग-पग पर नाटकीयता मिलती है। संवाद लेखन का कौशल जिस सीमा तक किसी लेखक में होगा, वह नाटकीयता से युक्त उपन्यास लेखन में उसी सीमा तक

सफल होगा। प्रतिभा और प्रयास के संयुक्त प्राकलन से कलात्मक अन्विति का रूप स्थायी बन जाता है। सिनेमा टेलिविजन और रेडियो के प्रभाव से नाटकीयता प्रधान उपन्यास रचना का चाव लेखकों में बढ़ा है, किन्तु कोई ऐसी उपलब्धि नहीं दिखायी पड़ती जिससे इस कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रति हम आश्वस्त हो सकें।

तत्व के सन्दर्भ में अब यह प्रश्न उठाना अनावश्यक है कि किसी औपन्यासिक कृति में वस्तु का स्थान सर्वोपरि होता है अथवा चरित्र का? देश काल, शैली अथवा संवाद पर इतना अधिक कहा गया है, कि अब और कुछ कहने की इच्छा नहीं होती। कभी-कभी व्यक्तिपरक की गयी आलोचनाएँ अधकचरे चिन्तन और मात्सर्य भाव के कारण बड़ी भ्रामक स्थिति पैदा कर देती हैं। जून सन् १९५२ में साहित्य संदेश में एक लेख प्रकाशित हुआ था—'हिन्दी के विश्लेषणवादी उपन्यासकार और उनकी प्रवृत्तियाँ'। लेखक थे कृष्ण वल्लभ जोशी। जुलाई १९५२ के 'प्रतीक' (सम्पादक: स० ही० वात्स्यायन) में इस लेख की चर्चा की गयी थी और आलोचना अच्छी बुरी होने की पहचान का भार पाठकों पर छोड़ दिया गया था। वस्तुत आलोचक का काम यह नहीं है, कि वेमें बाजी कर के किसी कलाकार की उपलब्धि का धूमिल नक्शा जन सामान्य के सामने पेश करे।

पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में भी यह बात साफ उभरती है कि वैभवशाली और धन-सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा सिद्धान्तों की निर्मिति अपने इष्ट पथ पर ध्यान लगाये रहती है। यही बात सर्वहारा वर्ग के सम्बन्ध में कही जा सकती है। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के मौलिक सृजन में यह अन्तर दिखायी पड़ता है उसी प्रकार आलोचना में भी। परम्पराओं, धार्मिक विश्वासों और रूढ़ियों को मानने वाला उपन्यासकार ट्रालप अपने उपन्यास की परिभाषा बताता है—'युवक और युवतियों के मनोरंजन के लिए साधारण जीवन का ऐसा चित्र जिसमें हास्य का पुट और करुणा की मिठास हो।' यह प्रभाववादी दृष्टिकोण हास्य और करुणा को तत्व के रूप में स्वीकार करता है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर दर्शन और इतिहास का पुट उपन्यास में तत्व बन कर आता है। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में कहीं-कहीं सप्तभंगी न्याय का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। सामाजिक अनुकूलता के विश्लेषण के लिए धारणाओं की प्रतीति के प्रसंग में इतिहास और दर्शन बाधा नहीं पहुँचाते।

उपन्यास की रचना में नये-नये तत्वों की खोज की जा सकती है; किन्तु खतरा वहीं पैदा होता है जहाँ लेखक लोक जीवन से कट कर केवल अपनी बात करने लगता है। चरित्रों के विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति, उनके विकास के मनोवैज्ञानिक सोपान, गहरे पैठ कर अन्तर्दर्शन की शक्ति लेखक को प्रौढ़ बनाती है। अपने पाठकों अथवा सामान्य जन समुदाय को संक्रमित करने के लिए कलाकार अपनी अनुभूत सामग्री और कला का सहारा लेता है। वस्तु तत्व की श्रेष्ठता कला को भी श्रेष्ठ बनाती है—यह मान्यता पुरानी है। सत्य का कलात्मक निरूपण (जो अति काल्पनिक

न हो) जब यथार्थवादी बन कर लोक-दृष्टि का विषय बनता है तब कला की आयु बढ़ जाती है।

हिन्दी उपन्यास : प्रथम प्रयास

किसी भी भाषा के साहित्य की जो प्रारम्भिक अवस्था होती है हिन्दी उपन्यास का आदि रूप भी कुछ वैसा ही है। अंग्रेजो का भारत आगमन, प्रेस की सुविधा, विज्ञान की रोशनी तथा लेखकों का प्रयास उपन्यास को समय और प्रेरणा के अनुकूल प्रभावित करता रहा। 'भाग्यवती' (श्रद्धाराम फुल्लौरी) का प्रकाशन सन् १८७७ ई० में हुआ था। लाला श्री निवासदास का 'परीक्षागुरु' सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। 'भाग्यवती' को उसका लेखक 'पोथी' मानता है। उद्देश्य भी स्पष्ट था—'भारत की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।' सुधार की दृष्टि से जहाँ तक स्त्रियों के उत्थान का प्रश्न है, यह उपन्यास युगीन परिप्रेक्ष्य में एक नया और पहला प्रयास था। इस रचना का ध्येय आदर्शवादी है। यथार्थ का पल्लवग्राही चित्रण उन्ही पाठकों के मन को छूता है जिनका बौद्धिक विकास का स्तर कम होता है। 'परीक्षागुरु' (लाला श्री निवास दास) 'नूतन चरित्र', 'रत्नचन्द प्लीडर' 'श्यामा स्वप्न' (जगमोहन सिंह) 'तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' (बालकृष्ण भट्ट) उस युग की विशिष्ट कृतियाँ हैं। सर्वाधिक लिखने वाले लेखक थे किशोरी लाल गोस्वामी जिनका दृष्टिकोण परम्परावादी था। उनके चित्रण में कोई क्रान्तिकारी दृष्टिकोण नही उभरता। पराधीन भारत का सही मानचित्र आँखो के सामने नहीं आता। उनके दकियानूसी विचार इस बात की ओर संकेत करते हैं कि विज्ञान और मनोविज्ञान से लेखक पूरी तरह अनभिज्ञ था। गोस्वामी जी ने कुल साठ से अधिक उपन्यास लिखे। कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से सारे उपन्यासों में शिथिलता व्याप्त है। भाषा की बनावटी स्थिति इतनी अखरती है, कि उपन्यास बन्द कर देने को मन कहता है। 'स्वर्गीय कुसुम', 'लावण्यमयी', 'चपला,' तथा 'चन्द्रावली' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनका आकार बहुत बड़ा नहीं है।

गोपालराम गहमरी जासूसी उपन्यासो के विधाता हैं। गोस्वामी जी १६२२ ई० के आस-पास तक लिखते रहे। गहमरी जी ने १६१४ ई० से लिखना प्रारम्भ किया। तमाम सारे उपन्यासों का नाम गिनाना ठीक नहीं होगा। इतना सकेत पर्याप्त है, कि प्रथम प्रयास का समय सारे संसार के साहित्य मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। युग से उस समय के उपन्यासकार का कोई सरोकार नही था। गहमरी जी की ऐसी कोई उपलब्धि नही है जिसके आधार पर शिल्प-विधान और वस्तु-विन्यास को ध्यान मे रख कर उन्हें साहित्यिक कृतियों का रचयिता कहा जा सके। मानव की महज जासूसी प्रवृत्ति को पहचान कर गहमरी जी ने उपन्यास लिखे। यद्यपि वे साहित्यिक कृतियाँ हिन्दी उपन्यास साहित्य को नहीं दे सके किन्तु हिन्दी भाषी जनता में उन्होंने उपन्यास के पाठक पैदा किये। तिलिस्मी उपन्यासों की रचना में किसी भी प्रकार का अनजानापन नही था। देवकीनन्दन खत्री ने इस तथ्य को स्वीकार किया

है। 'तिलिस्म होशरुबा' की प्रेरणा से जन्मी कृति 'चन्द्रकान्ता' इस बात का प्रमाण है। लोकप्रियता में बाबू देवकीनन्दन को कोई उपन्यासकार नहीं पाता। वैचारिक धरातल पर लोकप्रियता वाली बात 'बयानों' में लुप्त हो जाती है। इन कृतियों का महत्त्व 'प्रथम प्रयास' होने के नाते अधिक है। इनके पढ़ने से 'टाइम' अच्छा कटता है। अनोखी बात तो यह है, कि अज्ञान का पर्दा हट जाने के बाद, विज्ञान का प्रकाश चतुर्दिक् फैल जाने के अनन्तर भी 'भूतों' और 'वैतालों' के पाठक अधिक हैं। लेखकीय और प्रकाशकीय दोनों स्तरों पर अनुत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से सारा काम होता है। व्यावसायिकता इतनी अधिक बढ़ी है, कि लोकपक्षीय और सारी बातें पीछे छूट गयी हैं। हिन्दी के उपन्यास साहित्य के जिस हाशिए पर बाबू देवकीनन्दन खत्री खड़े हैं वह यात्रा का एक नया और महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। उनकी रचना प्रक्रिया से लाभ-अलाभ एक साथ हुआ है। पाठकों के रुचि-परिवर्तन की बात लाभ के संदर्भ में सोची जा सकती है; किन्तु उपन्यास के आकाश को ऐय्यारी के धुएँ से घेरने का जो काम हुआ है वह साहित्यिक दृष्टि से हानिप्रद है। सन् १९०६ ई० आते-आते देवकीनन्दन खत्री का रचना-काल समाप्त हो जाता है और वे अपनी कृति 'भूतनाथ' साहित्य को भेंट कर आगे बढ़ जाते हैं।

लज्जाराम शर्मा, ब्रजनन्दन सहाय, जयरामदास गुप्त आदि उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में रोचकता को प्रथम स्थान दिया। भाषा की सरलता से इनके उपन्यास सामान्य जनता में विश्रुत हुए। वस्तु और शिल्प का रूप कुछ सँवरा अवश्य; किन्तु प्रेमचन्द तक हिन्दी उपन्यास की गतिविधियों में कोई मोड़ नहीं आया। यह बात दूसरी है, कि हरिऔध और राधाचरण गोस्वामी के शिल्प में पर्याप्त अन्तर था पर प्रकृति और परिवेश अपने स्थान पर स्थिर रहा। इस स्थिति में कोई नयी आशा नहीं बँध सकी। इतना काम अवश्य हुआ, कि तिलिस्म के स्थान पर समाज आ गया। लेखकों ने समाज की नसें पहचानीं। विधवाओं के आँसू और निर्धनों की रूखी सूखी रोटियाँ विचार और कल्पना का आधार बनने लगीं। विषमता का जो जहर समाज की नसों में व्याप्त हो गया था, उसकी ओर ध्यान देकर उपन्यास को नयी दिशा दी गयी। धीरे-धीरे वैचारिक पृष्ठभूमि मिलने लगी। प्रेमचन्द के आते-आते सैकड़ों उपन्यास ऐसे लिखे गये जिनकी उद्देश्यपरकता समझ में आती थी। आकलित समष्टि का जो रूपक बाँधा गया उसमें प्रतिशयता अधिक थी, किन्तु बौना प्रयास नयी रोशनी का आधार बन गया। वास्तव में नयी क्रान्ति के आह्वान के लिए जिस जमीन की जरूरत थी वह प्रेमचन्द जी के पूर्व ही मिल गयी थी। उस अन्तराल में कोई विचक्षण प्रतिभा वाला लेखक नहीं पैदा हुआ जो धारा को एक नयी दिशा देकर सर प्रान्तर को हराभरा बनाता।

कल्पना, सामाजिकहीनता, दारिद्र्य और परतन्त्रता जैसे विषयों को आधार तो बनाया गया, किन्तु ऐय्यारी की खुमारी से छुटकारा पाना मुश्किल हो गया। दृष्टिबोध की गंभीरता का एक रूप स्पष्ट उभरा, किन्तु प्रतिभा की अनुपस्थिति में

कल्पना भी अपना करिश्मा न दिखा सकी। इस काल की कृतियों को पढ़ने से ऐसा लगता है, कि लेखकों में नये क्षितिज की संभावनाओं की ओर बढ़ने की ललक थी, किन्तु घने नीहार को भेद कर बाहर आना कठिन काम था। रामचरित उपाध्याय, मन्नन द्विवेदी, मिश्रबन्धु, बांकेलाल चतुर्वेदी, राधिकाप्रसाद सिंह तथा किशोरीलाल गुप्त आदि उपन्यासकार अपने 'प्रथम प्रयास' में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस युग की धार्मिकता और नैतिकता की भावना समूचे साहित्य पर व्याप्त है। यह रोग यहाँ तक बढ़ा कि अपने सक्रामक रूप मे साहित्य की मूर्ति के ऊपर सुधारवाद का रोगन चढ़ा गया। प्रथम महायुद्ध के समय के आस-पास भारत की राजनैतिक गतिविधियो में परिवर्तनकारी दृश्य दिखायी पड़ रहे थे। जागरण और आलस्य के संघर्ष में कुछ नयी बातें उभर रही थी। उपन्यास-क्षेत्र मे 'भारतमाता' (ले० हरस्वरूप पाठक) का प्रकाशन साहित्यिक जागरूकता का पुष्ट प्रमाण है। यह बात कुछ असगत सी लगती है, कि युग और परिस्थिति सापेक्ष रचनाओं का अभाव रहा। किसी भी काल का साहित्य अपने में पूर्ण नहीं होता। संभव है किसी विशेष दृष्टिकोण से उसमे कमी हो क्योंकि युगीन प्रभाव विशेष मुखर होता है।

उपन्यास की सर्वथा नवीन उपलब्धि से हिन्दी जगत वंचित रहता था। अंग्रेजी पढ़ना अधिकांश पाठकों के लिए समस्या थी। और अंग्रेजी तो हिन्दुस्तान मे एक वर्ग विशेष की भाषा है। उस समय से लेकर आज तक अंग्रेजी साहित्य के पाठको के मन में हिन्दी के प्रति एक हीन भावना घर कर गयी है। इस बात का प्रभाव हिन्दी के मौलिक साहित्य पर पड़ा है। विचारणीय विषय यह है, कि साहित्यिक कृतियो के प्रकाशन के बावजूद भी रोमाण्टिक, जासूसी और हल्के मनोरंजन के लिये लिखे गये उपन्यासो का विक्रय बहुत अधिक होता है। इसे हमे हिन्दी का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। सन् संतालीस के पूर्व की स्थिति को गुलामी की आड़ मे हम नकार जाते है; किन्तु बाद की दशा का वर्णन भी किसी से करने योग्य नहीं। स्वतन्त्र भारत में करोड़ों की संख्या में ऐसे लड़के और लडकियाँ हैं जो अब भी अशिक्षित हैं, निरक्षर है। सरकार कुछ नहीं कर सकी। अभिभावक असमर्थ था। इस समर्थता और असमर्थता के संघर्ष में जिनका बचपन निरक्षर रहा उनकी जवानी भी वैसे बीत रही है। बुढ़ापे मे मौत के दिन गिने जायेंगे कि अक्षर-बोध का सामान जुटाया जायगा।

कुछ विषयान्तर हो गया हैं। 'प्रथम प्रयास' के सम्बन्ध मे केवल इतना और कहना है, कि प्रारम्भ बहुत निराशाजनक नहीं रहा। जब किसी भाषा का व्याकरण अपनी 'अनिश्चित-स्थिति' मे हो, गद्य-शैली का विकास सोया हुआ हो, नवीन प्रयोगों पर 'दचकाना' होने का आरोप लगाया जाता हो, उस समय मौलिक रचनाओं का मूल्यांकन युगीन सन्दर्भ मे किया जाना चाहिए। 'प्रथम प्रयास' के समय उन्नयन की प्रस्तावना अपनी असंगतियों और कमजोरियों के होते हुए भी बड़े काम की है।

नयी दिशा

हिन्दी उपन्यास के नये क्षितिज का उद्घाटन मुंशी प्रेमचन्द के आगमन के साथ होता है। उर्दू साहित्य से हट कर हिन्दी में उनका आना एक प्रयोग और सयोग था। उनकी पहुँच क्रान्तिकारी थी। इसलिए पृष्ठभूमि को मोड़ने में वे सफल रहे। जीवन संघर्ष से हट कर साहित्य-रचना की बात करना उनके लिए ढोंग था। शैली की रोशनी का जो फोकस युग पर पड़ा उसकी किरणें आज भी अस्तित्वहीन नहीं हैं। कलात्मक विन्यास के साथ अनुभूति का रूप एक ओर समाज की नयी और सही तस्वीर बन कर आया दूसरी ओर आगे की पीढ़ी को नयी दिशाओं का बोध कराया गया।

उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द के उदय के समय समाज की दशा में हीनता की भावना घर कर गयी थी। व्यवस्था के सारे बोल्ट ढीले हो चले थे। जमींदारों के जुल्म का लेखा-जोखा लगाना तो कठिन है पर इतनी बात स्पष्ट है, कि जिस तरह अंग्रेजों ने देश को खोखला बनाया था उसी प्रकार व्यक्ति को, उसके जीवन को खोखला करने में जमींदारों का हाथ था। शासकों को अपना उल्लू सीधा करना था। इसीलिए वे इस पचड़े में क्यों पड़ते। फलतः भवन की नींव और दीवालें एक साथ कमजोर हुईं। मुगल काल में यदि कभी अपना शौक पूरा करने के लिए लोक पक्ष की ओर साहित्यकार ने सकेत से स्वर साधा तो धर्म ने तुरन्त उसे अपनी ओर खींच लिया। 'बेचारे' कवि पूर्व मध्य काल में अपने 'राम' और 'कृष्ण' की गाथा गाने में ही तल्लीन थे। उत्तर काल में साहित्य लोकांचल से हट कर दरबारी हो गया। वैश्य संस्कृति में पले होने पर भी भारतेन्दु ने विभिन्न साहित्यिक विधाओं के माध्यम से गुलामी के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया। 'सकेत' उनके साहित्य का अलंकार था। युग-चेतना की प्रसुप्ति देखने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ही पर्याप्त होगा। जिस समय अमेरिका और रूस वाले मंगल और चन्द्रलोक की यात्रा कर रहे हैं उस समय हिन्दुस्तान के लोग भ्रष्टाचार निरोधक आन्दोलन चला रहे हैं। जब चीन अपनी सीमाओं को दृढ़ कर रहा है तब अपने देश में लूप और नसबन्दी के माध्यम से परिवार नियोजन किया जा रहा है।

कविता, निबन्ध और नाटक के माध्यम से भारतेन्दु ने नव जागरण के जो सन्देश दिये थे वे पुनर्जागरण काल की कविताओं में गूँजने लगे थे। विज्ञान की प्रगति, प्रेस की सुविधा और वैचारिक वातावरण के कारण गद्य का जो विकास हुआ उसमें भी वही नवचेतना युगव्यापी स्तर पर आयी। कहने की आवश्यकता नहीं, कि यह काम प्रेमचन्द के पहले नहीं हुआ। विधवा विवाह, परस्त्री गमन, बाल विवाह, आदि समस्याओं पर आधारित वैयक्तिक चेतना से युक्त उपन्यासों की जो रचनाएँ हुईं उनका दायरा पाठकों के खाली समय तक ही सीमित रहा।

प्रेमचन्द जी का समय क्रान्ति यानी नयी दिशा का समय था। काव्य-क्षेत्र में प्रसाद जी, आलोचना और निबन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं उपन्यास और

कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द जी ने नये क्षितिज की खोज की। इन तीनो साहित्यकारो को असली नकली की पहचान थी। क्या ही अच्छा होता यदि प्रेमचन्द के दिशा निर्देशन के आधार पर नेहरू ने भारत के भविष्य का सपना देखा होता। खेतिहर देश मे नगरो के सुधार और उनकी उन्नति को प्राथमिकता देने से जो दुष्परिणाम हमारे सामने आये हैं, वे अभी कम है। अभी और भी कुछ होना है। राजनीति के आडम्बर ढोने वाले पुजारियों को लोकव्यापी हीनता का, आन्तरिक अकिञ्चनता का, अधोगामी स्थिति का सही पता कम होता है। उनके कैमरे मे सही तस्वीर भी गलत हो जाती है। सारे निगेटिव धुंधले हो जाते हैं।

प्रेमचन्द जी की साहित्य साधना मे ईमानदारी थी, उद्देश्य था। जीवन से अलग हट कर साहित्य को समझने का प्रयास उन्हो ने नही किया। यद्यपि मेरे विचार से उनका आदर्शवादी रूप ही अधिक उभर कर आया पर यथार्थ की दृष्टि भी समाज को उन्ही के माध्यम से मिली। अपने अन्दर सारा कलुष छिपा कर बाहर से नैतिकता की ठेकेदारी उनके साहित्य मे नही मिलती। उनके लेखन ने हिन्दी उपन्यास में नयी क्रान्ति भर दी। देखने का कोण बदल गया। इन्सानियत की खोजबीन गाँव में होने लगी। एक प्रभावशाली धरतीपुत्र की हैसियत से उन्होने धरती की तस्वीर खींची।

सामाजिक गतिरोधो को पी जाने वाला साहित्यकार क्रान्ति का नारा अवश्य लगवा सकता है, किन्तु सबके सामने जनजीवन के व्यतिक्रमो का विरोध नहीं कर सकता। क्योकि इसके पीछे पूंजी का हाथ रहता है। आज तो प्रत्येक क्रिया-कलाप पर पूंजी की सभ्यता की छाप है। सन् ४७ मे समझौता-स्वराज्य का जो ढोंग गांधी जी के लिये चरम उपलब्धि बन गया वह पूंजी के हाथो बिक कर वर्तमान पीढ़ी को अपाहिज और पंगु बना रहा है। प्रेमचन्द जी योद्धा की भांति समस्याओ से लड़ते रहे, जूझते रहे। रूसी कथाकार फादएव की भांति उनके मन में आत्म-हत्या की बात कभी नहीं उतरी। साहित्य को जनता से सम्पर्कित करने का प्रयास नयी दिशा का क्षितिज खोल गया। 'लोक की भूख', 'कोरा गर्जन तर्जन' 'वर्तमान का अभिव्यक्तीकरण', 'महायुद्ध की प्रेत छाया', 'फासिस्ट तानाशाही', 'साम्राज्यवादी प्रति-द्वन्द्विता', 'मेहनत और मजूरी', तथा 'समाज में व्याप्त असामाजिक घृणा' को प्रेम-चन्द जी ने पास से देखा।

कथ्य का बोध, सत्यवादिता, सहज और उपलब्ध का रूपांकन जितना स्वाभाविक रूप मे प्रेमचन्द जी मे मिलता है उतना उनके खेवे के अन्य उपन्यासकार मे नही है। नाम गिनाने की आवश्यकता नही; किन्तु यह बात बिल्कुल साफ है, कि विस्तार और गहराई दोनो दृष्टियो से प्रेमचन्द जी से उनके स्कूल के प्राय सभी उपन्यासकार प्रभावित हुए। वैयक्तिक सम्बन्धो की उलझी-सुलझी कहानियाँ, मनो-वैज्ञानिक तथ्यों की जाँच-पड़ताल, एवं गाँव और शहर का विचार-बोध प्रेमचन्द के दायरे के बहुत बाहर नही गया। अलग-अलग दिशाओ की उपलब्धि की अनेकरूपता

प्रत्येक रचनाकार की किसी भी विशिष्ट कृति में दिखायी देती है। जो उपन्यासकार प्रतिभा को ईश्वरीय देन समझ कर रचना में लगे रहे उनकी उपलब्धियों का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया; किन्तु जिन्होंने कर्मवादी आधार लेकर कल्पना को साधन-मात्र मान कर लिखा वे निरन्तर विकास के पथ पर बढ़ते गये।

प्रेमचन्द जी के समय में साहित्य का सम्बन्ध समाज से जोड़ कर रचनाकार ने मानव को वैयक्तिक धरातल से हटा कर सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। 'युग की माँग', 'प्रतिभा का वरदान', 'तदात्मान सृजाम्यहम्' आदि गुस्ताख फिकरे हैं। 'यह होने वाला है', 'वह होने वाला है' की प्रतीक्षा में समाज का, वर्ग का और राष्ट्र का बड़ा अहित होता रहा है। आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ को समझने की दृष्टि हिन्दी उपन्यासकारों को प्रेमचन्द से मिली। जिस समय मुंशी प्रेमचन्द ने यह सुना कि प्रसाद जी ने 'कंकाल' लिखा है, वे प्रसन्नता से झूम उठे। पढ़कर बड़ी सराहना की थी। कहा करते थे वे, कि जो साहित्यकार अपने वर्तमान को नहीं देख सकता वह अतीत को क्या देखेगा।

इन सारी स्थापनाओं और प्रतिपत्तियों के बावजूद भी प्रेमचन्द जी के समय में भावनावादी रचनाओं का सृजन किया गया। समाज की यथार्थ तस्वीर उतारने वाले उपन्यासकारों ने भी भावनावादी रचनाएं दीं। इसी युग में जैसे-जैसे व्यावसायिकता बढ़ती गयी, फार्मूलों के आधार उपन्यासों का सृजन होता गया। प्रकाशक टेक्नीक और नाम सुझाने लगा। अपने को धुरंधर कहने वाले उपन्यासकारों ने धन की ज्वाला में कला की आहुति दे दी। उन्हें अच्छे दामों बिकना पड़ा।

प्रेरणा की दृष्टि से अंग्रेजी और फ्रेंच के उपन्यासों का प्रभाव ग्रहण कर कुछ उपन्यासकारों ने एकदम नयी चीज प्रस्तुत की किन्तु कुछ उपन्यासों में उधार सामग्री का पता आसानी से लग गया। फ्रायड के अध्ययन से जहाँ एक ओर बन्द दरवाजे खुले वहीं दूसरी ओर एक अहित यह हुआ, कि समाज से हट कर उपन्यासकार की खोज व्यक्ति पर सीमित हो गयी। कुछ समय के पश्चात् ऐसा प्रतीत हुआ जैसे सब कुछ चुक गया है। अन्तर्मन की विभिन्न वीथियों का पता लगाते-लगाते उपन्यास व्यक्ति केन्द्रित होता गया। सामाजिक बोध के जोखिम से लोग बचने लगे। एक चरित्र पकड़ कर उसी में अपनी प्रज्ञा की उपलब्धि भर कर संतोष किया जाने लगा। युग-बोध की पकड़ ढीली हो जाने पर सर्वत्र लक्ष्यहीनता दृष्टिगोचर हुई। ऐसा कुछ लगने लगा कि 'गोदान' के प्रकाशन के बाद कुछ शेष नहीं बचा जिसे लिखा जाये। सन् १९४७ ई० में समग्रोन्नेते की आजादी मिलने पर जैसे समूचा समाज विश्रामरत हो गया, या फिर जागा तो अपना पेट भरना और कुर्सी बचाना ध्येय बन गया, वैसे ही साहित्यिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में भी हुआ। अनुभूत सत्य को, भोगे हुए जीवन को, समाज की कमजोरियों और मजबूरियों को प्रेमचन्द स्कूल के उपन्यासकारों ने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्त किया।

प्रेमचन्द के बाद

सन् १९३६ ई० में प्रेमचन्द जी दिवंगत हुए। ठीक ग्यारह वर्ष बाद भारत को तथाकथित आजादी मिली। दिल दहलाने वाले रक्तपात की स्मृति लेकर पाकिस्तान के हिन्दू भारत की सीमाओं को लाँघ कर अन्दर आ गये। कुछ भारतीय मुसलमान पाकिस्तान चले गये। मेरा लक्ष्य घटी घटनाओं की तस्वीर प्रस्तुत करना नहीं है। युगव्यापी परिवर्तन का आकलन बिना घटनाओं का ब्योरा जाने सम्भव नहीं होगा। महायुद्ध, समाजवादी दृष्टिकोण, मनोवैज्ञानिक चिन्तन, कला का उपयोगितावादी रूप तथा शोषण का आतंक लेखकों के अध्ययन का विषय बना। मार्क्स 'गरीबों के मसीहा' के रूप में समाज में विश्रुत हुए। भारतीय समाज की नयी उपलब्धि के पीछे हिंसा, रक्तपात और जातीयता का इतना जोर रहा, कि घटनाएँ मानव के मन पर उभर आयीं और 'उपलब्धि' द्वितीय श्रेणी में रख दी गयी। प्रेमचन्द जी ने हिन्दी उपन्यासकारों को जो मार्ग दिखाया था उस पर चलने के लिए कुछ उत्साही लेखक तैयार तो हुए पर अपने बौने अनुभव और छोटे कनवेस के कारण जनता को प्रभावित न कर सके। प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यासकार योरोपीय साहित्य का प्रभाव बड़े चाव से ग्रहण करने लगे। भारतीय धरती और समाज से कट कर वैचारिक बोध मानसिक चेतना बिम्बों में उलझ गया। यह प्रवृत्ति ऐसी पनपी, कि पश्चिमी लेखकों और कवियों के उद्धरण अनूदित और मूल रूप में हिन्दी उपन्यासों में आने लगे। बौद्धिक परिक्षीणता यहाँ तक बढ़ी, कि सामान्य हिन्दी पढ़ीलिखी जनता और मुट्ठी भर शिक्षित कहे जाने वाले लोगों के लिए दर्शन का ऐसा घटाटोप बनाया गया जो विकास का सोपान न बन कर व्यवधान बन गया। लेखन का उद्देश्य लेखन हो गया। महायुद्धों के परिणाम-स्वरूप पश्चिमी देशों (इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली आदि) में व्याप्त निराशा, कुंठा आतंक, रिक्तता आदि का आयात भारत में अधिक मात्रा में हुआ। समस्याएँ रूस, चीन और जापान के सामने भी थीं, किन्तु यह सारा माल वहाँ नहीं पहुँच सका। पश्चिम का सब कुछ ले लेने की प्रवृत्ति के कारण संस्कृति और सभ्यता में जितना इजाफा हुआ उससे कम साहित्य में नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्र चेतना और मौलिक विचार शक्ति का उन्नयन कम हुआ। धारणाओं की प्रनीति के विरोध में यदि कोई स्वर आया भी तो पूँजीपतियों की पत्रिकाओं और उनके पालतू सम्पादकों ने उसे दबा दिया। नक़्लनवीसी का प्रतिवाद इतना बढ़ा, कि उससे प्रभावित होकर कुछ बूढ़े लेखकों ने प्रभाव पाने के लिए या कुछ सुपीरियर ग्रहण करने के लिए योरोपीय भाषाएँ सीखनी प्रारम्भ कीं।

इस प्रतिवादी वातावरण में भी कुछ लेखक अपने ढंग से आगे बढ़े थे। किन्तु उनके उपन्यासों को तथाकथित समर्थ अंग्रेजी परस्त हिन्दी पत्रिकाओं के सम्पादक अपनी अदा से देख कर आलोचना अथवा विचार-विमर्श के क़ाबिल नहीं समझते थे। एक रात में सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार बनने का नुस्खा ढूँढा जाने लगा। साधना से हट कर अनेक उपन्यासकार साधन खोजने लगे थे। सामाजिक अनुकूलता से विमुख

कथाकार बहुत कुछ रीतिकालीन रचनाकारों जैसा विचार-बोध लेकर रचना करने लगे। पूँजीपतियों का वर्ग राष्ट्रीयता और धार्मिक ठेकेदारी की ऐसी स्वांग-रचना की, कि सामान्य जनता के ऊपर उनका जादू असर कर गया। अब तो समाज के सामने कोई लक्ष्य नहीं था; क्योंकि गाँधी बाबा ने 'स्वराज्य' दिला ही दिया था। विस्थापितों ने बताया, कि उनकी जायदाद पाकिस्तान में छूट गयी। वहाँ वे जमींदार थे। इस असहाय स्थिति पर स्वतंत्र भारत की सरकार को तरस आया और सहायता की राशि में अधिकता हो गयी। जो कंगाल बन कर पाकिस्तान से आये थे वे दस साल में मकान मालिक बन गये। जो बी. ए. पास करके आये वे यहाँ एम. ए. बन गये। प्रमाणपत्र पाकिस्तान में छूट गया। अध्यवसायी थे। 'दंद फंद' कर लेते थे इसलिए पिछले कोटे को आगे पूरा कर लिया।

पंचवर्षीय योजनाओं की सुरसा ने अपना मुँह फैलाया। नहरों, सड़कों, पार्कों, भवनों और बाँधों का निर्माण होने लगा। भावुकता और चालाकी में नेताओं ने भाखरा नांगल को तीर्थ कहना प्रारम्भ किया। यह सारा टीमटाम शहरों के लिए किया गया। जहाँ रोशनी थी वहाँ और रोशनी हो गयी, जहाँ अँधेरा था वहाँ और अँधेरा हो गया। देश के नेताओं में माँगने की प्रवृत्ति बढ़ी। सरकार ने हिन्दुस्तान को 'बनाने' (?) के लिये प्रायः सभी देशों से ऋण लिया। गेहूँ और चावल माँगा। दूध के डिब्बे माँगे। सम्पन्न देशों ने अपने ब्लॉक में शामिल करने के लोभ से भारत की मदद की।

देश में एक ओर प्रकृति के प्रकोप से सूखा पड़ रहा था दूसरी ओर एक वर्ग 'गाय माता' की रक्षा के लिये उत्पात मचा रहा था। क्योंकि कांग्रेस अपने को स्वराज्य-प्राप्ति में सब कुछ समझती थी, इसलिए कुर्सी का पाया अधिक मजबूत समझा जाने लगा। यह भी कहते सुना गया है—'स्वतन्त्रता-प्राप्ति आन्दोलन में खून मैंने बहाया है तो ऐश कौन करे।' मैं यह कहने की आवश्यकता नहीं समझता कि गाँधी जी की मृत्यु के पश्चात् आजाद हिन्दुस्तान में क्लबों, होटलों, सेवासदनों (?) और एकान्त आयोजनों के माध्यम से सामन्तवादी वातावरण पुनः लौट आया। समूचा वर्ग गरीबी और बेकारी से मुँह मोड़ कर व्यक्तिगत ऐश व आराम में डूब गया। संघर्ष की जिम्मेदारी 'समय के मारे टूटों' पर छोड़ दी गयी। मजदूर और किसान को प्रश्रय नहीं मिला, शिक्षा नहीं मिली, तमीज नहीं सिखायी गयी, विकास का पथ नहीं सुझाया गया, मनोरंजन के साधन नहीं जुटाये गये फलतः खाली समय में उसने सेक्स को अपनी तृप्ति का साधन बनाया, जिसके कारण सरकार को नसबन्दी, लूप और परिवार नियोजन की योजना बनानी पड़ी। इन सारी परिस्थितियों से युगीन उपन्यासकार परिचित न रहा हो ऐसी बात नहीं है। वह प्रचार के पोस्टर देखता था। अखबार की न्यूज पढ़ता था। रेडियो के सम्प्रसारण सुनता था। जिस प्रकार स्वतंत्र भारत के नेताओं ने अपने लिए विलासिता के साधन जुटाये उसी प्रकार उपन्यासकार सोफा सेट, रेडियो, बँगला, कार और अन्य प्रसाधनों के चक्कर में घूमने

लगा। किसी ने सरकार के यहाँ नौकरी करली, कोई पूंजीपतियों की चाकरी करने लगा। उनकी कलम का तेज समाप्त सा हो गया। किसी को फुर्सत नहीं रही कि वह गन्दी गलियों, ढाबों और ग्रहातों को देखे अथवा गाँव गिराँव जाकर स्थिति का सही अध्ययन करे। स्वतंत्र भारत का अर्थशास्त्री वातानुकूलित कमरे में बैठ कर किसान के घर का बजट बनाने लगा, राजनीतिज्ञ संसद-भवन और विधान-सभा भवन में भारतीय संविधान की धाराओं का साम्य और विरोध ढूँढने लगा। उपन्यासकार कल्पना का सहारा लेकर अनुभूति की आवश्यकता न समझते हुए नकली आदमी और काल्पनिक समाज के चित्र खींचने लगा। प्रारम्भ में जिन्होंने कुछ जोश में अच्छा लिखा उनका उत्तरोत्तर ह्रास होता चला गया।

प्रेमचन्द के बाद के उपन्यासों में व्यक्ति के अन्तर्मन को समझने की ज्यादा कोशिश की गयी है। जहाँ कहीं समाज को, एक वर्ग को उपन्यासकार ने देखा है वहाँ उसकी ईमानदारी साफ समझ में आती है। उग्र, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अश्क, अज्ञेय और अमृतलाल नागर आदि में जहाँ एक ओर प्रस्तुतीकरण की नवीनता है वहाँ वह परिक्षीणता भी है जिसकी ओर पहले संकेत किया गया है। सियारामशरण गुप्त, यशपाल, राहुल, रागेय राघव, नागार्जुन और रेणु आदि में व्यक्ति और समाज को पास से देखने का चाव है। वस्तुतः प्रेमचन्द के बाद के युग में ऐसे कई उपन्यासों की सृष्टि हुई है जिनका न केवल युगीन महत्त्व है, अपितु आगे आने वाले समय में भी वे याद किये जायेंगे। किसी घटना को अथवा समय को कथा बनने में समय लगता है। उपलब्धि और परिवर्तन को ध्यान में रख कर यदि विचार किया जाय तो इस युग का सबसे अधिक महत्त्व इस परिप्रेक्ष्य में है, कि अभिव्यक्ति के अनेक दर्रे खोजकर उपन्यासकारों ने आगे कदम बढ़ाया। जीवन से अलग रह कर जीवन का अध्ययन किताबी हो जाता है। और कभी-कभी बड़ा गलत साबित होता है। जिस देश में भावाभिव्यक्ति पर पाबन्दी न हो उस देश के लेखक यदि आँख बन्द कर कलम घिसते रहें तो कोई स्मरणीय उपलब्धि दिखायी नहीं पड़ेगी।

और अब

समय के अनुसार देश और समाज की गतिविधियों में परिवर्तन होता रहा। स्वराज्य प्राप्ति का लाभ गाँधी के अनुयायियों ने खूब उठाया। आजाद देश के ठेकेदारों ने अपने मकान मजबूत बना लिये किन्तु उन्हीं की बनायी हुई सरकारी इमारत ने दम तोड़ दिया। जनता के सामने व्यापक स्तर पर योजना का जाल फैलाया गया। उद्योग धंधों का विकास प्रारम्भ हुआ। देश के कुछ भागों में 'विकास' पहुँचा और कुछ में विकास की बात भी नहीं पहुँची। एक ओर साम्प्रदायिकता का विष समाज की नसों में फैल गया दूसरी ओर जातिवाद के आधार पर चुनाव लड़ा गया। कचहरियों में भीड़ के कारण और छोटे-छोटे अधिकारियों के आलस्य और घूँसखोरी की आदत के परिणामस्वरूप न्याय मिलने में देर होने लगी। राजा महाराजा जमींदारी

समाप्त होने के बाद व्यापारी बन गये। कुछ कांग्रेस की कृपा के कारण विधान सभा और संसद में घुसने लगे।

चीन और पाकिस्तान की अनबन ने जनता में जोश पैदा किया। अपनी धरती की रक्षा के लिए समूचा देश व्यग्र हो उठा। इस व्यग्रता में ईमानदारी थी। प्रांतीयता का द्रोह, भाषा का झगड़ा, उत्तर दक्षिण एवं पूर्व पश्चिम का सवाल भारतीय जनता के सामने उभर करके आया। बड़े शहरों के विकास में अधिक ध्यान दिया गया; किन्तु कस्बों और छोटे नगरों की उन्नति उतनी नहीं हो सकी जितनी बीस-पचीस वर्ष में होनी चाहिए थी। कुछ प्रान्तों के गाँव उन्नत हो गये; किन्तु अधिकांश गाँव पहले जैसे ही बने रहे। यही बात शिक्षा की भी रही। किसी-किसी नगर में तीन-तीन विश्वविद्यालय हैं, किन्तु कुछ प्रदेश ऐसे भी हैं जहाँ प्रायमरी स्कूल के बच्चे महुए के पेड़ के नीचे पढ़ते हैं। कुर्सी पर बैठने वालों के पास इन प्रश्नों का उत्तर नहीं है। यदि किसी प्रदेश या अंचल का नेता मिनिस्टर हो गया तो वह अंचल सुधर गया अन्यथा अवनति के घेरे में पड़ा रहा। यदि किसी जाति विशेष का कोई व्यक्ति केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार का मिनिस्टर हो गया तो उसके विभागीय कर्मचारी उसी जाति के नियुक्त होने लगे। योग्यता पीछे छूट गयी संस्तुति और परिचय नौकरी के माध्यम बन गये।

ऊँची शिक्षा अनैतिकता का घर बन गयी। विभागाध्यक्षों और उपकुलपतियों के साथ सामान्य प्रवक्ता भी भ्रष्टाचार में शामिल हुए। सरकारी ब्लाक में निकले व्यक्ति उपकुलपति बनने लगे। भाईभतीजावाद के विषधर ने वातावरण को विषाक्त कर दिया। विश्वविद्यालयों में 'उसको उठाओ' 'इसको गिराओ' का षड्यन्त्र चलने लगा। कुछ शिक्षण संस्थान कारखाने की भाँति शिफ्टों में काम करने लगे फिर भी तमाम विद्यार्थियों को प्रवेश न मिलने से निराश होना पड़ता है। सामाजिक वातावरण में धूल भर गयी। शिक्षा, व्यापार, राजनीति धर्म और संस्कृति सभी क्षेत्रों का खोखलापन पूरे समाज पर प्रभाव डालने लगा।

परिवर्तन के नाम पर जितनी उन्नति हुई वह किसी प्रयास का परिणाम नहीं लगती। प्रतीत होता है समय बीतने के साथ परिवर्तन अपने आप आता गया है। धर्म और कर्म में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ गाँव के लोग ट्रांजिस्टर लटका कर चलने लगे, टेरिलीन और टेरिकॉट पहनने लगे। विश्वविद्यालय के स्नातक बाबू बनने में तल्लीन हुए।

स्त्री शिक्षा की ओर से सरकार एकान्ततः विमुख रही। इस क्षेत्र में कोई काम नहीं हुआ। देशवासियों में भी इस ओर कोई चाव नहीं दिखायी पड़ा। मिनिस्टर, नेता और अधिकारियों की लड़कियाँ शहर में पढ़ लेती हैं इसलिए उनके मन पर इस पिछड़ेपन का कोई बोझ नहीं है। पूरी पीढ़ी के अधिकांश सदस्य अशिक्षित हैं। इस पिछड़ेपन का पूरा उत्तरदायित्व सरकार पर है। अब समाज में धीरे-धीरे परिवर्तन के संकेत मिल रहे हैं। भ्रष्टाचारी व्यक्ति जनता की निगाह

में कब तक बचेगा। काम न करने वाली सरकार से जनता अच्छा बदला चुकाती है। राजनैतिक जागरण बढ़ रहा है। अब जनता में अपना अधिकार माँगने का शऊर आ रहा है। एक बार चुनाव में वोट देकर भारत की भोली जनता पाँच वर्ष तक डेढ़ रुपये किलो आलू खरीदने के पक्ष में अब नहीं है।

हिन्दी उपन्यासों की नयी खेप को देखने से जहाँ एक ओर आशा बँधती है वहीं दूसरी ओर निराश भी होना पड़ता है। जिन उपन्यासों में प्रकाशक की जिद आगे रही उनकी वस्तु पूरी तरह व्यावसायिक है। कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जिनका मैटर, अनुभूति और सामाजिक बोध सभी कुछ ईमानदारी की जमीन पर है। 'पानी के प्राचीर', 'बबूल', 'आधा गाँव', 'अलग-अलग वैतरणी', 'मछली मरी हुई', 'कालेज स्ट्रीट के मसीहा' और 'सिन्धु सीमान्त' आदि कृतियाँ इस श्रेणी में आती हैं। नयी उपलब्धियों और प्रयोगों के चक्कर में घूमने वाला उपन्यासकार यथार्थ को नहीं देख पाता है। फलतः उसके प्रयास का रंग फीका लगने लगता है। कुछ कृतियाँ हिन्दी उपन्यास साहित्य में ऐसी भी आयी हैं जिनमें केवल सेक्स की परतें उघारी गयी हैं। सेक्स मानव जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है इसलिए वह त्याज्य नहीं, किन्तु कलात्मक अभिव्यक्ति का उद्देश्य लेकर सेक्स का वर्णन करना और बात है। केवल व्यापारिक साधन के रूप में पाठक की कमजोरी का नाजायज फायदा उठाना दूसरा दृष्टिकोण है।

आज के उपन्यासकारों का एक वर्ग ऐसा है जो किसी न किसी राजनीति के इशारे से प्रभावित है। आदर्शों और सिद्धान्तों का इम्पोर्ट अभी बन्द नहीं है। यदि सिकासो और रैम्ब्रां की नकल हो सकती है तो अल्वेयर कामू, कॉलिन विल्सन और सार्त्र के क़दम के साथ क़दम मिलाये जा सकते हैं। एक बार हिन्दी साहित्य के एक समालोचक महोदय ने व्यग्य पूर्ण ढंग से कहा था मुझसे—'जनाब, मैंने तो हिन्दी के एक उपन्यास के कतिपय अंशों को डी० एच० लारेंस के उपन्यास 'लेडी चैटरलीज लवर' के अनुवाद के रूप में देखा है। यह प्रवृत्ति बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण है। प्रभावित होने में उतनी हानि नहीं है जितनी दूसरे की सामग्री को भाषा का चोगा पहना कर अपनी कहने में है। स्वच्छन्दता के नये प्रवाह ने, चिन्तन की नयी गति ने, वैचारिक बोध के नये आयाम ने, सामाजिक सन्तुलन के नये परिवेश ने आज के उपन्यासकार के सामने नया क्षितिज खोला है। विज्ञान की दौड़ ने दुनिया को सिकोड़ कर छोटा कर दिया है। अध्ययन की नयी दिशाओं का संकेत नये रचनाकारों को बुला रहा है। वस्तुतः राजनीति के इस ह्रास-युग ने सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। जिस प्रकार पीढ़ी के सामने यह प्रश्न है, कि वह क्या करे? उसी प्रकार नये रचनाकार के सामने यह समस्या है, कि वह क्या लिखे? यही कारण था कि साहित्य में एब्सर्ड, अटेम और अनर्गल की रचना हुई। नाम को उछालने के लिये विभिन्न प्रकार के तिकड़म रचे गये। यह दन्द्ववाली प्रवृत्ति अधिक दिनों तक नहीं टिक पाती। यद्यपि समय का निर्मम जल पंकिलता को साफ़ कर देता है; किन्तु यह तथ्य जान कर भी समाज से कट

कर उपन्यास लिखने से लेखक नहीं चूक रहे हैं।

आज की एक ताजा समस्या और है। हिन्दी साहित्य में लेखकों की जनसंख्या देख कर परिवार-नियोजन की याद आती है। नकल नवीसों के बीच में असल को खोजना और मल्लिनाथों की भीड़ में कालिदास का कुछ देर के लिये गायब हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है। उर्दू के कुछ बेचारे लेखक अब हिन्दी लिखने लगे हैं। अपरिपक्व अनुभूतियों की सामग्री लेकर पति पत्नी के नोट्स लिखे जा रहे हैं। स्वाभाविकता लाने के लिये गालियाँ लिखी जा रही हैं। लेखक (लेखिका ने भी) ने सोचा, जब लोग गालियाँ देते हैं तो हम लिखने से क्यों चूकें। यौन प्रवृत्तियों की तृप्ति का लक्ष्य और स्वाभाविकता लाने का अस्वाभाविक बहाना कितना हास्यास्पद है।

नयी दिशा और नये परिवेश में रचना करने के लिये बहुत बड़ी समझदारी की जरूरत है। यदि धैर्यपूर्वक काम नहीं किया जायगा तो रास्ते में मैटर चुक जाने की बाधकता है। इस प्रकार की स्थिति लेखक के व्यक्तित्व को समाप्त कर देती है। युग और सत्य से भयभीत रचनाकार का लेखन प्रथम श्रेणी का नहीं होगा। बुद्धिवादी वर्ग में रचनाकार का और फिर मौलिक रचनाकार का व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, इसलिए निर्भीकता उसे संघर्ष करने के लिये नया बल देती है। हमें अन्दर के कर्दम को अनुधान के रूप में छोड़ना नहीं है तथा बाहरी टीमटाम में ही सारा समय नष्ट नहीं करना है। आवश्यकता है नये साहित्य के लिये नये श्रम की, क्योंकि नये मूल्यों की स्थापना का संघर्ष भी नवीन होगा। पुराने सिद्धान्तों की बुनियाद पर नये समाज की इमारत नहीं खड़ी हो सकती है। सारी व्यवस्था शल्य क्रिया की हकदार है। परिवर्तन, अन्तर्बाह्य का परिवर्तन नये मूल्यों की स्थापना में सहायक सिद्ध होगा। आज भी सजग उपन्यासकारों का एक वर्ग अपने ईमानदार सृजन में संलग्न है, आश्वस्त होने के लिये यह तथ्य पर्याप्त है।

गाँव की आत्मा की खोज[1]

विवेकी राय

दासतन्त्र के 'गोदान' के बाद दो दशक गुजरे किन्तु गांव का मुक्ति-मार्ग छेंके पड़ी है आज भी दुस्तर समस्याओं की मनहूस वैतरणी, एक नहीं अनेक यानी 'अलग-अलग वैतरणी'। जिसे आधुनिक ग्राम-बोध की स्पिरिट में सजोर-बटोर कर उपन्यस्त किया डॉक्टर शिवप्रसाद सिंह ने और स्वाधीनता के बाद पहली बार ग्रामांचल अपनी समग्रता के साथ उभरा। एक देश-काल तथा समाज-समष्टि की समवेत आलेखन-दृष्टि में वस्तु और शिल्प की अद्भुत ताजगी मिली। पढ़कर लगता है कि अब तक का समूचा औपन्यासिक ग्रामांकन नगर के परिप्रेक्ष्य में हुआ है तथा खेत-खलिहान और बन्नी-बोझ की असली बातें अब आई हैं। गांव की नयी सचाई, उसका दुःख-दर्द ऊपर से छू भर जाने की नहीं, भीतर से उघाड़ने की कला बहुत नयी है।

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों के घूम फिर कर नगर में आ जाते हैं मगर 'अलग-अलग वैतरणी' की कथा करैता गाव से बाहर नहीं जाती है। प्रेमचन्द में नागरिक-ग्रामीणता थी और शायद वे गाव से ऊकता जाते थे। यहाँ लेखक रम गया है, उसी में घुलमिल गया है। गाँव की सारी कुरूपता को आदि से अन्त तक झेलने की साहसिकता उसमें है। तराशहीन सम्पूर्णता के साथ ज़िन्दा ग्रामांचल, एक एक घर, एक एक आंगन इस अठपहलू उपन्यास में अपनी पूरी हुलिया और खान्दानी बयानात के साथ उजागर हैं। नये गाव की नयी सस्वरता, कोने-कोने की टोह, हर हवेली, हर गली और बैठक का रेखान्यास, न कहीं सघन, न कहीं विरल, एक साफ तसवीर सामने आ जाती है। पूरी ग्राम कहानी आदि से अन्त तक नपी तुली, सन्तुलित है। लगभग दो दर्जन परिवारों की एक कहानी एक समय की कहानी, यह नयी उपन्यास कला है जिसका निखार इस उपन्यास में देखते हैं। बाहर से बिखराव है और भीतर से एक सूत्रता। पूरे गाँव की कहानी, सबकी कहानी समान्तर विकसित होती है परन्तु सपाट

---

१. अलग-अलग वैतरणी : शिवप्रसाद सिंह

कहीं नहीं। सस्पेंस बना रहता है और रहस्य कभी-कभी आगे चलकर खुलता है। इस पुरानी औपन्यासिक विधा का लेखक ने उपयोग किया है। कथा-भूमि से हटाकर देखने पर अनेक अध्याय पृथक् से, स्वतन्त्र कथा से लगते हैं। नये गाव को नयी प्रवृत्तियों के दस्तावेज, व्यक्ति, समाज और ग्राम-जीवन की टूटन के कीमती मसौदे पेश किये गये हैं। लोकभाषा की ओर ढलान इस कृति की निजी विशेषता है जिसके होते आंचलिकता का भ्रम हो सकता है परन्तु यहाँ करैता एक 'अंचल' नहीं आधुनिक भारत का एक प्रतिनिधि गाव है, अपनी पूरी यथार्थता के साथ।

नये गाँव . नयी शकलें

स्वराज्य होने और जमींदारी टूटने के पश्चात् गाँव मे 'नयी बिरादरी बनने और नये रिश्ते पनपने' के क्रम मे पंचायती चुनाव के पैंतरे पृष्ठभूमि का काम करते है। पार्टी-बन्दी होती है और नये उठते अपढ बदमाशो की पार्टी बनती है। इसी सदर्भ मे 'अलग-अलग वैतरणी' के पन्ने खुलते हैं। एक ओर सुरजू सिंह की पार्टी और दूसरी ओर मीरपुर के बाबुआन-खान्दान की पार्टी। देखते-देखते गाव हरिया सिरिया जैसे बदमाशो का गाँव बन जाता है। चुनाव मे स्वयं को हरा कर जैपालसिंह सुखदेव को इसलिये जिता देते हैं कि उनका प्रतिद्वन्द्वी सुरजूसिंह चित्त हो जाय। यह चुनाव की तिरपट गोटी थी। गाव की टूटन का प्रथम चरण पंचायती-चुनाव सिद्ध हुआ। पुराने जमींदार नयी नीति अपनाते हैं। उनकी नीयत है, 'गाव की जनता के सामने माथा झुकाकर छिपे तौर से उनके भाग्य-विधाता बने रहेंगे।' गाँव के गुंडे जलूस निकालते हैं और नारा लगाते हैं, 'गुंडागर्दी नहीं चलेगी।' डाक्टर सिंह ने ऐसी अनेक स्वातन्त्र्योत्तर प्रवृत्तियो को बखूबी बाँधा है। लोगों की एक ऐसी शकल उभरी है जिसमे सात्-डर नाम मात्र का भी नहीं। देवी चौधरी खलील मियां की रेहन दबाकर भरे समाज के बीच कह देते हैं, 'काहे का रुपया, काहे का खेत ?' बस एक ही धुन है, लूटपाट कर जल्दी बडे आदमी हो जायं। गाव मे एक परिश्रमी भले मानुस मास्टर आया तो न केवल उसकी खिल्ली उडाई गयी बल्कि उसे 'बेशिनास्त' भागने के लिए मजबूर कर दिया गया। निन्दा की क्या परवा ? ग्राम सभापति कहता है, 'जब देखो कि सारा गाव कटकटा कर तुम्हारी निन्दा करता है तब जानो कि तुम बडे आदमी हो रहे हो।'

जमींदारी टूटने पर जमींदारो को अतिरिक्त आय के वैध स्रोत बन्द हो गये। उधर ठाठ-सस्कार वही रहे। पूर्ति के लिये वे अवैध आय की ओर, थाने की दलाली, ब्लैक मार्केट, तस्कर व्यापार आदि की ओर मुडे। जैपाल सिंह देवा-काण्ड मे थानेदार के मरोने पांच सौ रुपये पर निशाना बाँधते हैं। बुझारथ ट्रेन-डकैती में पकडा जाता है। जमींदार की जगह सभापति जैसे पदो पर ग्रामीण लोग नये तरह के शोषक सिद्ध होते हैं। सुखदेव शोषित वर्ग का सभापति है पर सम्पू भगत की हत्या वाले मामले मे थानेदार को चमारों की सूखी हड्डियो पर दाँत गडाने की सलाह देता है। उपन्यास

मे आजादी के बाद गाँव के गाँव की यह ऐसी उभरती नयी शकल है जिसमें देवनाथ और विपिन जैसे स्वप्नशील युवक बेमेल होकर घुट-घुट मर जायँ।

एक केन्द्रीय कथा

करैता के दर्जनों किसान परिवार की कहानियों के बिखरे कथा-जाल में क्या कोई मुख्य कथा-केन्द्र है? वास्तव में 'अलग-अलग वैतरणी' एक भूतपूर्व बाबुआन जमींदार परिवार के टूटने की कहानी है जिसका युवक वंशधर गाँव की असफल रहाइस से ऊब कर शहर भाग जाता है। टूटन क्रमशः आती है। छावनी के बाबुआन जैपाल सिंह और गाँव के धनी जमींदार सुरजू सिंह में पुश्तैनी शत्रुता है जिसके मूल मे इन परिवारों के एक युवक और युवती देवपाल और राजमती की प्रेमबलि है। यह शत्रुता नये युग के अनुरूप विकसित होती है। जैपाल सिंह परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल पैतरे बदलते हैं और अपने बड़प्पन को सँभाले जा रहे हैं; परन्तु अपने उत्तराधिकारी बुझारथ के सम्बन्ध से डोमन चमार की बेटी सगुनी को एक दिन छावनी पर पाकर उन्हें ऐसा धक्का लगा कि उठ नहीं पाये। एक गौरवपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया। आगे गिरावट, छल छद्म, हीन मसूबे और अंधी लागडाट चलती है जिसके कीचड़ में समूचा गाँव शराबोर है।

ऐसे ही में शहर की पढ़ाई समाप्त कर करैता मे आया बुझारथ का छोटा भाई विपिन, एक फर्स्ट क्लास का स्कॉलर। उसका साथी देवनाथ भी डाक्टरी पास कर गाव मे जमने की कोशिश कर रहा है। दोनों के मन मे गाव के प्रति स्नेह है। समय-समय पर विपिन मे नये खून की ताजगी दिखाई पड़ती है। एक दिन न्याय और कानून के नाम पर उसने थानेदार को डाट कर चुप करा दिया। अपने परिवार के विरुद्ध चुपके से मदद कर उसने पुष्पा का घरबार नीलाम पर चढ़ने से बचा लिया। बचपन का प्रेमांकुर पनप कर लहक तो उठा पर गाव की हवा उलटी पड़ी और अपने मूक प्रेम को लेकर विपिन टूटने लगा। सीपिया नाले की घटना ने उसे एकदम उखाड़ दिया। पुष्पा को फंसाने के चक्कर में बुझारथ बुरी तरह घायल हुआ पर कुल की लाज ढकने के ख्याल से विपिन ने सारी स्थिति का बोझ अपने सिर पर ओढ लिया। परन्तु इतना बोझ लेकर चलना कठिन है। उसका प्रेम लुट रहा है और वह असमर्थ है, अनकही प्रेम वेदना मे तड़प रहा है, आत्मग्लानि और आत्मदाह में गल रहा है।

पूरे उपन्यास का यह मध्य 'अयोध्याकाण्ड' वास्तव मे बहुत ही मर्मस्पर्शी है जहा दो परिवारों की प्रतिष्ठा कसौटी पर चढी हुई है। लेखक ने बहुत ही गम्भीरता के साथ कथा भाग को सभाला है। चचिया चटपट पुष्पा का विवाह कर भारमुक्त हो जाती है पर रह जाती है बात चुभी विपिन के हृदय में पटनहिया भाभी की, कि 'ऐसे भी कोई किसी का हाथ पकड कर छोड़ता है? ऐसे ही मरद हैं आप?' अपनी कायरता पर विपिन की अन्तर्वेदना घनी हो जाती है। पुष्पा उसकी थी पर झूठी प्रतिष्ठा के पीछे उसने अपना खून कर डाला। उसका मन बैठ जाता है। वह सोचता

है, 'अपनी जन्म-भूमि को मृत केंचुल से निकालने की सारी तमन्ना एक-एक करके खत्म होती गई। रही-सही कमर पूरी हो गई। देवनाथ के कस्बे में सरक जाने से उसने गहरी खीझ में कहा, 'मारो साले गाव को गोली।' और यह शहर की ओर भाग खड़ा हुआ। अचानक एक खुले रहस्य की तरह सामने आ गई कनिया। मगर, उनके प्रेम में ऐसी सामर्थ्य कहाँ कि रोक सकें? हां पढ़नेवाला जरूर चकित होता है कि कहीं मिमिर—मिसिराइन की कहानी की पुनरावृत्ति का ग्रह तो नहीं कटा?

दो दर्जन टटकी उपकथाएँ

इस एक केन्द्रीय कथा के चारों ओर बहुत कुशलता के साथ लगभग दो दर्जन उप-कथाएँ बुनी गयी हैं जो उसकी पृष्ठभूमि का काम करती हैं, उसे आगे बढ़ाती हैं, प्रभावित करती हैं या पुष्ट करती हैं। इन उपकथाओं के सृजन में ही उपन्यासकार की समूची कला लगी हुई है। 'आधा गाव' नहीं इनके बीच एक पूरा गाव बहुत ही सफाई के साथ उभरता है। जितने प्रकार के व्यक्तित्व और व्यक्ति मिलकर एक गाव होता है लेखक ने किसी को छोड़ा नहीं है। गाव के एक-एक अंग को उचित साज-सवार मिली है, न किसी को कम न किसी को अधिक। यह कथात्मक संयम और संतुलन विस्मयकारक है। बहुत अधिक उखाड़-पछाड़ करता दीखने वाला लेखक वास्तव में सर्वत्र 'सम' पर होता है। एक गाव की उसकी परिकल्पना बहुत सुविचारित एवम् सुनियोजित है तथा करैता एक प्रतिनिधि गाव है। गाव है तो वहाँ बाबूसाब जमींदार की एक छावनी है जमींदार है, उसके लग्गू-भग्गू हैं। उसका बनवाया मन्दिर है तो उसके पुजारी गोसाई महाराज हैं। सुखदेवराम के प्रभाव में ये कांग्रेसी हो जाते हैं। वास्तव में गाव के ये दोनों गवार अधकचरे गांधीवादी हैं। हरखू सरदार जैसा बड़े दरबार का सेवक और उसकी जैसा व्यक्तित्व है। भब्बू लाल उपधिया, एक लोभी ब्राह्मण। एक-एक परिवार की पूरी कहानी लेखक रखता चलता है। विशेषता है कि वह ऐसे स्थान से और ऐसे ढंग से उठाता है कि पढ़नेवाला कभी बोर नहीं होता है।

वह सब तरह के किसान परिवार को लेता है। बन्नी काका का परिवार, मोटे लोग, मोटी बुद्धि। बल्लू जैसा कन्याराशि नामर्द इस परिवार को ले डूबता है। परमू सिंह बड़े जमींदार एक सीरवाह, बाद में उपेक्षित और पुत्ता तो इस परिवार में नाहक जन्मी। टीमलसिंह एक किसान, बेटा हरिया आवारा हो गया। गाव में फेलियर पतलून पहन कर घूमता है। साथी हैं मीरिया, छबिलवा। इन गवार गुंडों को हाँकने वाले गाव के पुराने बाशिन्दे धनी किसान सुरजूसिंह जो मीरपुर के छावनी वाले बाबूसाब जमींदारों के प्रतिद्वन्द्वी हैं। एक गाव है तो ये सब लोग हैं। ये मूर्ति-भंजक लोग हैं। गरीब लोग भी गाव में हैं। 'मैला आंचल' की तरह यत प्रतिशत लफंगे-बहिष्कृत इस गाँव में नहीं हैं। रसीला गाँव की नयी हवा से बहुत दूर, पुराने ख्यालात का गरीब आदमी, जवान मिसिर पहलवान, नेक इन्सान। जमीन लूटपाट कर धनी हो जानेवालों के प्रतिनिधि देवी चौधरी। बेटा जगेसर गाँव के एक महत्वपूर्ण स्थान को भरता है। मन का हीन तनक्षा लगढ़ा। शहर में सिपाहीगिरी करते गाँव में

आकर रोब भाड़ना है। अद्‌भुत अस्पर्शित चरित्र दयाल पंडित का। घर एक गैया, एक मैया। सारे गांव के पतनी-पठवनिया, एक 'भउग' और गांव के आवश्यक अंग। गांव के अंग चमटोल की कहानी, भिनकुआ एक हलवाह, धुरबिनवा एक चरवाह, सत्य भगत एक नेकदिल भक्त हरिजन सरदार। अन्य छोटे लोग जो गांव को एक बड़ी शक्ल देते हैं, धीमू धोबी, लोकगीत की धुन में जीनेवाला, उसका बेटा सुरजितवा परम्परा को निबाहते जाता। गांव का स्कूल, उसकी भी रोचक कहानी, नये-पुराने का संघर्ष, एक अस्पताल, मन्नूलाल उपधिया के डॉक्टर बेटे देवनाथ के पलायन की कहानी, कोने-कोने की थाह लेखक ने ली और सब मिलाकर गांव की जो एक शकल खड़ी की सो चेहरे मोहरे से बहुत सुपरिचित लगने के साथ अपनी समस्त दुर्बलताओं और समस्याओं में सत्य है।

गये वक़्त का ताजिया

"फसलमेंट पाल्टी", ललकी गाउटी की मस्कृति, समलबाई का गुदना और बादू के केवड़ार के रोमांस वाले गांव करैता की अविस्मरणीय तसवीरें, देवधाम का मेला, चमारों और बाबुओं की लड़ाई, एक लड़ाई स्वराज्य के पहले की, जिसकी याद रह गई और एक स्वराज्य के बाद की, देवपाल और सुब्बा नट के मल्लयुद्ध का खूंखार दृश्य। पुर्जैया से लेकर तलैया में डुबकी-डुबौवल खेल तक जैसे अगणित दुर्लभ ग्राम चित्रों की अवतारणा, सर्वत्र एक भावुक यथार्थ दृष्टि से लेखक ने वह सब देखा है जो प्रायः अदेखा रह जाता है। हरिया की मूर्ख लड़ाकू औरत को वह देखता है, 'बीचों-बीच आंगन में पसर कर नंगे पैरों को फैलाकर फटी साड़ी खींच कर सीती रहती थी और मुट्ठी भर भात के लिये लड़ाई करते लड़कों को किटकिटा कर गंगा के दहाने भेजा करती।' इसमें एक पूरे परिवेश का बिम्ब अत्यन्त घना, सांकेतिक, प्रभावशाली और स्पष्ट रूप में उभरा है। पात्र स्वयं तो बोलते ही हैं पर नैरेशन में नये शिल्प का कमाल वहां दिखाई पड़ता है जहां पात्रों के अन्तरप्रदेश की हलचलों के चित्र उन्हीं की भाषा में, उनकी विचारतरंगों को अपने मानस में पचाकर लेखक स्थान-स्थान पर देता चलता है। लेखक और पात्र की यह मानसगत अद्वैतता इस उपन्यास की एक मूल्यवान उपलब्धि है। अगणित बिम्बों में गांव की मूर्खता और गरीबी को लेखक ने जो उभारा है सो एक ओर मनोरंजक है और दूसरी ओर बहुत क्लेशकर। रह रह कर सवाल उठता है कि उबारने का मार्ग क्या है? लेखक गांव के प्राइमरी स्कूल को पेश करता है। उसकी और अधोगति, दकियानूस, बुढमस मरा हेडमास्टर, अनैतिक माहौल, नर-वानर हांके जा रहे हैं, पूरा अन्धेरखाता, एक अच्छा आदर्शवादी अध्यापक शशिकान्त आता है तो सबको अंडस पड़ने लगता है, हेडमास्टर को, गांव के सरगना लोगों को और वह भी टूटने लगता है। हेडमास्टर शशिकान्त को भिड़कता है कि आप जब पूजा पाठ नहीं करते तो बागवानी और फूल लगाने के चक्कर में क्यों पड़ते हैं? यह है रुचि। गांव की एक पार्टी सिरिया के पिटाई-काण्ड में शशिकान्त को गवाह बनाने में असफल होने पर नाराज होती है और एक दिन

जब वह सबका वेतन लेकर लौट रहा है, शाम के अंधेरे में गांव के गोयड़े दो व्यक्ति उसकी आँखों में बालू झोंककर और आहत कर दो सौ नब्बे रुपये छीन कर चम्पत हो जाते हैं। वह बेचारा रातों रात भागता है, वेजिनास्त।

उपन्यास में गाँव के जिस वातावरण को लेखक ने न्यस्त किया है उसकी एक विशेषता है। वह अच्छे लोगों को धकिया के फेंक देता है। यह उमी का प्रेसर है कि खलील अपने को 'एक हारा हुआ इसान' कहता है। आजादी के बाद बेटा पाकिस्तान चला गया। यहाँ वह बदलते परिवेश में अपने को बदल न सका और शराफत, इखलाक और नेक-नीयती के नाम पर रोता है। विपिन से कहता है, 'यह एक नये किस्म की आँधी है बब्बन बेटा, जिसमें गर्द नहीं, गर्मी होती है।' लगता है, आधुनिकता गांव में क्रूर अन्धता लिए सारी सिधाई-सरलता को छाप कर बैठ गई है। खलील के शब्दों में नया अहसास है। लेखक ठीक ही कहता है, वह 'गये वक्त का ताजिया' है। गाँव छोड़कर जा रहा है। मुलाकात हो जाती है विपिन से। कहता है, 'बेहूदा किस्म की हवा चल रही है।' भीतर की सारी ऊब और कटुता इस एक संक्षिप्त वाक्य में छिपी है। उपन्यास में झलक भर जाने वाले खलील को लेखक ने विशेष ढब से अंकित किया है। उसका गाँव पलायन इसानियत और शराफत का पलायन है।

अच्छों की कतार　वैतरणी विस्तार

करैता में अच्छे लोगों की एक कतार है, मास्टर शशिकान्त, खलील, विपिन, देवनाथ, सरूपभगत, पटनहिया भाभी और जगन मिसिर। इन्हें देखकर लगता है कि गाँव अभी प्राणहीन नहीं है। पर एक-एक कर सभी चले जाते हैं। शेष बच जाते हैं जगन मिसिर। एक खरे व्यक्तित्व वाला पहलवान जिसने अनाथ जैसी स्थिति में जन्म ग्रहण किया और दैव-योग से जन्मभर नि सन्तान की मन स्थिति और नियति में लड़ना पड़ा। उनकी विधवा भाभी ने किस प्रकार उन्हें पराया होने से रोक लिया, इस घटना में ग्रामीण गृहस्थ जीवन के एक नये आयाम का उद्घाटन होता है। मिसिराइन बाहर से विवाह की बात चलाती हैं पर भीतर विरोध चलता है, सब बहुत ही यथार्थ, भावात्मक, मौलिक एवम् मनोवैज्ञानिक है। लेखक एक रात के उनके रोमांचक सहवास का वर्णन करता है। बाल भले ही बढ़ती है पर विवाह की बात उनके सिर का बोझ बनी रहती है, वैतरणी पार कराने और पितरों को पानी देने वाले वंश उत्तराधिकारी की कचोट सालती रहती है और अपना जीवन एक 'उलटी तसवीर' की तरह भासता रहता है। फिर धीरे-धीरे समझौता कर लेते हैं। अपने अन्तर्विरोधों में मुक्त मिसिर जी में सच्चे ग्रामीण जन की निर्भीकता मिलती है। हरिया और जगेसर जैसे लोगों की हेकड़ी दूर करने में उनका व्यक्तित्व उनका आत्म-गरव दमक उठता है। गाँव के बिखराव के प्रति हार्दिक तड़पन उनमें मिलती है। एक जगन मिसिर को गाँव के प्रति आनान्वित छोड़कर लेखक ने पूरे उपन्यास को आशावादी बने रहने दिया है।

सवाल वैतरणी का जगन मिसिर के मन में ही पैदा होता है। 'वैतरणी पार कौन करायेगा ?' और हारकर उत्तर भी वही देते हैं, 'कौन किसको पार कराता है वैतरणी ?' मिसिर का भावी जीवन (बुढ़ापा) एक भारी वैतरणी बना सामने पड़ा है। यहाँ सचमुच सबकी अलग-अलग वैतरणियाँ हैं। एक कुसग की वैतरणी की ओर लेखक इशारा कराता है जिसमें से निकला गोपाल मगरमच्छ से भरी दरिया में जा गिरता है। उच्च वर्ग के मनचले लोगो की घिनौनी वैतरणी है चमटोल। डोमन चमार की लकड़ी सगुनी के साथ सरे ग्राम जब सुरजूसिंह पकड़े गये तो समूचे गाँव का सिर झुक गया। बड़ी बीहड़ और दुस्तर है यह 'काम' की वैतरणी। देवपाल और राजमती में तो प्रेम था परन्तु शोभनाथ और सोनवा में यह प्रेम कहाँ गया ? ठीक मौके पर एक सवाल लेखक सरूप भगत के मुँह से उठवाता है। 'आज तक किसी रजपूत-बाभन की लड़की के साथ चमार दुसाध का परेम काहे नहीं हुआ ?' ऐसे अवसर पर अव्यक्त रहकर भी प्रश्न समाज की बनावट का और उसकी आर्थिक विषमता का, शोषण और सामाजिक अत्याचार का उठता है। लेखक स्वयं इस नये किस्म की वैतरणी की ओर तटचर्चा में संकेत करता है। 'जब शिवत्व तिरस्कृत होता है, व्यक्ति के हक छीने जाते हैं, सत्य और न्याय अवहेलित होते हैं तब जन-जन के आँसुओं की धारा वैतरणी में बदल जाती है, नर्क की नदी बन जाती है।'

लेखक ने करैता के नरक में पटनहिया भाभी के आँसुओं की नदी को भीगे मन से देखा है। उसने गाँव में छिनते उसके नैतिक हक को देखा है। अपने नामर्द पति कल्पू से गहरी अतृप्ति पा कर उसे हक था कि वह विपिन से उपन्यास माँग कर पढ़े शशिकान्त को अंग्रेजी में मदद के लिए बुलाये अथवा डाक्टर देवनाथ से अपने पति के इलाज के सिलसिले में बात करे। लेकिन क्या समाज उसके इस हक को मान्यता देने के लिए तैयार है ? इस अवसर पर गाँव के अच्छे लोग चाहे वह शशिकान्त हो, चाहे विपिन या चाहे देवनाथ, सभी परम्परागत विधि-निषेध और सड़ी नैतिकता के कड़े पहरे में विवश भीरु और उसके प्रति निर्दय हैं। पटनहिया भाभी के विवाह की कहानी नारी पर होने पर क्रूर अत्याचार की कहानी है। यह बाल-विवाह है और सर्वथा बेमेल। मगर गाँव में ऐसे ही होता है। अभिभावक सोचते हैं, 'शादी हो गई अब चाहे पास हो या फेल।' उधर कल्पू का एक स्तर पर अवरुद्ध काम-विकास उसे क्लीव कापुरुष बना कर मानसिक रोगी से शारीरिक रोगी की हालत में पहुँचाते मार डालता है। पटनहिया भाभी की सुहागरात की चर्चा बहुत दर्दनाक है। उसकी अतृप्त इच्छा, उसकी मूकवेदना, उसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ उसके हसोड़ स्वभाव की चर्चा, होली में लड़कों को पकड़ कर नचा करने की उसकी बान, सब एक गूढ़ मार्मिक वेदना से पाठकों के मन को भर देती हैं।

न केवल पटनहिया भाभी में अपितु शेष दो प्रमुख नारी पात्रो, कनियाँ और पुष्पा में इसी अतृप्ति और मूक वेदना को लेखक ने उभाड़ा है। तराशहीन सहजता और गाँव का अप्रगल्भ व्यक्तित्व सब में है। इन तीनों का तीन कोण वे सम्बन्ध

विपिन से टकराता है। तीनों बार विपिन पलायित होता है। उसका यह पलायन सहज ग्राम-बोध से भरा है। कुछ और होता तो हम लेखक पर दोषारोपण करते। एक खटक तब भी रह जाती है। कनियाँ के जिस प्रशान्त, गम्भीर, विशाल और उज्ज्वल व्यक्तित्व को लेखक उभारता है वह अन्त में तीन जलते सवाल उठाकर पाठकों को सदयालु बना देता है। विपिन के विवाह की चर्चा पर उनकी चुप्पी और अनत्परता क्यों ? पुष्पा की ओर प्रेम जान कर भी उनकी ओर से विपिन को बढ़ावा क्यों नहीं ? और अन्त में नौकरी पर जाने के अवसर पर वैसा गूढ़ एवं जटिल रज क्यों ?

गाँव की आत्मा की खोज

'अलग-अलग वैतरणी' की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है भाषा सम्बन्धी। हिन्दी के साहित्यकार इधर लोक संस्कृति और लोक-भाषा की ओर झुके हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' और श्री उपेन्द्रनाथ अश्क के एकांकी नाटक 'किसकी बात' में अवधी की माधुरी का बिखरा वैभव देख चुके हैं। डॉक्टर राही के उपन्यास 'आधा गाँव' की भाषा भोजपुरी-उर्दू ही मुख्यतः है। अपने घर की भाषा अब तक तिरस्कृत रही है। स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक नगर-बोध से अनुप्राणित उपन्यासों में न केवल अंग्रेजी की शब्दावली बल्कि वाक्य के वाक्य अंग्रेजी प्रयोग देख चुके हैं। उसमें आत्म-विस्तार की भंगिमा रही। आत्मोपलब्धि उसे देखते एक झूठा नारा प्रतीत होता। जहाँ भाषा का स्वाभाविक राग नहीं वहाँ यह उपलब्धि कैसे सम्भव होगी ? डॉक्टर सिंह में इस 'राग' की स्वाभाविक पकड़ है। उन्होंने किसान, बनिहार, हलवाह, चमाइनि, और चमरौन के भाषागत प्राणतत्त्व को छान लिया है। गाँव के गुंडों की भाषा, चाटुकार और टुकड़खोरों की भाषा, कान्स्टेबिल और हेड कान्स्टेबिल की भाषा के फर्क को उन्होंने समझा है। लेखक ने सधे हाथों फड़कती-रपटती हुई ताभी टटकी साँस की जिस नयी भाषा को पेश किया है वह बेशक बहुत जानदार है। उपन्यास में खड़ी बोली को सुघड़ भोजपुरिया मोड़ दिया गया है। उसे बनारसीपन की चाशनी में ऐसा डाला गया है कि मन पर उसकी मिठास बैठती जाती है। इस ढलान की दिशा स्वाभाविक है। प्रेमचन्द में यह दबे-दबे रूप में थी। उन्होंने खड़ी बोली का लोकभाषाकरण किया था और यहाँ लोकभाषा का खड़ीबोलीकरण किया गया है जिसे इस रूप में देखते हैं, 'ई गाँव ही अइसा है।' लेखक ने 'लमछर', 'निछद्दम', 'पोरसा', 'ठहर' जैसे सैकड़ों शब्दों का 'सोहो-सोहों', 'ओही-ओही', जैसी विशेष शब्दावली का, 'फल्लड में पड़ना', 'अकसर में जाय' और 'हिक्का फटना' जैसे अगणित मुहावरों का लोक-भाषा के तल से बीन कर उद्धार किया है। ये शब्द हमारी भाषा की बुनावट में स्वाभाविक ताने-बाने से बने हैं परन्तु कामा में बन्द कर लिखने के कारण ऐसा लगता है कि अलग से बखिया चल गई है और पेबन्द का भ्रम होता है।

गाँव की आत्मा की खोज की सही दिशा पग-पग पर भाषा में मिलती है। गाँव के गंध की पहचान के साथ ग्रामांचल 'अमाड की जिन्दा मटिही सुबास' वह चीन्हता है। 'नागरमोथा के बादामी फूलों की गंध' पियरी माटी से पुती दीवालों की सोंधी महक और खलिहान की खुरखुरी अनाजिया बास में उपन्यास बासा गया है। लेखक की शिकायत है कि लोगों में सुगन्ध-चेतना नहीं बची। गंध की अनुभूति के साथ चटक चित्रों को वह ज्यों का त्यों उतार देता है। 'सिवान जैसे रंगीन कलाबत्तू का ओढ़ना है जिसे सोने पर फरफराती धरती गुमसुम लेटी किसी की आतुर बाट जोह रही है।' उसके गाँव का एक बवान है जिसकी 'जाँघों पर छींट की जाँघियाँ ऐसी फब रही थीं जैसे केले के पेड़ से तितलियाँ लिपट गई हों।' उपमानों में अद्भुत् ताजगी के साथ लेखक की निजी भाषा, इस भाषा को लेकर उपन्यास में वह जगह-ब-जगह विशेषकर परिच्छेदों के प्रारम्भ में व्यक्तिनिष्ठ ललित-निबन्ध लेखक के हाशिये पर आ जाता है। उसमें एक आतुरता झलकती है। जैसे लोगों की आँखों में उँगली डाल कर दिखा रहा है, 'अरे देखो यह ऐसा है अपना गाँव।'

'चमटोल . एक प्रामाणिक स्वर

करैता गाँव के दक्खिन ओर चमटोल है। यही ग्राम-संस्कृति है। प्राय गाँव के दक्षिण ओर यह ग्राम जीवन की महत्वपूर्ण इकाई होती है। गाँव और चमटोल के बीच गड़ही भी एक सामान्य चित्र है। एक गाँव में ये दो गाँव, एक में बाबू दूसरे में बनिहार। उपन्यास के माध्यम से पहली बार इतनी स्पष्टता के साथ दोनों का अलगाव सामने आया है। लेखक राजनीति का स्पर्श कहीं नहीं करता है परन्तु तथ्य खुलते चलते हैं और ऐसी स्थिति में वे और प्रभावशाली होते हैं। बाबुओं और चमारों की लड़ाई में जब शत्रुता भूलकर छन भर में बाबुआन एक जुट हो जाते हैं तो यह बात अविदित नहीं रह जाती कि सुविधा प्राप्त शोषक-वर्ग वाले आपस में भले लड़ें परन्तु शोषितों के लिए सब एक हैं। भिलकुआ, घुरबिनवा और जगजितवा की इस चमटोल में बाहर से तो खूब मनसायन है परन्तु क्या वास्तव में वह वैसी ही है? चमटोल में घुसते ही मिलती है धनेसरी बुढ़िया, अनेक कर्म-कुकर्म में माहिर, चमटोल की एक सीमा, सारे गाँव की रिगौली, फिर चमाइनों के सस्ते रोमांस, विचित्र कावकिच, नयी-नयी गालियाँ और नग्नता, सर्वथा एक नयी दुनिया। धन्नी माँगने पर जहाँ पिटाई होती है और कमाई खाने के मूक पशु की तरह प्राणी पड़े सब सहते हैं।

यह चमटोल साल में एक महीना चैत में जगती है। फिर ग्यारह महीने तक सुन्नी रहती है। दूर-दूर से आये परिव्राजक बनिहारों की संस्कृति के उपन्यास में अस्पर्शित चित्र उतरे हैं। सगुनी एक चलता पुरजा चमाइनि-बिटिया और दुलरिया एक हँसोड़ लड़की, जैसे एकदम पटाखा। लेकिन इस सारी-खुशी के नीचे कितना भयानक दर्द दबा है? हमारी सड़ी अर्थ-व्यवस्था का सारा गलीज जैसे इस चमटोल के रूप में पुँजीभूत है। चमारिन के साथ रजपूत के पकड़े जाने की घटनाओं में

गरीबी बीभत्स रूप में सामने आती है। सुरजूसिंह को मगुनी के साथ सरे आम गिरफ्तार कराकर लेखक उच्च कहलाने वाले समाज के मुँह पर थूकता है। बार-बार सवाल उठता है कि क्या फर्क पड़ा स्वराज्य से? चमारों की सामूहिक पिटाई जैसे तब होती थी वैसे ही अब भी होती है। बात कुछ आगे अब बढ़ती जरूर है पर कोरी 'बात' और 'भाषण' से क्या होगा? सगुनी और सुरजूसिंह का अन्तर क्या जाति का अन्तर है? यह कितनी झूठी बात है? यह आर्थिक विषमता का नरक है। इसीलिए सरूप भगत गाँव की रहाइस को ही विपत्ति का मूल मानते हैं। कहते हैं, 'घोसला बनाओगे तो गिद्ध कौओं की नजर लगेगी ही' वास्तव में उस प्रतिहीन-रूप चमटोल के आगे बाबुओं का करैता गिद्ध-कौओं की जमात की तरह लगता है। उपन्यास में तटस्थ और सही दृष्टिकोण से यह विसंगति प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने गरीबी के अधकार को परखा है।

फिर गाँव का क्या होगा?

लेखक ने उपन्यास को विशाल भोजपुरी-संस्कृति का जीवन्त आईना बना दिया है। करैता दो हजार का आबादी वाला एक ऐसा गाँव है जैसे भारत के गाँव होते हैं। वह अत्यन्त ही सुपरिचित लगता है। दक्खिन पट्टी में सुरजूसिंह, उत्तर पट्टी में बुभारथ जैसे 'एक नाद दो भैंसें'। दक्खिन के कोने पर महावीर जी का मन्दिर जहाँ दुखी और निराश लोग आकर मन बहलाते हैं। हर तरह के लोग-बाग। गाँव कल्पू को नामर्द बनाने में योग देता है तो हरिया को एक फ्रस्टेटिड युवक। उसे कहीं रिकगनिशन नहीं मिलता है। यह देवी चौधरी के फरार सिपाही बेटे जगेसर का गाँव कितना सुपरिचित है। वह एक घमंडी नौकरिहा और बन्नू कमासुत, हर-मुठ नैतिकता का प्रतीक, बायस्कोप वाले का पैसा लूट कर ऊपर से धौंस जमाता है, 'अभी लूटने वाले तुमने देखे कहाँ?' यानी एक से एक जीव, हर प्रकार के जन्तु, अपनी मौलिक विशेषताओं के साथ। सीरिया 'जेबा में' लगा कर बोलता है। हरन्नू सरदार बात-बात में 'महावीर सामी की कसम' ठोकते हैं। जगेसर की आदत है, 'सट से खींच सूगा बीम राखी लगाकर' और बुभारथ की सगुन उक्तियाँ है, 'भगवन्त हो, भगवन्त।' रूप-रस, चाम-ठाम और बोल-बानी में एक जीता जागता गाँव।

जहाँ मच्छा पहनने ओढ़ने पर व्यंग्य बाणों का निशाना बनना पड़ता है, 'ई मदव महफिल लगाने की तैयारी है का?' जहाँ के लोग हैं कि 'गमछे की झोली में भरे हुए ज्वार के लावे का बड़ा-सा फंका मुँह में डालकर चबाने चल देते हैं'। सिसिर, विपिन, देवनाथ और शशिकान्त संयोग से एक दिन मिलते हैं तो एक भयंकर सवाल उठता है कि दस-बारह साल से लेकर अठारह-बीस तक के गवई-नवयुवकों के चेहरों पर मकड़ी के जाले इतने घने क्यों हो रहे हैं? इसकी और इसमें सटी समस्याओं की तलाश लेखक ने बहुत ही मुस्तैदी से की है। नये परिवेश में, नये बदलते मूल्यों के बीच गाँव में उभरते एक नये किस्म के खुदगर्ज

गांव को वह कस्बाई पहचान रहा है। उसमें एक तीखा अहसास है कि पुराने सड़े मूल्य गांव की जिन्दगी को सडा रहे हैं। जिनके चलते गांव के 'पानीदार युवक' जाव लगे बैल की तरह हाक रहे हैं, और हर नारी 'खौलते कडाहे' के आगे खडी है। गांव की हवेली जैसे एक खुली हवालात है जिसमे पटनहिया जैसी करोड़ों नारियाँ सीझ रही हैं। यदि शशिकान्त जैसे वहा कोई अंग्रेजी की मदद करने पहुँचता है तो एक होआ खडा हो जाता है, भूकम्प आ जाता है। बडे बूढो की नैतिक पहरेदारी की आवाज कडकने लगती है। फिर सास लेना दूभर, यह नैतिकता क्या है मानो गाव की नाक पर का एक फोडा।

इन सबको लेकर गाव बुरी तरह टूट रहा है। वह भले लोगों के रहने लायक नही रह गया। सब अच्छे लोग उसे छोड कर चले जा रहे हैं। यही मूल्य स्वर है प्रस्तुत उपन्यास का। सबका सारांश निचोड़कर जगन मिसिर कहते हैं, 'सब चली गई।' गोनई महाराज रोते हैं, 'अंगरेजी जमाने से भी ज्यादे विपत बढ़ गई।' सुखदेव राम सभापति को शिकायत है, 'लडाई भगड़े खुब होते हैं मगर सभापति को कोई साला नही पूछता।' मास्टर शशिकान्त को स्कूली बच्चो की मुखमुद्रा सालती है। 'उन्हे डॉटो तब भी और हँसाओ तब भी चेहरे में कोई फर्क नही पड़ता।' विचित्र मुर्दनी है, अद्भुत टूटन है, तिसपर भी भले लोग गाँव को छोड़-छोड़ कर चले जा रहे हैं। मन पर एक आतंक-सा छा जाता है। वह कोई गहरी कचोट है कि जगन मिसिर कहते हैं, 'यहाँ रहते हैं वे जो यहाँ रहना नही चाहते पर कही जा नही सकते। यहाँ से जाते अब वे हैं जो यहाँ रहना चाहते हैं पर रह नहीं सकते।' 'और जाते-जाते विपिन एक जलता सवाल छोड़ जाता है, 'फिर गाँव का क्या होगा ?' प्रश्न बहुत गभीर और प्राय: अनुत्तरित है तथा हमारे समूचे अस्तित्व के आगे उपन्यासकार उसे खडा कर देता है।

रास्ते अपने - अपने

•

ललित शुक्ल

वीज[1]

इस कृति को पढने के पश्चात् साहित्य का उद्देश्य स्पष्ट रूप से सामने आता है। 'आदमी की जिन्दगी के हर पल का कोई लक्ष्य होना चाहिए'—किसी लेखक का यह वाक्य सत्य के खून में घुल-मिल गया है। लक्ष्यहीनता के जन्म के लिए दूषित शिक्षा-प्रणाली भद्दी जीवन-शैली, थोथी धर्म पद्धतियां, गुलामी की गन्दगी और घना-वश्यक बंधन उत्तरदायी हैं। 'बीज' के वस्तु-विन्यास का कैनवेस धीरे-धीरे खुलता है। आगे बढ़ता है, बढ़ता है और अन्त मे सिमटने लगता है। सत्यवान और राजेश्वरी। जार्जटाउन-इलाहाबाद। अभी राजेश्वरी के नाम के साथ सत्यवान का नाम न जोड़ें क्योंकि राजेश्वरी का पति चन्द्रमा प्रसाद—'बिलकुल कहार जैसा', 'पूरा कार्टून' था। अब तो मायके मे 'मिसेज राजेश्वरी निगम एम० ए०, एल० टी० लड़कियों को नागरिक शास्त्र और दुनिया का और बहुत-सा अल्लम-गल्लम पढ़ाती थीं।'

वालंटियर के सीने पर जड़ा हुआ 'आजादी या मौत' का बिल्ला, नमक आन्दोलन, जवानी का जोश, फाँसी का झूला, लाठी की बरसात, इन्कलाब जिन्दाबाद का वातावरण सत्य के जीवन के सामने थे। वातावरण की इस रूपरेखा के आधार पर जवान खून की हरकतों का पता आसानी से लगाया जा सकता है। मेरे कहने का मतलब यह है, कि 'बीज' का उद्देश्य इन्कलाबी है।

अब वस्तु को समझने के लिए एकाध तथ्य पर और ध्यान दीजिए। जुबली स्कूल के ड्राइंग मास्टर का देहान्त कम उम्र में हो गया। सत्यवान उन्हीं का लड़का था। सत्यव्रत (सत्यवान का बड़ा भाई) और सत्यवती (छोटी बहन) की कहानी आगे नहीं बढ़ पाती। केवल सत्यवान का संघर्ष आगे बढ़ता है। एक दूसरा परिवार है प्रफुल्ल बाबू का जो राजकीय कालेज में गणित के अध्यापक हैं एक टिपिकल अध्यापक जो नये बैरहने में रहते हैं। अमूल्य प्रफुल्ल बाबू का लड़का था। राज के माध्यम से सत्य का परिचय रूपा नाम की लड़की से होता है जो आगे चल कर गाढ़ा हो जाता

[1]. अमृतराय

है। इस समूची वस्तु के फ्रेम मे देश की दशा की एक तस्वीर उभरी है। सजगता का एक सामाजिक कोण बनता है और समाज की जमीन पर व्यक्ति का बोध समझ मे आता है। युग चित्रण को जो लेखक अपनी अनिवार्य आवश्यकता मानता है उसके उत्तरदायित्व का बोझ बढ जाता है। जिस जीवन को, जीवन के सत्य को साथ ही पूरी तस्वीर को लेखक और पाठक दोनो देख चुके होते हैं उसके सम्बन्ध मे काल्पनिक उडान का कोई महत्त्व नही होता, क्योंकि बहुत शीघ्र उसका पर्दाफाश हो जाता है। यद्यपि गूनी पजा और भयकर भेडिया की प्रतियाँ तथाकथित शिक्षित वर्ग मे भी पढी जाती हुई देखी जाती हैं, किन्तु इतनी समझ की बात सामान्य व्यक्ति भी जानता है, कि किसान मजूर और अन्य मेहनतकशो के जीवन का परिलेखन कहाँ कमजोर है और कहाँ आकर्षक है।

बीज की कहानी नगर की है। किन्तु ऐसा लगता है कि लेखक ऊँचे प्रागार पर बैठ कर बाहरी दृश्य की छवि भी देखना चाहता है। 'यह छूटा, वह छूटा' की भूमिका में कभी-कभी कुछ भी हाथ नही लगता। १५ अगस्त '४७ के पूर्व और बाद में जो स्थितियाँ अपने समाज की बनी हैं उनके सही और गहरे चित्रण के लिए 'बीज' का कैनवेस बड़ा हो गया है। यही कारण है कि सत्य और राज के सम्बन्धो की कथा को मूल कथा से छोटी बनाने के लिए लेखक को महेन्द्र बागची की रचना करनी पडी है और राजेश्वरी निगम की हत्या। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि राज और सत्य का प्रेम बड़े भोले स्तर (इनोसेण्ट स्टैण्डर्ड) का है। पता नहीं क्यो लेखक ने राज के इस प्रेम को आगे नही बढाया।

अखबार मे पढी हुई, लोगो से सुनी हुई अथवा किताबों से जानी हुई बातो पर लगभग दो तिहाई उपन्यास आधारित है। भोगे हुए यथार्थ की गैरहाजिरी में वस्तु विन्यास तन्मयता और गहराई के स्थान पर सूनापन उभर आया है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि 'बीज' न तो एकान्ततः रोमास उपस्थित कर सका है और न सामाजिक यथार्थ। वीरेन्द्र और प्रमिला को बीच में लाने का उद्देश्य असगत लगता है। आनुषंगिक कथाओं का महत्त्व हम स्वीकारते हैं, किन्तु मूल कथा की विच्छित्ति उपन्यास की कमजोरी मानी जायगी।

उषा और सत्य का सम्बन्ध एकदम ठण्डा लगता है—बेजान सा। हाँ प्रफुल्ल बाबू का परिवार काफी तेज है। गिरफ्तारी, आजादी से प्रेम। देश पर कुर्बान होने की भावना। पन्द्रह अगस्त सैंतालीस का नाम आते ही बीज का रुख बदल जाता है। लेखक ने देश की नाडी देख कर लिखा कि आजादी का प्रसाद सभी को मिला। सेठ, साहूकार, लाला, रईस, बेईमान, ईमानदार, कपटी, छली, किसान, मजूर और पूँजी-पति सभी को आजादी मिली। ऐसे स्थलो का वर्णन कही-कही बीज को 'एसे नावेल' बना देता है और कही तो ऐसा लगता है जैसे कोई रनिंग कमेण्ट्री कर रहा हो। डाकुमेण्टरी नावेल से मिलती-जुलती प्रक्रिया।

बीज के लेखक की दृष्टि साम्यवादी है। उसे चरित्रों के विकास में सहायक जीवन के कॅनफ्लिक्ट का चित्रण करने में सफलता मिली है। विशेषता इस बात की है कि एकतरफा चित्रण करने से लेखक ने अपने को बचाया है। बीज में केवल एक समस्या नहीं उभरती। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की समस्याएँ हैं। उन समस्याओं से जूझने वाले चरित्र हैं। अंकुरण (जरमिनेशन) के मुख्य सन्दर्भ में मुख्य रूप से दो जगह बीज का प्रसंग आता है। राज की जिन्दगी कानपुर के शोर शराबे में परवान चढ़ी। एक जिन्दगी, शराफत की जिन्दगी, भोले प्यार, इंसानियत और मिठास की जिन्दगी जीती थी वह। वह प्यार और दुलार की भूख लेकर आयी, जिंदा रही और चल बसी। अमृतराय लिखते है—'न किसी से पा सकी वह बीज न किसी को दे सकी, जिसकी कोख सदा बजर पड़ी रही और फली भी तो क्या फूली······पाप के जहरीले बीजों से··· · बड़ी नेक थी राज।'

एक अन्य स्थल पर बीज का नाम आता है। लौडरी के चक्कर में उषा को चोट लगी। सत्य से मिलने पर चोट की ही स्थिति में 'उषा ने आँखें खोली और निर्निमेष सत्य को देखती रही। सत्य ने सोचा—'कितना गहरा नीला है इसकी आँख का समुद्र'······उसने बार-बार कहना चाहा—उषी तू नहीं जानती, तेरे इस घाव में हमारे नये जीवन के विराट् अश्वत्थ का बीज छिपा हुआ है, हमारे नये युग का बीज, नये प्रभात का बीज।' यद्यपि सत्य और उषा की कथा में संघर्ष अधिक हैं किन्तु पाठकों का वोट राज को अधिक मिलेगा। सत्य और उषा के संघर्ष का औंम परपज समझने के बाद स्थिति कुछ सीमा तक बोधगम्य होती है। सामान्य पाठक की दृष्टि आलोचनात्मक नहीं होती। और मैं तो यह कहूँगा कि अपने समाज में नाजायज बीज वपन का रोग यहाँ तक फैला हुआ है कि उस की सही तस्वीर उतारने की हिम्मत हर लेखक नहीं कर सकता। बायोलॉजिकल अर्थ पाप, पुण्य, व्यक्ति और समाज कुछ नहीं देखती। इस अर्थ के पूरे होने के पश्चात् पुरुष भागता है। स्त्री अपना भार ढोती है क्योंकि सही प्रमाणपत्र उसके पास होता है। बीज के लेखक ने सर्वत्र पूरे उपन्यास में कम्प्लीकेटेड स्थिति से बचने की ईमानदार कोशिश की है। मनःस्थितियों की डायरी भरने में तो लेखक ने तन्मयता से काम लिया है किन्तु अपने चरित्रों के प्रति वह निष्ठावान नहीं दिखाई देता। उसकी यह असावधानी राज की याद को ताजा बनाये रखती है किन्तु सत्य और उषा हीरो-हीरोइन होने के बावजूद भी कुछ समय पश्चात् पाठकों को याद नहीं आते हैं। वस्तुतः राज यदि 'बीज' में न होती तो यह कृति दूसरे दर्जे पर पहुँच गयी होती।

मार्क्सवादी दर्शन की पुट देकर लेखक ने ग्रन्त में मेहनती और मेहनतकशों की समस्याओं को उभारा है। बुद्धिजीवियों के सवाल को हल करने में पूँजीपतियों ने पैसे का सहारा लिया है। रिवोल्यूशन का नकाब सत्य के बुद्धिजीवी चरित्र को सामान्य बना देता है। घर के संघर्षों में उलझा हुआ व्यक्ति ऊँचे पैमाने पर कितना बड़ा रिवोल्यूशनरी होगा, सभी को पता है। काश सन् ४७ के पश्चात् इस

गौतम गांधी के भ्रष्ट देश को किसी रिवोल्यूशनरी की छाया भी देखने को मिली होती। अमृतराय की यह स्थापना कि प्रत्येक झगड़े का निर्णय जनता करती है, अपने मे एक मजबूत विचार है जिसका वैचारिक महत्त्व है। जनवादी शक्तियों को लोक युद्ध में तत्पर करने के लिए बड़े चातुर्य की आवश्यकता है। अमरीकी पत्रकार एन्नालुईस स्ट्रोंग के साथ बातचीत के दौरान एक बार माओ-त्से-तुंग ने कहा था—'परमाणु बम एक कागजी बाघ है जिसे लोगों को डराने के लिए अमरीकी प्रतिक्रियावादी इस्तेमाल करते हैं। यह देखने मे भयानक मालूम होता है, लेकिन वास्तव में भयानक है नही। इसमे सन्देह नही कि परमाणु बम एक व्यापक संहारकारी अस्त्र है लेकिन युद्ध की हारजीत का निर्णय जनता करती है।' सत्य और उषा की उद्‌भावना के माध्यम से जनशक्ति का सतुलन सम्हालने का प्रयास अच्छा है। साम्यवाद के बुनियादी उसूलों पर लेखक के सारे प्रयास खरे नही उतरते। इसका कारण यह हो सकता है कि साहित्य-सर्जन मे राजनीति का सहारा मात्र लिया गया है। हाँ विचारधारा की शिक्षा समूची लोकशक्ति को एकत्र करने का एक पैना शस्त्र है। वैचारिक दृष्टि से मार्क्सवादी चिन्तन और अध्ययन से लोग पीछे हट गये हैं। बीज के सकेत उस वैचारिक पृष्ठभूमि मे लोक मगल की हितसाधना हेतु एक स्थिति पैदा करते है—यही उसकी सब से बड़ी उपलब्धि है। सुदृढ़ राजनैतिक दशा को लाने के लिए ईमानदारी और जिम्मेदारी की जरूरत है। साथ ही सतत आगे बढ़ने का उत्साह भी होना चाहिए। क्योंकि क्रांति एक हथियारबन्द बगावत और हिंसा से भरी हुई कार्यवाही है इसलिए उसमे प्रीति, दया, शिष्टता, शान्ति जैसे तत्त्वों के लिए वहां कोई गुंजाइश नही। यही कारण है कि बीज का नायक रिवोल्यूशन नहीं करता अपितु केवल उसका संकेत करता है।

खोया हुआ आदमी[२]

कमलेश्वर के इस लघु उपन्यास को एक ही बैठक में आसानी से पढ़ा जा सकता है। प्रकाशकीय घोषणा मे कहा गया है, कि यह एक ऐसे परिवार की कहानी का मार्मिक और सजीव चित्रण है जो आर्थिक सकट के कारण उत्तरोत्तर टूटने की ओर बढ़ रहा था। इस कथन को अतिरंजना की भूमिका मे समझने की कोई गुंजाइश नही है। कारण यह है, कि मार्मिकता और सजीवता इस कृति को जल्दी पढ़वा लेती है। यह तो हुई रीडेबिलिटी (पठनीयता) की बात; किन्तु विचारणीय बात यह है, कि इस कृति की रचना का उद्देश्य क्या है? इसमे मिलने वाली उपलब्धि कितनी है। लोग कहते हैं, कि कमलेश्वर नयी पीढ़ी के सशक्त कथाकार हैं। और यह उपन्यास उन्होंने बड़े शौक से लिखा है। यह बात सुन कर इस उपन्यास को शौक से पढ़ना पड़ेगा और शौक से इसके सम्बन्ध में कुछ कहना होगा।

कलात्मक अभिव्यक्ति से हट कर जब लेखक किसी फर्म से, सरकार से अथवा वचनवद्धना के किसी सौदागर से सौदेबाजी कर लेता है तो उसके लेखन का कोण

---

२. कमलेश्वर

बदल जाता है। अन्दर की बातों का पता लगाना तो व्यर्थ है पर यह बात साफ उभरती है, कि समूची कृति पर छायी हुई नाटकीयता सप्रयोजन है। यदि ऐसी स्थापना से लेखक के प्रति अन्याय होने की सभावना हो तो फिर यह नाटकीयता उसका मैनरिज़म मानी जायगी। जहाँ तक सन्दर्भों की पकड़ और इस्तेमाल का सवाल है, कमलेश्वर का कहानीकार बड़ा सजग और प्रभावशाली है। जाने क्यों उपन्यासों में उनकी वह पकड़ कहाँ गायब हो गयी। वह दर्द नहीं उभरा, वह कला नहीं बोली, वह प्रस्तुति नहीं आयी, जीवन के वे चित्र नहीं बने। पता नहीं कैनवेस (परिसीमा) बड़ा हो जाने से ऐसा हुआ अथवा और कोई कारण है।

वस्तुत हिन्दी उपन्यास ऐय्यारी के इन्द्रजाल से निकलते ही रोमास की चाशनी में डूब गया। विश्रुत और ख्यातनाम लेखक भी प्रति रोमास का ताना-बाना बुनने लगे। यह परिणाम प्रारम्भिक कृतित्व में प्रायः हर लेखक में मिलता है। 'डाक बँगला' का लेखक भी इस प्रवृत्ति से अलग नहीं हो सका। ऐकान्तिक अनुभूतियों को चित्रित करने में लेखक अधिक तन्मयता दिखाता है। हम इस तन्मयता को जीवन की प्राथमिक आवश्यकता मानकर आगे बढ़ते हैं। 'तीसरा आदमी' और 'खोया हुआ आदमी' की रचना का ढर्रा बहुत कुछ वैसा ही है जैसे प्रथम रचना का। जब वैयक्तिकता समाज की गर्मी से, उसके पिछड़ेपन से टूट कर बिखर जाती है तो एक तनावपूर्ण वातावरण अपने आप बनता है और बिगड़ जाता है। जहाँ तक सामाजिक परिवेश का सवाल है, कमलेश्वर ने 'खोया हुआ आदमी' में उसकी समस्या मूलक स्थिति को नजर अन्दाज करके लिखा है। मुझे तारा और समीरा के बीच में हरबस का आना असगत नहीं लगता। यह जीवन का सहज व्यापार है। अस्तु सामाजिक व्याकरण के आधार पर विवाह से पूर्व हरबस और तारा का यौन सम्बन्ध धर्माधिकारियों को अनोखा लग सकता है; किन्तु नमता और समीरा के मौन प्रश्नों की भाषा का दर्द बाँचा नहीं जाता। वस्तुतः हरबस के प्रति पाठकों की सहानुभूति नहीं दिखायी पड़ती।

अपनी व्यक्तिगत और मनचाही यात्रा का सुफल तारा और हरबस दोनों को मिलती है पर यह समाज जिसमें मानवीय गुणों का सर्वथा अभाव है, समीरा और नमता के लिए वेदना का सागर भर देता है।

वैयक्तिक अनुभूतियों या समाजीकरण कभी-कभी जड़ बन जाता है। जड़ता की यह स्थिति इतनी भयावह होती है, कि व्यक्ति का जीना दूभर हो जाता है। कहना न होगा कि कमलेश्वर में कला का यह वैदुष्य पाया जाता है जो जीवन के तीखेपन को और कड़वाहट को भली प्रकार स्थापित कर सके। वे विकल वेदनाओं के सजग पेन्टर हैं। हिन्दी कथा साहित्य में अपने नमूने के वे अकेले लेखक हैं। पेन्टिंग की दिशाएँ और परिस्थितियाँ भिन्नता के आधार पर अलग-अलग हो सकती हैं; किन्तु अन्तरतम से दर्द की जो टीस उभरती है और पाठक के हृदय में एक कविता भरती है वह कमलेश्वर की लेखनी की अपनी देन है।

वीरन के समुद्र में डूबने वाली घटना में कल्पना का रंग रोगन काफी लगा हुआ है। किसी कथाकृति के बीच में इस प्रकार की अनहोनी घटना का परिणाम यह होता है, कि सभी पात्रों का ध्यान वीरन की ओर केन्द्रित हो जाता है। यह स्थिति ऐसी है जिसमें पाठक उलझ जाता है। अनुकूल परिस्थितियों में प्रतिकूलता का स्वांग केवल लेखक रचता हो, ऐसी बात नहीं है, नियति भी ऐसा करती है।

व्यक्ति, परिवार और समाज में से किसे 'खोया हुआ आदमी' का आधार बनाया गया है? यह बात मूलतः स्पष्ट है कि व्यक्ति की हैसियत से नमता, समीरा और वीरन का चरित्र विशेष रूप से उभरता है। पारिवारिक परिवेश में हरबंस, तारा और श्यामलाल का नाम लिया जा सकता है। इन सारे पात्रों से केवल परिवार बनकर रह जाता है। नमता के आने से परिवार की इकाई दहाई में बदलती दिखायी नहीं पड़ती, क्योंकि लेखक ने नमता के चरित्र की रेखाएँ खींची हैं उनमें रंग नहीं भरा है। सीमाबद्धता की शर्त की बात तो मैं नहीं अनुमानता अन्यथा लेखक से पूछता कि भाई नमता के पास वीरन का केवल एक पत्र ही दिखा देते। खैर यह सब नहीं हो पाया। और लेखक अपने पाठकों के मन की करे, आवश्यक नहीं। हाँ इतना कहूँगा, कि यदि लेखक को स्वयं परछाइयों से उलझना पसन्द है तो कोई जरूरी नहीं है, कि उनके पाठक भी परछाइयों से उलझना पसन्द करें।

हाँ तो मैं कह रहा था, कि 'खोया हुआ आदमी' का थीम परिवार से आगे नहीं बढ़ा। इसका यह अर्थ नहीं, कि समाज के परिदृश्य का लम्बा चौड़ा कैनवेस आवश्यक है। एक छोटी और आकर्षक बात पर कहने के लिए बहुत कुछ कहा जा सकता है। कमलेश्वर के लेखक में यह माद्दा भी है। किन्तु आश्चर्य यह देखकर होता है जहाज की घटना लाने से लेखक को कोई विशेष उपलब्धि नहीं होती फिर भी उसने कई पन्ने रंगे हैं। समस्या केवल इतनी थी कि वीरन को गायब कैसे किया जाय? इस समस्या का निदान और भी हो सकता था। तात्पर्य यह कि यदि कभी कमलेश्वर ने ध्रुव प्रदेश की यात्रा पानी वाले जहाज से की होती तो शायद प्रस्तुतीकरण और घटनाओं के रूपबंध में स्वाभाविकता होती। सम्भव है ऐसा कभी हुआ हो किन्तु 'खोया हुआ आदमी' पढ़ कर प्रतीति को सहारा नहीं मिल पाता। आँखों के आगे फैले हुए शून्य के समुद्र को देख कर समीरा अपने में खो जाती है पर ध्रुव-प्रदेश के आसपास लहराने वाले सागर से पाठक का मन नहीं भरता जब कि लेखक ने चौदहवें पृष्ठ से प्रारम्भ करके समुद्र के वर्णन को अन्त तक ढोया है। और यदि कहीं अन्त में नमता के पत्रों की बात न सामने आती तो वीरन के खोने की बात में उतना दर्द न उभर पाता।

कल्पना की रंगीनी में इस उपन्यास का परिवेश यथार्थ की संज्ञाओं से दूर हो गया है। पूरी कृति में लेखन की शिल्प संयोजना की ताजगी मिलती रहती है, इसलिए वस्तु विधान की यह कमी, यथार्थ का स्खलन कल्पना की उपस्थिति में खलती नहीं है। 'खोया हुआ आदमी' पढ़ कर ऐसा नहीं लगता कि किसी ने जीवन

पड़ा है अथवा उसका चित्रण पढ़ा है बल्कि ऐसी प्रतीति होती है, कि जीवन की एक घटना पढ़ी है। वीरन के चित्रण के आगे श्यामलाल और समीरा का चित्रण दूसरे नम्बर पर चला जाता है। फलतः खण्डित चरित्रों के माध्यम से इस कृति में पूर्णता का जो सन्निवेश मिलता है वह कलात्मक परिधि के अन्दर दिखायी पड़ता है।

वीरन के चरित्र के प्रति आकर्षण पैदा करने के लिए लेखक हिम रोग का सहारा लेता है। यह आरोपण सहानुभूति को केन्द्रित करने में असमर्थ है। वर्णन की गतिशीलता का जो रूप यहाँ मिलता है उसी को हम आगे बढ़ने का सहारा बनाते हैं।' 'रोशनी के त्रिकोण' को पकड़ने के लिए अंधकार के चौखटे का सहारा लेना पड़ता है। और बस इसी कारण रिश्तों के अर्थ निकालने में लेखक की उपलब्धि सामने आती है। रिसते घावों की पीर को भूलता है समय। आदर्शों को सब याद रहता है। लेखक ने मूल स्थिति के इस रूप को समझ कर इस बात का ध्यान रखा है, कि 'ज्वाइंट फेमिली सिस्टम' (संयुक्त परिवार प्रणाली) की मान्यताएँ खंडित न हों। इस दिशा में कमलेश्वर का उपन्यासकार बहुत आगे है। विघटनकारी तत्वों का निवेशन न करके एकीकरण का जो नक्शा खींचा गया है उसे देख कर आश्वस्त होने की भूमिका बनती है। ऐसा इसलिए नहीं कि विघटन की दृष्टि हेय है, अपितु इसलिए कि चित्रण की स्थिति फ्लोटिंग (डुलमुल) होने से बच गयी। ऐक्चुअलिटी (वास्तविकता) का रूपांकन कभी-कभी ऐसा हो जाता है, कि वह फिसल कर दूर जा गिरती है। यहाँ ऐसी बात नहीं है। अपने दृष्टिबोध को रूपायित करने में कमलेश्वर टेढ़े-मेढ़े नहीं चलते। उनका ढर्रा सीधा है। वे चित्रण के थाले नहीं बनाते जहाँ अन्दर का मैटर पढ़ने में ताक झाँक करनी पड़े। यहाँ विन्यास की नदी बहती है, जिसमें कुंड की अपेक्षा प्रवाह अधिक होता है। मेरे अपने विचार से धार का पाया जाना ही जीवन की चरम उपलब्धि है। ठहराव न होना ही जीवन है। 'खोया हुआ आदमी' में ठहराव नाम की कोई चीज नहीं पायी जाती है। अपने पाठकों के प्रिय लेखक के लिए यह बहाव वरेण्य है।

मछली मरी हुई[3]

राजकमल चौधरी के लेखक का व्यक्तित्व उनकी मृत्यु के बाद अधिक विशदाकार बना। उनकी रचनाओं में नयी और स्वतन्त्र चेतना का रूप सर्वत्र देखा जा सकता है। समस्याएँ-जीवन-ऊब-संघर्ष-परम्परा और इसी प्रकार की अनेक संज्ञाएँ और आवश्यकता पड़ने पर अनेक सर्वनाम भी जिनका आधार पाकर राजकमल की रचनाओं में निखार आता था। जितनी चर्चा 'मछली मरी हुई' उपन्यास की हुई उतनी 'नदी बहती थी' की नहीं हो सकी। कारण साफ है 'नदी बहती थी' कृति में लेखक लीक नहीं छोड़ सका है जब कि 'मछली मरी हुई' उपन्यास की रचना में लेखक सर्वथा नूतन और अछूते (अनटच्ड) विचारबोध की विविध सरणियों में घुमा है।

3. राजकमल चौधरी

'लेस्बिया'·····अर्थात् समलैंगिक यौनाचारों में डूब गयी हुई स्त्रियों के बारे में, खास कर हिन्दी में बहुत कम ही लिखा गया है—' 'मछली मरी हुई' की रचना के मूल में इस बात का महत्त्व है। बाहरी सब कुछ देखे लेने के पश्चात् व्यक्ति के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वह भीतर का भी सब कुछ देखे। राजकमल ने इस कृति में भीतर पैठने की कोशिश की है—'इस उपन्यास में विषय नहीं है·· विषय प्रस्ताव है······मात्र विषय प्रस्ताव।' व्यापारी निर्मल पद्मावत का परिचय ही लेखक के इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करता है। और पद्मावत कल्याणी और प्रिया के जीवन का जो परिचय कृति के माध्यम से प्राप्त होता है उसमें साफ जाहिर है, कि समग्रता का दृष्टिकोण यहाँ नहीं है। यहाँ है खण्ड का, एक पार्ट का अधूरा या अनपूरा प्रस्तुतीकरण।

निर्मल पद्मावत की जीवन-रेखाओं को रूपायित करने में राजकमल को होमोसेक्सुअलिटी (समलैंगिक यौनाचार) पर आधारित अपनी दो कहानियों (बारह आँखों का सूरज, सामुद्रिक) के मैटर का उपयोग करना पड़ा है। भूमिका भाग के पाँच खण्डों में लेखक ने समलैंगिक यौनाचार सम्बन्धी पुस्तकों का एक खमरा पैदा किया है। उसे परेशानी है यह जानकर कि पुरुषों का समलैंगिक यौनाचार कानून की दृष्टि से गैरकानूनी है; किन्तु स्त्रियों की एतद्‌विषयक प्रक्रियाओं पर कानून का नियंत्रण नहीं है। 'सेक्स एण्ड द ला' पुस्तक के लेखक (मोरिस प्लोसोव) ने स्त्रियों की इस आजादी के विरोध में सवाल उठाया है।

इस प्रकार के मतमतान्तर उद्धृत करके भी राजकमल अपनी कृति द्वारा यह नहीं स्पष्ट कर सके, कि वह कहना क्या चाहते हैं। सम्भव था, कि यदि जीवित होते तो अपनी इस 'विषय प्रस्तावना' के माध्यम से 'विषय' का चित्रण करते। कुछ भी हो इस कृति का उद्देश्य पाठकीय अधिक है, प्रकाशकीय कम। अनुभूति की ईमानदारी पर किसी को सदेह करने की गुंजाइश नहीं है। और साफ बात यह है, कि राजकमल को यह भय नहीं है कि 'ऐसा' लिख देने पर भाई, बहिन, पत्नी, माँ, समाज क्या कहेगा? यही कारण है कि वे इस अछूते विषय पर कलम उठा सके।

यह वही समाज है जिसमें गीता तावीज में मढ़ा कर गले में पहनी जाती है और मन-प्राण यौनाचार की वीथियों में घूमता-फिरता है। दिन में रामनामी दुपट्टा और कमण्डल बाँधा जाता है रात में अपनी इन प्रवृत्तियों को अवकाश दे दिया जाता है। जीवन की इस दुहरी नीति के पर्दाफाश के लिए कुछ ऐसी बात कहनी पड़ेगी जो नहीं कही गयी है। नार्मल (सामान्य) कहने से एब्नार्मल (असामान्य) कहना कठिन है। यदि राजकमल कहते हैं कि *'ये औरतें यौन कार्यों की सुविधा माँगती हैं'*—तो इस बात के पीछे जीवन की रियलिटी का रूप ही सामने रहता है। औरतें, धार्मिक हिन्दुस्तान की औरतें यौन-प्रक्रियाओं में जाने अनजाने तमाम साधनों का प्रयोग करती हैं। इस विषय में राजकमल ने अपने उपन्यास में सब कुछ नहीं कहा। जितना कहने योग्य था उतना भी वह नहीं कह सके। वैभव और सेक्स के मेल से

उत्पन्न विकृतियाँ जो अत्यन्त घृणास्पद हैं निर्मल पद्मावत के चारों ओर फैली हुई है। उपन्यास में एक प्रकार का अधूरापन सर्वत्र व्याप्त है चाहे वह शीरी और प्रिया का समलैंगिक यौनाचार हो चाहे किसी बूढ़े व्यक्ति का ठंडा बिस्तर हो। वस्तुतः राजकमल ने कोई बात कही नहीं है, कहने की कोशिश की है। गहराई की दृष्टि से कल्याणी का चरित्र अच्छा बन पड़ा है। यदि चरित्र के किसी चित्र के साथ लापरवाही दिखायी गयी है तो वह है डॉ० रघुवंश। प्रारम्भ में प्रिया के प्रति पाठक खिंचता है किन्तु आगे चल कर शीरी के चक्कर में लेखक ने अपने पाठकों को बोर किया है। कृति में वैचारिकता का हल्कापन पाठकों को रुकने नहीं देता। वह निर्मल पद्मावत शीरी और प्रिया के जीवन का खिलवाड़ देखता हुआ अन्त की ओर दौड़ता जाता है। मिमेंटो में सोई हुई कल्याणी की याद लेखक को बारबार आती है।

यौनाचार में डूबी हुई एक औरत (कल्याणी) की केवल याद आती है। कारण है—'कल्याणी मेन्दान।' कल्याणी की याद रीडर का मेन्टल फूड नहीं बन पाती है। प्रसगत उस याद के पीछे एक भावना काम कर रही है अतएव विचार के लिए वहाँ अवकाश कम है। क्योंकि उपन्यास का उद्देश्य कमर्शियल (व्यापारिक) नहीं है, इसलिए रीडर ऊबता नहीं। उसे गाँधी, गौतम और टॉलस्टॉय के उपदेश नहीं सुनने पड़ते। वह नारी जीवन का एक वह रूप देखता है जिसके ऊपर नारी ने (पुरुष ने नहीं) पर्दा डाल रखा था।

'मछली मरी हुई' कृति की टेक्स्चुअल एनालिसिस (पाठ्य विश्लेषण) करना ठीक नहीं। । ऐसा इसलिए कि राजकमल ने टेक्स्ट नहीं लिखा। हम इसे सुपर रियलिज्म (अतियथार्थ) का एक रूप कहेंगे। दादावाद (डाडाइज्म) और फ्रॉयड के सगम से जिस विचारधारा का सूत्रपात होता है उसका एक रूप राजकमल में मिलता है। प्रभाव की बात करना बेमानी है। यद्यपि 'मछली मरी हुई' के ऑर्गिनेशन (प्रकरण) के मूल में जहाँ एक ओर लेखक की अनुभूति काम करती है वहीं दूसरी ओर औरतों से सम्बन्ध विशेष रखने वाली सेक्स सम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन भी सहायक होता है किन्तु उपलब्धि का संयोजन कृति की मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये है। शीरी के गाने[1] को पढ़ कर डाली के 'लिम्प वाचेज' और क्लॉक्स के रेखाकन के साथ आन्द्रे ब्रिटन के 'सॉल्युबिल फिश' के विचार ध्यान में आते हैं।

---

१. द क्वायज़ ऑफ़ कैलकटा
ओह, ओह
द क्वायज़ ऑफ़ कैलकटा
दे रियली नो हाउ टू किस
दे नो हाउ टू······
ओह ओह
द क्वायज़ ऑफ़ कैलकटा
दे नो हाउ टू नेट ए फिश
दे रियली नो······

जीवन के सहज सम्बन्धों का एक डिलेम्मा (भ्रमजाल) यहाँ भी मिलता है। कल्याणी डॉक्टर रघुवंश की पत्नी थी। शोरी विश्वजीत मेहता की। 'सप्रीला' में ठहर कर कल्याणी सारे हिन्दुस्तानी प्रवासियों में पॉपुलर थी। मेहता ने शोरी को पाने में अथक परिश्रम किया था। निर्मल ने कल्याणी को पाकर 'कल्याणी मेन्शन' बनवाया। बाद में उसने शोरी को भी अपने उपभोग की सामग्री बनाया। कल्याणी की बेटी प्रिया थी। प्रिया और शोरी का होमोसेक्सुअल (समलैंगिक) सम्बन्ध था। निर्मल ने प्रिया को भी नहीं छोड़ा। कारण बताया जाता है, कि 'शोरी की दोस्ती' में प्रिया भी होमोसेक्सुअल हो गयी थी। 'सेल्फ टार्चर' (आत्म प्रताड़न) के प्रति उसका झुकाव लेखक ने पहले ही बता दिया है। निर्मल ने उसके साथ बलात्कार कर के कहा—'प्रिया तुम्हें निर्मल पचावत की ताकत का पता नहीं है।' इस जंगली प्रक्रिया के अन्तर्गत 'प्रिया को उसकी बातें सुनने का होश नहीं था। उसे गश आ गया था। उसके होठों में शराब की भरी बोतल फँसा कर निर्मल उसे बार-बार होश में लाता था। होश में आने पर वह बड़ी पागल हँसी हँसती थी और कहती थी, "और करो······अभी मैं जिन्दा हूँ। अभी मैं होश में हूँ···" और क्षण भर बाद फिर बेहोश हो जाती थी।'

मछली मर जाने के पश्चात् जल भरना और बरसात होना कोई अर्थ नहीं रखता। यद्यपि 'दुलहिन' के समान शोरी निर्मल के पास आने का प्रयास करती है, आती है; किन्तु सब कुछ निःशेष हो जाने के पश्चात् केवल 'करुणा' बचती है। कला संचेतना और भाषा के खुले प्रयोगों ने इस कृति के शिल्प-कौशल को जो दिशा दी है वह नयी पीढ़ी के लिए एक नयी चीज है। वैयक्तिक मन-क्रीड़ा की डायरी के जो पृष्ठ यहां उपस्थित किए गये हैं उनमें व्यक्तिगत बोध और सहज अभिव्यक्ति का टकसाली रूप राजकमल के उपन्यासकार को दौड़ में बहुत आगे कर देता है।

फिर प्रश्न हो सकता है कि क्या जीवन की प्रत्येक घटना, घटना का प्रत्येक रूप, अन्तरंग नग्नता, मदन प्रसगों की सहज प्रवृत्तियाँ (जिन्हें धर्म धुरीण अश्लील कहते हैं) साहित्य का विषय बन सकती हैं? अच्छा हो कि इसका निर्णय कलाकार पर छोड़ दिया जाय; क्यों कि सामान्य व्यक्ति दस आदमियों के सामने पटरी से उतरना नहीं पसद करता, अकेले में वह जाने क्या-क्या करता है। हाँ यह बात अनिवार्य है उपन्यासकार के लिए कि उसे इस बात की समझ हो कि जीवन का—सच्चे जीवन का कौन सा रूप साहित्य का विषय बन सकता है। 'मछली मरी हुई' कृति को पढ़ कर ऐसा लगता है कि राजकमल को इसकी पहचान है।

मसीही दवाखाना बनाम भूखी पीढ़ी[1]

•

कन्हैयालाल ओझा

"कॉलेज स्ट्रीट के नये मसीहा" श्री शरद देवड़ा की एक महत्त्वपूर्ण कथाकृति है। महत्त्वपूर्ण इसलिए नहीं कि कथाकृति है, बल्कि इसलिए कि वह नव-साहित्य की, खासकर बंगला नव-साहित्य की अद्यतन पीढ़ी का, जो अपने आपको भूखी पीढ़ी कहलाना पसन्द करती है, एक साथ ही परिचय-पत्र, घोषणा-पत्र, संविधान और कार्य-विवरण आदि प्रस्तुत करती है। देवड़ा का इस पीढ़ी के साथ केवल मात्र घनिष्ठ परिचय ही नहीं, यानी इस पीढ़ी का 'यह सब देखा या सुना हुआ नहीं, भोगा और झेला हुआ है', इसके अलावा लेखक ने कहा है, "इस कृति के सभी पात्र जीवित लेखक हैं।" अतः इसकी प्रामाणिकता के बारे में संशय नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त ईमानदारी—कम-से-कम साहित्य के प्रति—इस पीढ़ी की आवश्यक शर्त कही गई है। अतः इस कृति के व्याज से इस पीढ़ी की साहित्यिक गतिविधि की विवेचना करना अयुक्तिसंगत न होगा।

कॉलिज स्ट्रीट मध्य कलकत्ता की निराली जगह है। बौद्धिक वातावरण के फलस्वरूप यहाँ यूनिवर्सिटी, कॉलिज, लाइब्रेरियाँ, पुस्तकों के दो रूप, प्राचीन सस्ती-महँगी पुस्तकों की फुटपथिया दूकानें, कॉफी हाउस आदि अपनी सम्पूर्ण अर्थवत्ता में यथास्थान बस्था है। होटल, रेस्त्राँ और पान की दूकानें तो सारे कलकत्ता में बिखरी पड़ी हैं। साहित्यिक और बौद्धिक पीढ़ी का यह सचमुच मक्का है। इसके अलावा जिसकी चर्चा इस कृति में प्रत्यक्ष नहीं है, वह है यहाँ के मेडिकल कॉलिज अस्पताल के इर्दगिर्द का चिकित्सालई वातावरण। ईथर-गैस-फिनाइल-टिंचर आदि की गन्ध से भरी हवा, रोगियों का हुजूम, अंग्रेजी देसी दवाइयों की दूकानें, और वैसे ही फुटपथिया डॉक्टर—शायद इसी सबको मद्दे नजर रखते हुए देवड़ा ने पुस्तक के नायकों को 'नये मसीहा' का सम्बोधन दिया है। ये मसीहा इस बीमार समाज के—या केवल-मात्र बीमार साहित्य के मंगल की कहाँ तक आशा देते या दे सकते हैं, यही हम यहाँ देखना चाहेंगे।

---

१. कॉलिज स्ट्रीट के नये मसीहा—शरद देवड़ा

साहित्य और जीवन दो जुदा चीजें हैं, इसे समझने के लिए किसी गहरी अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा नहीं है। जीवन का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, इस पृथ्वी की परिधि के बाहर भी उसकी प्रचुरता की सभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। अवश्य साहित्य के बारे में भी इस प्रकार की कल्पना के लिए कोई रोक या आपत्ति नहीं प्रस्तुत की जा सकती, किन्तु तब भी एक जीवन की पृष्ठभूमि में ही साहित्य की सीमाएँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। जीवन के प्रारम्भ होते ही साहित्य नहीं आ जाता, यद्यपि साहित्य के लिए जीवन एक अनिवार्य शर्त है। अतः जीवन के लिए साहित्य के प्रयोजन को तो समझा जा सकता है, किन्तु जहाँ 'जीवन एक मात्र कविता के लिए समर्पित है' भूखी पीढ़ी के इस दावे में सशय पैदा हो सकता है। फिर भी यदि कोई साहित्यकार अपने जीवन के समस्त प्रयोजन को साहित्य के प्रति निवेदित कर देने की बात कहे, तो चौंक उठने की संभावना के बावजूद, सहसा उस पर विश्वास न कर पाने के लिए किसी को नवीनता के नाम पर भी दोष नहीं दिया जा सकता। नए मसीहाओं का यह दावा पुस्तक में जगह-जगह दुहराया गया है। इस पीढ़ी के 'भूखी'—नामकरण के साथ इस दावे का क्या मेल है यह कहना कठिन है। यह भूख दैहिक है या मानसिक, इसका भी कोई आभास पुस्तक में नहीं है, सिवा इसके, जैसा कि पृष्ठ ३४ पर कहा गया है कि 'हमारे देश की परिस्थितियों में अगर कोई नया आन्दोलन जन्म ले सकता है तो उसका नाम "भूखी पीढ़ी" ही हो सकता है'—इसमें 'हमारे देश की परिस्थितियाँ' 'नया आन्दोलन' और 'भूखी पीढ़ी' तीन तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं। भूखी पीढ़ी आन्दोलन के समकक्ष इंग्लैंड में 'एंग्री' तथा अमेरिका में 'बीटनिक' आन्दोलन हैं, जिसका कारण वहाँ की 'एफ्लुएंट' सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियाँ बताई गई हैं। कारण के इस विश्लेषण में यदि कुछ तथ्य हो तो कारण की भिन्नता के फलस्वरूप आन्दोलन का स्वरूप भी भिन्न होना चाहिए, किन्तु भूखी पीढ़ी का यह साहित्यिक आन्दोलन, यदि इसे आन्दोलन कहा जाए, स्वरूप और व्यवहार में एंग्री और बीटनिक आन्दोलन से तनिक भी भिन्न नहीं है। हो भी कैसे सकता है जबकि इस नई पीढ़ी का आदर्श 'हमारे युग का सबसे बड़ा ऋषि और महानतम कवि एलेन गिन्सबर्ग हो।' तब हमारे देश की परिस्थितियों पर इस आन्दोलन के कारण का भार कैसे लादा जा सकता है? और हमारे देश की परिस्थितियाँ यदि इस नए आन्दोलन का कारण नहीं हैं, तो क्या यह नया आन्दोलन केवल मात्र नएपन के लोभ में एक विदेशी हलचल की सस्ती-सी नकल नहीं है? विदेशों में चूँकि एक युवक-सम्प्रदाय, जो वहाँ की एफ्लुएंट सामाजिक स्थिति के कारण आर्थिक परिस्थितियों से अघाकर सेक्स और आचरण की उच्छृंखलता के लिए नैतिक नियम तथा कानून की अवहेलना करके एंग्री, और सामाजिक तिरस्कार के फलस्वरूप बीट कहलाकर गौरव अनुभव करता है, इसलिए भारत का बौद्धिक युवक भी कुछ 'नया आन्दोलन' कह कर उच्छृंखलता में इस दौर में पाँचवा सवार क्यों न बन जाए? यदि वह सचमुच भूखी पीढ़ी का मसीहा होता तो सेक्स, गाँजा-चरस, अफीम, शराब और आवारागर्दी का उसके सामने महत्व दरकिनार रहा, प्रश्न भी नहीं होता, यों भारत में भूखी

पीढी का मसीहा बनने के लिए न साहित्य मे क्षेत्र की कमी है, न समाज, या धर्म या राजनीति मे।

भूखी पीढी के सम्बन्ध मे आगे कहा गया है कि 'इस शब्द का सम्बन्ध केवल शरीर और पेट की भूख से नहीं' यानी उससे तो है ही। उसके आगे 'हम लोग साहित्य, कला, शिल्प······सब कुछ का भक्षण करना चाहते हैं'—और उनके हिसाब मे साहित्य क्या है ?—'जीवन के सभी अच्छे-बुरे पक्षो को, और देश-विदेश के साहित्य शिल्प और कला को चबाने के बाद अजीर्ण हो जाने पर हम वापस उगल देते हैं, वही साहित्य है।' (पृ० ३५) यदि यही उनका साहित्य है तो देश की बेचारी परिस्थितियो के मत्थे कैसे इसकी जिम्मेदारी मढ़ी जा सकती है ?—यह स्थिति देख कर यदि कोई निष्कर्ष निकाले कि यह आन्दोलन केवल एक फैशन है, विदेशी साहित्य का अन्धानुकरण मात्र है इसलिए कि उसमे आज के पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त युवक को अपनी उच्छृखल मनोवृत्ति को तुष्ट करने का अवसर मिलता है, तो क्या गलत है ?—'यदि आपको उसमे दुर्गन्ध आती है ······उसमे आपको नैतिकता या मौलिकता नजर नहीं आती', तो वे साहित्यकार क्या कर सकते हैं ? 'उसको देखकर यदि आपके संस्कार-प्रिय मन मे 'हॉरर' पैदा होता है तो वे' समझते हैं कि अपने उद्देश्य मे वे सफल हो गए हैं। दरअसल 'वे' नवलेखन की सबसे पहली शर्त इस 'हॉरर' को ही मानते हैं। सार्त्र, कामू और हेमिंग्वे उनके लिए सेकड ग्रेड के लेखक हैं। उनके आदर्श है काफ्का एलेन रोब्ब ग्रिल्ले और सैम्युएल बैकेट······नॉरमन मेलर, विलियम, बरोज और जैक कैरुआक और हाँ, एलेन गिन्सबर्ग······'

भूखी पीढी के साहित्य की पहली शर्त यदि हॉरर ही हो तो यह हॉरर कितना सस्ता और कितनी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है और किया जाता है यह बताने की आवश्यकता नहीं है। आदर्श के रूप मे जिन लेखको के नाम ऊपर गिनाए गए हैं उनके साहित्य से हॉरर की भावना अवश्य पैदा होती है, किन्तु वह 'जीवन के सभी अच्छे-बुरे पक्षो को, और देश-विदेश के साहित्य, शिल्प और कला को चबाने के बाद अजीर्ण हो जाने पर' वापस उगले हुए साहित्य का हॉरर नहीं है। पाश्चात्य साहित्य के हॉरर, न्यूसा, कैआॅस, एब्सर्डिटी आदि तत्वो के मर्म के बारे में हम आगे विचार करेंगे, किन्तु यहाँ भूखी पीढी के साहित्य-विषयक इस इजहार से यह शका उठ सकती है कि क्या इन मसीहाओं ने इन आदर्श लेखको के साहित्य का मर्म भी समझा है, या खाली नाम सुनकर फैशन के तौर पर ही झण्डा बुलद कर दिया है ? कोई यदि कुछ है तो वह हॉरर की स्थिति पैदा कर सकता है, और यदि भूखा है तो बेहिसाब निगल कर 'वमन'। पर तब भूखी पीढी की पहली शर्त हॉरर की जगह यह 'वमन' क्यो न हो ?

बगाल मे जहाँ कि यह भूखी पीढी अवतरित हुई है, साहित्यकारों की आर्थिक दशा हिन्दी लेखकों की अपेक्षा अच्छी है, यह स्वयं पुस्तक मे स्पष्ट किया गया है। स्वय पुस्तक के लेखक शरद देवडा मेरे निकटतम मित्रों में से हैं। कवि, उपन्यासकार और आलोचक के अलावा वे एक सम्पादक और प्रकाशन-सस्था के स्वामी भी हैं।

कृति के पात्रों मे ही एक आवारा सोडमाइट जमीदार कुमार भी है। तब इनकी यह भूख पेट की भूख हो इस पर तो विश्वास नही किया जा सकता। ज्ञान की भी यह भूख नहीं हो सकती, क्योंकि देश-विदेश सब तरह का साहित्य यह चबाए हुए है। अवश्य तब वह भूख मुख्यरूप से जिस्म की ही भूख है, जो उनके साहित्य और आचरण दोनों मे समान रूप से व्यक्त होती है। और तब कोई यह भी कह सकता है कि उनका जीवन साहित्य के लिए नही, वरन् साहित्य ही जीवन के लिए प्रयुक्त किया जाता है, और वह भी जीवन को एक सामान्य-सी पाशविक-स्तर की भूख को शमन करने के लिए। *यदि उनका लिखा हुआ इस किस्म का साहित्य बिकता नही, और इसलिए व्यवसायी प्रकाशक उसे प्रकाशित करने के लिए तैयार न हो तो यह दोष उस साहित्य को न देकर प्रकाशकों या खरीददार-पाठकों पर कैसे थोपा जा सकता है?* और भूखी पीढ़ी के ये लेखक साहित्य 'क्यों लिखते हैं, यह प्रश्न उतना ही बेतुका है, जितना यह पूछना कि ये पेशाब क्यो करते हैं, या खाना क्यो खाते है? लिखना इनके लिए सहज स्वाभाविक कर्म है।—क्या इन शारीरिक क्रियाओं का कोई मकसद होता है?—साहित्य का भी कोई मकसद नही होता, साहित्य का मकसद खुद साहित्य है।' (पृ० ६७)—अब कोई कैसे इन लोगों को बताए कि इन शारीरिक क्रियाओं का मकसद होता है, और काफी महम मकसद होता है यह शरीर-विज्ञान का अदना-सा विद्यार्थी भी जानता है। साहित्य को इन स्वय चालित अनिवार्य शारीरिक-*क्रियाओं के तालमेल मे प्रस्तुत कर ये लेखक शायद पाठकों को यह विश्वास दिलाना* चाहते हैं कि ये अभिमन्यु माँ के गर्भ से ही साहित्य अपने साथ लिए आए थे, फिर जन्मघुट्टी की तरह जन्म दिन से ही निगलते-उगलते रहे हैं और अन्तिम साँस तक यह सहज-स्वाभाविक कर्म चलता रहेगा। साहित्य के प्रति इनका डेडिकेशन कितना थोथा हो सकता है यह भी इनकी उस उक्ति से स्पष्ट है 'हमारी तत्काल-पूर्व पीढ़ी के ये लेखक साहित्य से भी इसी तरह चले जाएँगे।'······'अभी कॉफी हाउस में जो चार-पाँच बन्धु आपबीतियाँ सुना रहे थे, वही हमारी तत्काल-पूर्व पीढ़ी के नेता हैं। यों इन्हे भी लिखते अभी पाँच-सात साल ही हुए हैं, लेकिन उनमे अब वह प्रारम्भिक उत्साह नही रहा। अब ये नेतागिरी अधिक करते हैं, या इस फिराक मे रहते हैं कि *किस तरह व्यावसायिक पत्रिकाओं मे प्रवेश पा सकें। अब इनमें लिटिल मैगज़ीन्स निकालने के प्रति भी वह जोश नही रहा।'*

यों, साहित्य को ये कोई बड़ी उपलब्धि भी नहीं मानते। वे कहते हैं, 'इतिहास साक्षी है कि साहित्य ने कभी दुनिया का नक्शा नही बदला, साहित्य से कभी देश मे क्रान्ति नही हुई है, जब कभी दुनिया का नक्शा बदला है तो तलवार के जोर से, किसी देश में क्रान्ति हुई है तो ताकत के बल पर। साहित्य से इन सबकी माँग करना एब्सर्ड है। हम इंटेलेक्चुअल हैं, शब्दों के बाजीगर हैं, इसलिए खुद के साथ-साथ दुनिया को धोखा दे लेते हैं कि साहित्य बड़ी चीज है, एक ऊँची चीज है।'

बीट आन्दोलन का जन्म अमेरिका के सेन फ्रान्सिस्को नगर की आर्ट गैलरी में सन् १९५५ में हुआ था, जबकि यह नाम बहुविध प्रवृत्तियों वाले कुछ विद्रोही

साहित्यकारों के असंगठित समूह को एक गद्यलेखक जैक कैरुआक ने दिया था। समानताओं की अपेक्षा इस समूह के सदस्यों में असमानताएं ही अधिक हैं, रुचि, प्रवृत्ति, विचार और आचरण की ही नहीं, उमर की, जिसमें बीस से लगाकर पचास वर्ष की उमर तक के व्यक्ति भी शामिल हैं। सामान्य रूप से बीट जैनरेशन से तात्पर्य एक ऐसे व्यक्तियों के समुदाय से लिया जाता है जिसके जीवन-यापन के कुछ विशिष्ट तरीके हैं। वे अमरीकी मध्यवित्त जीवन-प्रणाली की आस्थाओं और मूल्यों के विपरीत आचरण करते हैं, लैंगिक-आचरण के सभी विहित-निषिद्ध प्रकारों को मान्यता देकर उनमें प्रवृत्त होते हैं। उनका झुकाव जाज़-संगीत की ओर है और बुद्धधर्म की जापानी छाप की जेन-धारा के रहस्यवाद में उनकी उन्मुखता है। अपने अचेतन को प्रबुद्ध करने के लिए वे अफीम, गांजा, चरस और एल. एस. डी. जैसे मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। राजनीति या सामाजिक और नागरिक जीवन की जिम्मेदारियों से बचे रहते हैं, उसी तरह राष्ट्र या समाज द्वारा निर्धारित शैक्षणिक, धार्मिक या सांस्कृतिक सभी संस्थाओं का विरोध करते हैं। उनमें सभी जिम्मेदारियों से मुक्त, बोहीमियन (आवारा), जाज़-संगीतज्ञ, कलाकार, लेखक, कवि, कॉलेज के छात्र, विस्थापित व्यक्तित्व वाले लोग हैं। पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति के कारण जीवन में विलास और ऐश्वर्य बढ़ा है, फलस्वरूप वहां जीवन में संयम और सदाचार छूटी लेता जा रहा है, खास कर नारी के जीवन में संयम के अभाव से, पारिवारिक जीवन में विश्वास, शांति और निर्भरता नहीं रह सकती। शक्ति का पुंज युवकवर्ग सहज ही थोड़े से मतलब-परस्त लोगों के फुसलाने से ही उनके हाथ का खिलौना बन जाता है और वही उच्छृंखल शक्ति निर्माण की जगह नाश का मार्ग पकड़ लेती है। युवकों की यह उच्छृंखलता साहित्य के क्षेत्र में बीट या एंग्री के रूप में ही नहीं, अन्य सामाजिक क्षेत्रों में हिप्पी, मॉड, रॉकेट आदि के रूप में सभ्य समाज का सिरदर्द बनती जा रही है। वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप जहां प्राचीन व्यवस्थाओं और मूल्यों का विघटन हुआ है, वहां नयी सामाजिक संरचना या तदनुकूल मूल्यों की स्थापना के अभाव में वहां का जन-जीवन दिग्भ्रमित हो उठा है। इसके अलावा संहार के भयंकर शस्त्रास्त्रों की होड़, व्यक्ति के ऊपर समाज और राष्ट्र की जकड़ मस्तिष्क-शोधन या अन्य ऐसे ही प्रकारों से विकट होती जा रही है। पश्चिम का आज का नया साहित्य उस समाज के हॉरर, ग्लूम या नैतिक नियमों की एब्सर्डिटी में भरे ऐसे ही कैआॅस का इजहार करता है, वह अल्लम-गल्लम, सड़ा-गला भकोस कर उगली हुई वमन का हॉरर नहीं है। सार्त्र, कामू या हैमिंग्वे ही नहीं, काफ्का, सैम्युअल बैकेट, विलियम बरोज आदि लेखक भी (ध्यान रहे इनमें कोई भी बीट जैनरेशन का प्रेरक नहीं है) अपने साहित्य के द्वारा इस बहुविध कैआॅस का कोई एक या एकाधिक प्राम्पेक्ट आक्रमण के लिए चुन लेते हैं, और समाज में फैले उस घाव को, सड़ांध को (अपने भीतर की सड़ांध को नहीं) पाठकों के सामने उघाड़ कर रख देते हैं ताकि समाज के रक्षक उस छिपी मवाद का उपाय कर सकें। समाज में मनुष्य के अलगाव

और नैतिक-दायित्व में उसकी स्वाधीनता को लक्ष्य रख कर अल्बेयर कामू और ज्याँ पॉल सार्त्र ने अपनी साहित्य-रचना की है। आधुनिक समाज मनुष्यता की सामान्य आवश्यकताओं को भी किस तरह पूरी नहीं कर सकता, यह बोरिस पेस्तरनाक और सॉल बेलो के साहित्य से पूरी तरह समझ में आ जाता है। जॉर्ज ऑर्वेल अपने प्रसिद्ध उपन्यास '१९८४' के द्वारा यह प्रतिपादित करते हैं कि तानाशाही और अधिनायकवाद गणतंत्र की जड़ें खोखली कर देते हैं। एल्बर्टो मोराविया ने यह बताने की चेष्टा की है कि समाज को वर्तमान नैतिक संरचना में मानव की जैविक-अपेक्षाओं के सम्बन्धों का निर्वाह असम्भव है। यूजिन इओनेस्को और सैम्युयल बैकेट की रचनाओं का उद्देश्य यह बताना है कि इस विश्व के रहस्यों की स्वीकार्य-व्याख्या के अभाव में मानव अस्तित्व नितांत एब्सर्ड, बेमानी है। जबकि जेम्सपर्दी और राल्फ एलिसन जैसे समर्थ लेखकों का ओजस्वी साहित्य मानव की निस्संगता और अकेलेपन के खिलाफ मोर्चा लेता है और इस केऑस, अव्यवस्था के बावजूद उसके जीवित रहने के अधिकार की विजय-घोषणा करता है।

केऑस, हॉरर, ग्लूम, एंग्विश, आदि शब्दों के मोह के बावजूद भूखी पीढ़ी का साहित्य सामाजिक बोध का साहित्य नहीं है। एलेन गिन्सबर्ग के लिए इस पीढ़ी में उत्साह का कूम नहीं है। 'हमारे युग का सबसे बड़ा ऋषि और महानतम कवि' की विश्वविख्यात कविता 'हाउल' जब पहले-पहल पुस्तकाकार प्रकाशित हुई तो उसकी तीन सौ प्रतियाँ भी नहीं बिकीं लेकिन जब हाउल पर मुकदमा चला तो उसकी इतनी चर्चा और पब्लिसिटी हुई कि एक महीने के भीतर पचहत्तर हजार प्रतियाँ बिक गईं। यानी यह है 'हाउल' की लोकप्रियता का राज—'वह कविता लिखता नहीं, जीता है, और उस जिए हुए क्षण की अनुभूतियों के वासी होने के पहले, बल्कि उसी स्थल पर कागज पर उतार लेता है...यही कारण है कि उसके कथ्य में जहाँ ताजगी और ईमानदारी होती है...उसकी कविताएँ उसकी अनुभूति के उस विशिष्ट क्षण की दिमागी तरंगों का वास्तविक प्रतिरूप होती हैं...अफीम या गांजा पीते हुए अथवा सड़क पर चलते हुए जब भी स्वयं को सिद्धावस्था में महसूस करता है, चेतना के दूसरे स्तरों पर पाता है, तभी अपने दिमाग की विचार तरंगों को नोटबुक में लिख लेता है...(पृ० ४४)...जब वह किसी वेश्या के पास भी जाता था, तो जब लड़की उठकर नल के पास चली जाती, वह पीछे से उसी दिगम्बरी अवस्था में शिथिल हाथों से चार अंगुली डायरी निकालता और जल्दी-जल्दी घसीट कर लिखने लगता। एक सर्जन की दृष्टि आपरेशन थियेटर पर लेटी हुई औरत के उसी अंग पर केन्द्रित रहती है, जहाँ उसे चीर फाड़ करनी है, उसी तरह गिन्सबर्ग की निगाह सदा अपनी कविता पर रहती थी। (पृ० ४७)। देखने-सुनने में सचमुच ये बातें अच्छी लगती हैं, किन्तु बिना भावों की चेतना में अपने आपको खोए अनुभूति की सम्पूर्णता प्राप्त की जा सकती है इसे कौन स्वीकार करेगा? इमोशन्स (आवेग) सब्जेक्टिव होते हैं, उस गहराई में आब्जेक्टिविटी नहीं रह पाती। यदि कोई आब्जेक्टिव रहकर, अनासक्त

रहकर अपनी अनुभूति का बखान करता है तो या तो वह अनुभूति अपूर्ण है, या फिर वह अभिव्यक्ति ईमानदारी का इजहार नहीं है।—'गिरा नयन बिनु, नयन बिनु बानी' तो शायद इन साहित्यकारों के लिए बेमानी है।

कहा जा चुका है कि इन मसीहाओं का गिन्सबर्ग जैसे ऋषियों के नक्शेकदम पर चलने का आग्रह किसी सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक कारणों से नहीं, प्रत्युत महज अंधानुकरण ही है। अगर ऋषि और महाकवि गिन्सबर्ग होमोसेक्सुएलिटी के समर्थन में एक दूसरे गायक लड़के पीटर ऑर्लोवस्की को अपनी पत्नी बना कर साथ रख सकता है तो क्या भूखी पीढ़ी का एक अमीरदार युवक छात्र रोबी को लेकर इसी तरह उसके 'भालो-बासा' के लिए रिरियाता नहीं? यदि गिन्सबर्ग अमेरिका में अपनी कविता 'हाउल' के पारायण के समय श्रोताओं के प्रश्न करने पर नंगा हो जा सकता है तो उस तरह नूरजहाँ होटल में दर्शकों के सामने कर्मचारियों के द्वारा टोक दिए जाने पर ये ऑफरली मर्न्ड स्ड होकर क्या भोजनागार में प्रवेश करने के लिए उद्यत नहीं हो जाते? और नशा?—गिन्सबर्ग-समुदाय 'नशा जरूर करते हैं, सब तरह का नशा, जिनमें अफीम और गांजा उन्हें विशेष प्रिय है।'—हमारी भूखीपीढ़ी न केवल अफीम और गांजा, बल्कि शराब—विलायती और देशी ठर्रा भी—बड़े प्रेम से पीती-पिलाती है।

और उनकी वेशभूषा और रहन-सहन, जिसका कसरत से ढिंढोरा पीटा जाता है? 'दो-तीन पायजामे और कुरते तथा दो हाफ पैंटों से उनका काम चल जाता है। धोबी का भी खर्च नहीं, पांच-सात दिन में वे स्वयं इन्हें धो लेते हैं.. न उन्हें नाई की जरूरत होती है और न ब्लेड रेजर, साबुन तेल या स्नो-पाउडर की। सिनेमा देखने का शौक नहीं और न अच्छी चीजें खाने की कोई तमन्ना।' इस जीवन-प्रणाली को भी अख्तियार करने में भूखी पीढ़ी इतनी उदग्र है कि इच्छा न होने पर भी बरबस इस आवर्जना और गन्दगी को वे गले लगा लेते हैं। गिन्सबर्ग के गन्दे आवास में इन लोगों को इतनी घुटन महसूस हुई थी कि जब वे वहां से निकल आए तब 'भोर की शीतल हवा में हमें सुकून सा महसूस हुआ। पांच-सात बार फेफड़े भर हमने गहरी सांसें लीं।'...और आगे, 'भीतर की गरमी, घुटन और शोर-शराबे के बाद इस ठंडी हवा और शीतल बूंदों का स्पर्श बहुत भला लगा।' और यदि प्रतिबद्ध व्यक्ति ही उस वातावरण में घुटन महसूस करते हैं, तो सामान्य जन और पाठक की बात ही क्या है? अवश्य, आदत के बाद तो कैसा भी जीवन आदमी को रास हो ही जाता है। आखिर मक्खियों और रोग के कीटाणुओं का भी एक जीवन होता ही है, जो घाव की पीब या नाबदान में ही फलता-फूलता है। स्वच्छता और स्वास्थ्य उनके लिए गन्दगी और रोग का कारण होते हैं। शायद कुछ ऐसा ही तथ्य हो कि जिस चीनी रेस्तरां में सपत्नी गिन्सबर्ग स्वाद ले लेकर सब्जियाँ चबा रहा था वहां बचे-खुचे स्वस्थ संस्कारों के कारण भूखी पीढ़ी के इन साहित्यकारों को वह खाना बिलकुल नहीं पसन्द आ पा रहा था। 'उस सब्जी और पुलाव में, बेबिन के

फर्नीचर और दीवारों में, बल्कि पूरे रेस्त्रां में ऐसी दुर्गन्ध व्याप्त थी जैसी किसी सड़ती हुई लाश से निकला करती है।' और 'गिन्सबर्ग बता रहा था कि इस चीनी भोजन के कारण ही उनका हिन्दुस्तान में रहना सम्भव हो पा रहा है, अन्यथा दो दिन में ही वे बीमार हो जाते।' बलिहारी है इस अन्ध-भक्ति की कि तब भी वही जीवन उनका आदर्श बना हुआ है।

यों तो संस्कारों के इस प्रभाव को भूखी पीढ़ी इनकार नहीं कर पाती, किन्तु जहां चेतना के स्तर पर उन्हें संस्कारों के प्रभाव की बात कही जाए तो वे बौखला उठते हैं। इसीलिए वे हिन्दी के एक सम्मानशील आलोचक-बन्धु के 'बाहरी व्यवहार में प्रदर्शित परम्परागत संस्कारों और साहित्य के सम्बन्ध में उनके आधुनिक विचारों का विरोधाभास' नहीं समझ सके। उस पोंगापंथी बनारसी पंडित को सूझ-समझ और आधुनिक विचारों को सुनकर आखिर उन्हें अपने आपको कोसना क्यों पड़ा? कारण इतना दूर भी था नहीं। उनके मन के भीतर ही तो था। जो उन्हें दिखाई नहीं दिया, वह सचमुच विरोधाभास था, विरोध नहीं। लेकिन इसे स्वीकार करने लायक खुला मन इस पीढ़ी के पास कहां?

साहित्य और कला के क्षेत्र में यह एक तरह से प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज्म) का पुनर्वर्तन है, जिसने समाज में चितेरे कलाकारों को दो खेमों में बांट दिया था: एक तो नव-बोहेमियन और दूसरे पाश्चात्य सभ्यता से घबरा कर एक दूसरे मनोलोक में रुचि रखने वाले। इसमें कुछ अधूरे अस्तित्ववाद को मिला दीजिए और बीटनिक या भूखी पीढ़ी का जीवन-दर्शन तैयार है। बाहरी आचारगत, और संस्कारों से भटका हुआ मानसिक-आचारगत जब अभिव्यक्त होना चाहे तो अवश्य ऐसे विचित्र कलाकारों में अभिव्यक्त होंगे जो अधिकांश समाज को अद्भुत और अटपटे लगेंगे। दोनों दलों का यह संघर्ष और सभ्यता से पलायन, रूमानी अवधारणाएं और निपट व्यक्तिवाद की देन है। पलायन की यह भावना सबसे सशक्त रूप में फ्रांस के प्रख्यात कवि बादलेयर और उसके शिष्य आर्थर रिम्बा के काव्य में व्यक्त हुई है। प्रस्तुत कृति के एक और मसीहा, गिन्सबर्ग का आदर्श यही आर्थर रिम्बा है। समाज से असन्तुष्ट इन बोहेमियनों का उद्देश्य अपने भीतर की हर उस वस्तु को नष्ट कर देना था जो समाज के किसी भी काम आ सकती हो। सन् १८४५ में बादलेयर ने अपने एक पत्र में लिखा था, 'मैं अपने आपको नष्ट कर रहा हूं इसलिए कि मैं दूसरों के लिए अनुपयोगी और अपने आप के लिए खतरनाक हूं।' और अपना दैन्य ही उनके शोक का कारण नहीं, दूसरों का सुख भी उन्हें अभिमानसम्पन्न और कष्टपूर्ण लगता है। बाद के दूसरे पत्र में बादलेयर लिखता है, 'तुम सुखी हो, इसलिए महाशय, तुम्हारे लिए मुझे अफसोस है। तुम इतनी आसानी से सुखी हो। अपने-आपको सुखी मानने के लिए मनुष्य को बहुत ही पतित होना पड़ता है।' कलाकारों के बारे में चेखव की एक कहानी का नायक यह पूछे जाने पर कि वह जीवन ऐसे क्यों बिताता है, जवाब देता है, 'मेरा जीवन इसलिए ऊब, शोक और घुटन से भरा हुआ है कि मैं एक पेंटर हूं,

एक अजीब मछली हूँ, सारे जीवन में ईर्ष्या, असन्तोष और अपने कार्य में अविश्वास से भरा रहा, मैं सदा गरीब और आवारा रहा हूँ। किन्तु तुम एक औसत, धनी, सभ्य व्यक्ति, जमीन के मालिक हो। तुम इस तरह पालतू की तरह जीवन बिता कर जीवन से इतना कम क्यों उगाहते हो?' लेकिन इस सबके बावजूद जीवन कितना बड़ा नरक हो सकता है यह शायद विजनन्दा का जीवन नहीं, स्वयं उनके आदर्श *रिम्बा का जीवन है। रिम्बा ऐसी उदग्र काव्य प्रतिभा का धनी था कि सत्रह वर्ष* की अवस्था में ही उसने अमर काव्य की सृष्टि की, और उन्नीस वर्ष की अवस्था तक तो उसने काव्य-रचना को एकदम तिलाञ्जलि दे दी। जिसे सचमुच ही कई विद्वान आधुनिक काव्य का जनक कहते हैं वह उसके बाद कभी भूल कर भी अपने पत्रों तक *में काव्य या साहित्य का जिक्र नहीं करता। जीवन में वह एक अर्द्धविक्षिप्त* निपट आलसी, खतरनाक आवारा, बन देश-विदेश की खाक छानता रहा, जीवन-यापन के लिए उसे कभी अध्यापकी का काम करना पड़ा तो कभी सड़क पर हाकरी की, कभी सर्कस में नौकरी की तो कभी गोदी पर मजदूरी, कभी खेतों पर दैनिक मजदूरी, कभी *नाविक का काम, डच सेना में कभी स्वयंसेवक, कभी मिस्त्री, कभी अन्वेषक* और कभी व्यापारी—कौनसा कामपेट भरने के लिए उसने नहीं किया? अफ्रीका में वह किसी छूत की बीमारी का शिकार हुआ, मर्सेल्स के किसी अस्पताल में उसे अपनी टाँग कटवानी पड़ी, ताकि वह भयानक कष्टों में तिल-तिलकर मरने के लिए किसी तरह सैंतीस वर्ष की जिन्दगी तो मुहय्या कर सके। *अब विजनन्दा के जीवन का भी यही आदर्श* हो तो उनके साथ, या भूखी पीढ़ी के साथ किसी सहानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। अपने प्रतिष्ठित 'निहिलिज्म' में शायद किसी की सहानुभूति की उन्हें आवश्यकता भी नहीं है।

अस्तित्ववादी दर्शन का उद्भव भी इस तथ्य में है कि विश्व के धर्मों में मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की क्षमता नहीं है। वह धर्म और ईश्वर को नहीं मानता। उसके समस्त चिन्तन का केन्द्र है मनुष्य। अस्तित्ववाद मनुष्य को इस माने में सृष्टि के अन्य सभी तत्वों से विशिष्ट मानता है कि उसका अस्तित्व ही पहली और मुख्य शर्त है, उसका अस्तित्व ही उसके 'ईसेन्स' (सारता) या कर्तव्य का निर्धारण करता है, जबकि अन्य सभी तत्वों की सारता के अवधारण के बाद उनका तदनुकूल निर्माण होता है। अतः मनुष्य स्वयं अपने कर्म के औचित्य की कसौटी है। अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक केवल यह है कि वह कुछ करना पसन्द करे। यह पसन्द अच्छे या बुरे की पसन्द नहीं है, पसन्द केवल 'यह' या 'वह' करने से सम्बन्ध रखती है। उस पसन्द के यानी मनुष्य के व्यवहार के औचित्य का पैमाना, उसकी कसौटी तो वह स्वय है, और चूँकि उसका सार अपूर्वानिदय (अनप्रीडेस्टीन्ड) है, उस पैमाने पर प्रश्नों के चिन्हों की प्रामाणिकता का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। यानी मनुष्य जो कुछ करता है उसके लिए वह स्वय के प्रति ही जवाबदार हो सकता है, अन्य किसी के प्रति नहीं। इसके अतिरिक्त उसके

इस स्वतन्त्र व्यवहार के कारण यदि किसी प्रकार का अच्छा या बुरा फल पैदा होता है तो उसका दायित्व भी उसी के ऊपर हो सकता है। इस तरह इस अपरिमेय स्वतन्त्रता के साथ आ जुड़ता है एक बहुत बड़ा दायित्व। दायित्व-बोध से जुड़ी हुई व्यक्ति की यह पसन्द केवल निज के लिए ही नहीं हो सकती। चुनाव करते समय वह यही नहीं सोचता कि 'मैं यह चुनता हूँ', बल्कि वह यह भी सोचता है कि 'चुनने के लिए यह है'। इस तरह व्यक्ति के चुनाव का कर्म न केवल उसके निज के सार (ईसेन्स) को, प्रत्युत सारी मानवता के सार को परिभाषित करता है। अत: चुनने की यह स्वतन्त्रता सहज ही गौरवमय, किन्तु गुरुत्ववादी और इसलिए पीड़क भी हो जाती है। जिम्मेदारी के इस पीड़क-बोझ से घबराकर एक किस्म का अस्तित्ववादी तो भाग्य, समाज या राष्ट्र आदि के मत्थे मनुष्य की स्वतन्त्रता के अपहरण का दोष मढ़ कर, यानी अपनी स्वतन्त्रता से इनकार करके पलायनवादी हो जाता है, या फिर दूसरी किस्म का अस्तित्ववादी कर्म की अपनी स्वतन्त्रता को तो हड़प लेता है किन्तु उसके साथ लगी हुई जिम्मेदारी को इनकार करके अपने आचरण में उच्छृंखल हो उठता है। दोनों प्रकार के ये कायर और बहादुर, सच्चे अस्तित्ववादी नहीं कहे जा सकते। बीटनिकों की बोहीमियन पीढ़ी का अस्तित्ववाद दूसरी किस्म का है, जिसमें कर्म की स्वतन्त्रता तो है, पर दायित्व का बोध नहीं।

यों तो समस्त अस्तित्ववाद फ्रॉयड के मनोविश्लेषण की उपलब्धियों पर ही आधारित है, किन्तु इस उच्छृंखल अस्तित्ववादी साहित्यिक पीढ़ी ने मनोविश्लेषण का मनमाना अर्थ लगाने की स्वतन्त्रता भी अपने ऊपर ओढ़ ली है। मनुष्य के अचेतन की फ्रॉयड की खोज विज्ञान के कार्य-कारण-वाद का ही समर्थन करती है। जिस तरह प्रकृति के व्यापारों में कार्य-कारण का अनिवार्य सम्बन्ध देखा जाता है, उसी तरह मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार में भी ये ही नियम कार्य करते हैं। बल्कि ऊपर से बेमतलब दिखाई देने वाले तुच्छ और आकस्मिक मानसिक व्यापार भी यथार्थ में अचेतन के गहरे स्तरों में दबी हुई वासनाओं और वैयक्तिक अनुभवों से उद्भावित होते हैं। यहाँ तक कि कानून की दृष्टि में क्षम्य, पागलपन का कारण भी मन की गूढ़ कन्दराओं में छिपी कोई अर्थपूर्ण वासना या अनुभूति प्रमाणित की जा सकती है। जब वस्तुस्थिति यह हो तो मनुष्य के व्यवहार में स्वतन्त्रता कहाँ रही? अनिवार्य-व्यवहार की इस विवशता को ढाल बनाकर ये अस्तित्ववादी बहादुर सहज ही अपनी जिम्मेदारी से इन्कार कर जाते हैं। स्पष्ट है कि मनोविश्लेषणवाद का यह अर्थ केवल इच्छापरक है।

मनोविश्लेषण की प्रक्रिया है अपने बारे में सम्पूर्ण और सही ज्ञान प्राप्त करना, और उसका लक्ष्य है अपने ऊपर अधिकार। यदि व्यक्ति अपने प्रेरणा स्रोतों को पूरी तरह समझ ले और उचित संयम से काम ले तभी उसके व्यवहार की स्वतंत्रता सार्थक हो सकती है। अवश्य ही इससे व्यक्ति के कर्म की स्वतन्त्रता सीमित तो होती है, किन्तु अपने आपको समझ लेने के बाद वस्तुत: वह अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर

सकता है। मनुष्य के कर्म की स्वतन्त्रता वस्तुतः सीमित है, जैसा कि मनोविज्ञान प्रतिपादित करता है, किन्तु यदि व्यक्ति अपने अचेतन के प्रेरणा-स्रोतों को नहीं समझता यानी उसे आत्म बोध नहीं है, तो उसका व्यवहार स्वतन्त्र-इच्छा का फल होने की अपेक्षा अबूझ मानसिक आवेगों का ही फल होगा। आत्म-बोध के बाद वह उसी सीमित क्षेत्र में स्वतन्त्र-इच्छा को कार्यमय करके अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। इसके अतिरिक्त मनोविश्लेषण व्यक्ति के आचरण का विचारक भी तो नहीं है, वह तो मात्र व्यक्तित्व की व्याधियों का शामक है, मसीहा है हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उत्तरदायित्व की भूमिका आचरण के पहले आती है, बाद में नहीं। अतः यदि कोई यह कहे कि किसी व्यक्ति को ऐसा कार्य करने के लिए कैसे जिम्मेदार ठहराया जाए, जिसे करने के लिए वह अपनी अन्तःप्रेरणा के कारण अपने आपको रोक नहीं सकता था, तो इसके कोई मानी नहीं है। तब प्रश्न को इस तरह प्रस्तुत करना समीचीन होगा—यदि उसे आचरण के लिए जिम्मेदार ठहराया जाए तो क्या वह भिन्न प्रकार से आचरण करेगा ?

और फिर इस भूखी पीढ़ी में तो जीवन की हविश भी है। अच्छा खाने-पहिनने का शौक भी है। पीने-पिलाने वाली प्रौढ़ अमरीकी महिला इन्हें बहुत ही अच्छी लगी है। उस फिल्मी-लेखक के साथ नूरजहाँ होटल में उन्होंने जैसा व्यवहार किया वह भी प्रमाणित करता है कि अच्छे खाद्य, अच्छे आवास, और सुख-सुविधा को ये बुरा या असामाजिक नहीं मानते, बशर्ते कि यह सब कुछ इन्हें बिना किसी श्रम के, इच्छा करते ही मयस्सर हो जाएँ नहीं तो अगूर को खट्टा कहने से क्यों रुका जाए, जबकि उसमें एक फैशन भी बन जाती है। और फिर यह बात भी नहीं कि इनमें प्रतिभा न हो। यद्यपि प्रस्तुत कृति में भूखी पीढ़ी की रचना के कोई नमूने नहीं हैं, किन्तु बीटनिकों की रचनाओं को पढ़कर कोई भी गंभीर पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहता। स्वयं इस पुस्तक में हावड़ा-पुल के नीचे एक भाव प्रवण व्यक्ति के मन की अन्तर्दशा का बहुत ही हृदयग्राही वर्णन इसका पर्याप्त प्रमाण है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इस वर्णन के लिए पुस्तक-लेखक श्री देवडा जिम्मेदार हैं या उस यात्रा का निम्नवर्ग का वह सादा गोल चेहरा। बहरहाल, सोचने और झेलने के कारण जब देवड़ा स्वयं ही इस पीढ़ी से सम्बन्धित हैं, और प्रश्न जब इस पीढ़ी की साहित्यिक-प्रतिभा का है, तो इस बात से ऊपर के मंतव्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

'कॉलेज स्ट्रीट के नये मसीहा' कथा के रूप में लिखी होने पर भी कथा नहीं है, मुख्यतः वह है भूखी पीढ़ी का परिचय-पत्र। और इसी दृष्टि से इस पीढ़ी की साहित्यिक गतिविधि पर ही विचार किया गया है। किन्तु लेखक ने इसे कथा-कृति का जो जामा पहनाया है उसमें उसका कुछ तात्पर्य तो होगा ही। शरद देवड़ा अपने क्षेत्र में कथाकार और उपन्यासकार भी हैं। इसके अलावा स्वयं इस कृति को पहनाया हुआ यह जामा कोई सादी-सी चादर मात्र नहीं, बल्कि कतर ब्योंत किया मिला सिलाया जामा है। यदि वह फिट नहीं बैठा, या तंग-ढीला हो गया है तो बात दूसरी है।

एक तो स्वयं लेखक की पुस्तक में भूमिका स्पष्ट नहीं है। वह सारी कथा को कहता ही नहीं, बल्कि कथा की घटनाएँ भी उसी के इर्द-गिर्द घूमती हैं। किन्तु तब भी वह नायक नहीं है। लेखक यदि भूमिका में ही यह स्पष्ट न कर देता कि 'यह सब इस लेखक का देखा या सुना हुआ नहीं, भोगा और जैसा हुआ है,' तो लेखक को नितांत अनासक्त भी कहा जा सकता था। सम्पूर्ण कथा यह है कि लेखक अपने एक मित्र के साथ, जो शायद भूखी पीढ़ी का ही एक सदस्य है, पहले कॉलेज स्ट्रीट में, फिर कॉफीहाउस में काफी समय बिता कर भूखी पीढ़ी और उसके साहित्य का परिचय प्राप्त करता है। बीटनिकों और गिन्सबर्ग की चर्चा भी यहीं चलती है। उसके बाद कॉफी हाउस के साथियों में से पाँच के साथ घूमते-फिरते एक और साथी जमींदार युवक को उसके मेस में से पकड़ लाकर, बदनाम गलियों में चहलकदमी करते हुए और फिर बाद में ट्राम में सवार एक ठर्रे की दूकान पर, कहना चाहिए, अड्डे पर पहुँचता है। वहाँ सभी साथी शराब में मतवाले होकर उछल-कूद करते हैं और फिर टैक्सी में सवार होकर जमींदार-कुमार को श्याम बजार, तल्ला ब्रिज छोड़ आता है, और रात के डेढ़ बजे अपने आवास पर मित्र-दम्पति के यहाँ लौट आकर सारी आप-बीती सुनाता है।

कॉलेज स्ट्रीट की मटरगश्ती के दर्म्यान विजनदा का प्रसंग आ जुटता है, जो कॉफी हाउस में गिन्सबर्ग पुराण, अमरीकी प्रौढ़ महिला, कवि-गोष्ठी, फिल्म लेखक के साथ भेंट आदि सब कॉफी हाउस की बातचीत में ही घटाया जाता है। आपबीती के माने में लेखक केवल सुनी-सुनाई बातें ही कहता है। कॉफी हाउस के लेखक मानों विद्यार्थी के रूप में एक अच्छे श्रोता के अतिरिक्त कोई भूमिका नहीं लेता, कोई रायजनी नहीं करता, और न ही खाने-पीने के साथ देने के अलावा कोई सक्रियता दिखाता है। कथा-तत्व के लिए तब भी लेखक ने विजनदा के पागलपन की समस्या का मनो-वैज्ञानिक हल ढूंढा है, और बातचीत के माध्यम ही से सही, 'गली के फुटपाथ पर लैम्पपोस्ट के नीचे खास लय से हिलती हुई एक मैली चादर के नीचे से पिंडलियाँ तक उघड़े हरकत करते हुए दो बड़े और निश्चेष्ट दो छोटे, ऐसे चार पैरों' का दर्शन भी उसने कराया है। यही नहीं, गिन्सबर्ग की पत्नी पीटर ऑर्लोवस्की को 'वुड यू प्लीज स्लीप विद मी ?' प्रार्थना, गिन्सबर्ग की घुड़की और 'नाउ यू प्लीज गो, माइ वाइफ नीड्स मी' आदेश का दृश्य भी आपके सामने प्रस्तुत किया गया है। पता नहीं, कथा के मूल उद्देश्य में लेखक की अनुभूतियों के इन वर्णनों की क्या उपयोगिता है ?—हाँ, पाठक चाहे तो चटखारें जरूर ले सकता है।

लेकिन एक उपन्यास के तौर पर इस कृति पर विचार करना समीचीन नहीं है। कॉलेज स्ट्रीट के बौद्धिक वातावरण में भूखी पीढ़ी का यह मजमा वस्तुतः किसी मसीहा की तो नहीं, अलबत्ता किसी मसीही दवाखाने की प्रतीति जरूर कराता है—किसी यतीमी दवाखाने की नहीं, बल्कि किसी मिशन के मसीही दवाखाने की, जिसकी अच्छे-खासे वातावरण में अच्छी-खासी इमारत है, जहाँ साफ-सफेद पोशाकों

मे सजी हुई किन्तु यतीम नर्से हैं, लेकिन जहाँ एकाएक आवश्यक निधि के अभाव के कारण डॉक्टर या दवाओं का अभाव हो गया है। पास के गिरजे का डॉक्टर-पादरी ही वहां का काम देख लेता है। दवा की अपेक्षा उपदेश ही मे उसका विश्वास स्वाभाविक है। अच्छी पोशाकों के बावजूद नर्सों के यतीमी चेहरे प्रभावित नही करते, और फिर वहां मसीहा की जगह बीमार ही चलते-फिरते दिखाई देते है।—पृष्ठताछ-अधिकारी की तरह लेखक ने, अगरचे वह उसी माहौल का—और प्रतिबद्ध भी—अधिकारी भी है, असम्पृक्त रहकर दवाखाने की सारी स्थिति सामने रख दी है। अगर उसके विवरण से दवाखाने के प्रति कोई श्रद्धा या विश्वास नही जग पाता तो उसे दोष नही दिया जा सकता। उसे तो साधुवाद ही देना होगा कि निहायत नपी तुली और उपयुक्त भाषा मे वहां की वस्तुस्थिति आपके सामने रख दी है, बिना इस भय के कि इससे उसको अपनी नौकरी से भी हाथ धोना पड सकता है।

बेखाब किवाड़ों की कहानी[1]

•

राही मासूम रजा

मैं आलोचक नहीं हूँ। मुझे आलोचकों की भारी भरकम और नकली भाषा भी नहीं आती। मैं एक पाठक हूँ। और पाठक एक साधारण यात्री होता है जो साहित्यकार के साथ अनजाने रास्तों पर चल पड़ता है और घर वापस आने के बाद सोचता है, कि इस यात्रा में उसने क्या खोया है और क्या पाया है। कभी-कभी तो वह पूरा सफर ही नहीं करता। बीच ही में बोर होकर लौट आता है। कभी यह भी होता है कि पूरा सफर करने के बाद वह सोचता है कि इतनी लम्बी यात्रा खामखाह की। यानी लेखक ने अपने वचन का पालन नहीं किया। कभी-कभी वह इस थका देने वाली यात्रा से बहुत खुश लौटता है। लेकिन कुछ किताबें ऐसी होती हैं जिनके बारे मे पाठक कोई फैसला नही कर पाता। इसलिये घबरा कर या तंग आकर वह उसे यूँ ही अच्छा या बुरा कहने लगता है। "अँधेरे बन्द कमरे" एक ऐसा ही उपन्यास है जो पाठक को दुविधा में छोड़ देता है। इसीलिये मैं आपको उन रास्तों पर लिये चलता हूँ। शायद आप मेरी मदद कर सकें।

परेशानी की बात यह है, कि मोहन राकेश खुद अपने पाठक की सहायता करना नहीं चाहते। वह कोई वादा नहीं करते और हमें इन अँधेरे बन्द कमरों में अकेला छोड़ कर चले जाते हैं—

> "दृष्टिकोण का उल्लेख भूमिका मे करना हो, तो उपन्यास लिखने की क्या जरूरत है ?"

लेखक को यह कहने का हक है। क्योंकि यदि उपन्यास उसका दृष्टिकोण नहीं तो और क्या है। मैं दृष्टिकोण के बारे में पूछना भी नहीं चाहता। परन्तु किसी लेखक को यह कहने का हक नहीं कि :

> "मैं सोचकर भी तय नहीं कर पा रहा कि इसे क्या कहूँ ? आज की दिल्ली का रेखाचित्र ? पत्रकार मधुसूदन की आत्मकथा ? हरबंस और नीलिमा के अन्तर्द्वन्द्व की कहानी ?...सच मैं तय नहीं कर पा रहा। पढ़कर आप जो भी निश्चय करें वही ठीक होगा। और अगर

1. अँधेरे बन्द कमरे : मोहन राकेश

> आप भी निश्चय न कर सकें, तो यह समस्या किसी और के लिये छोड़कर मेरी तरह अलग हो रहें।"

यह तो प्रकाश लाने की बात हुई। यह तो अँधेरा बढ़ाने की बात हुई। यह उपन्यास है या कोई मुअम्मा जिसका सही हल गुम हो गया? यह छोटी सी भूमिका पाठक और उपन्यास के बीच में एक दीवार उठा देती है। उपन्यास पढ़ते समय हमारे दिमाग का एक कोना यही गुत्थी सुलझाने में लगा रहता है कि यह कहानी किसकी है? और हम जासूसी उपन्यास की सतह पर चले जाते हैं जहाँ आधा दिमाग कहानी में लगा रहता है और आधा मुजरिम की तलाश में। जासूसी उपन्यास तो चलता ही इसलिये है कि वह हमें अपनी समझ का प्रयोग नहीं करने देता और हम मुजरिम को ढूँढने की ज़िद में पूरा उपन्यास पढ़ जाते हैं। परन्तु यदि यह नुस्खा साहित्य में आज़माया जायेगा तो कम्युनिकेशन की राह में बाधा पड़ेगी। क्योंकि यदि हर पाठक खुद यह फ़ैसला करने बैठ जायेगा कि कहानी दिल्ली की है या हरबंस की तो इम्फ़ेसिस बदल जायेगा। मुझे लगता यह है, कि यह उपन्यास पाठकों के लिये नहीं लिखा गया है बल्कि प्रकाशक के लिये लिखा गया है और बहुत जल्दी में लिखा गया है। और इसी लिये कथाकार को यह असम्बद्ध भूमिका लिखनी पड़ी। कभी-कभी अपनी नीलिमाओं और अरुणों के लिये ऐसा भी करना पड़ता है। यह उपन्यास किसी क्रियेटिव-अर्ज के दबाव से नहीं लिखा गया है। शायद इसे घरेलू ज़रूरतों के दबाव ने लिखवाया है। इसी लिये महत्त्व कहानी का नहीं है बल्कि लेखक के नाम और पन्नों के प्रयोग का है। जितने ज्यादा पन्ने होंगे उतनी ही ज्यादा किताब की कीमत होगी और जितनी ज्यादा कीमत होगी उतनी ही रॉयल्टी बनेगी। वरना यह कहानी है हरबंस और नीलिमा की। मधुसूदन की तो इस कहानी में इसके सिवा और कोई हैसियत ही नहीं कि वही हरबंस और नीलिमा के अँधेरे बन्द दिलों की कहानी सुना रहा है। रात के खत्म होते ही जब कहानी खत्म हो जाती है तो कथाकार मधुसूदन चला जाता है। इस कहानी का सबसे बड़ा ऐब यही है, कि इसे मधुसूदन सुना रहा है और इस पर ज़िद कर रहा है कि वह भी एक पात्र है। नतीजा यह होता है कि यह नरेटर कहानी के पात्रों को हटा कर आधी जगह घेर कर बैठ जाता है। और इसकी वजह से कहानी के पात्रों यानी हरबंस, नीलिमा, शुक्ला, सुरजीत और अरुण को फैलने की जगह नहीं मिलती और यह लोग ठूँसे-ठूँसे से दिखाई देते हैं। यह कहानी यदि हरबंस ने फ़र्स्ट पर्सन में सुनाई होती तो शायद इससे अच्छी बनी होती। क्योंकि तब हम कस्साबपूरा और बम्बी हरफ़ुल और पत्रिकाओं के दफ़्तर और दिल्ली के गली-कूचे में मारे मारे फिरने से बच गये होते। और जो पन्ने ठकुराई, इबादत अली, सुरजीत, पहलवान, और बग़ैरा बग़ैरा के बयान में ज़ाया हुए हैं उन्हें हरबंस और नीलिमा को समझने के लिये इस्तेमाल किया जा सकता था। मधुसूदन ही की वजह से इस कहानी में बेशुमार छोटे-बड़े फ़्लैश-बैक आये हैं जिनकी वजह से बार-बार कहानी झोल खाने लगती है और रुक जाती है।

मधुसूदन की ही वजह से लगभग सारी कहानी बातचीत में सुनाई गई है। हरवंस और नीलिमा के दिल में झाँकने की और सूरत ही क्या हो सकती थी। यदि कोई ऐसा आदमी फ़र्स्ट परसन में कहानी सुनायेगा जो कहानी का पात्र नहीं है तो बातचीत से जान बचाने की कोई शक्ल ही नहीं है क्योंकि वह हरवंस नहीं है। उसे क्या मालूम कि हरवंस पर क्या गुज़री। वह नीलिमा नहीं है। उसे क्या मालूम कि नीलिमा किस तूफ़ान में फँसी हुई है। इसलिये वह मजबूर है कि फिर-फिर कर हरवंस और नीलिमा से बातचीत करे। और चूँकि शुक्ला से उसकी बातचीत भी नहीं होती इसलिये शुक्ला के बारे में वह सुनी-सुनाई बातों से काम चला लेता है। इसलिये कहानी उसकी गिरफ़्त में नहीं आती। फिर चूँकि वह एक जीता जागता आदमी है इसलिये नीलिमा से बात करते-करते यदि उसे अपने पिता की लिखी हुई कोई किताब याद आने लगे तो हम उसे रोक भी नहीं सकते। नीलिमा बात कर रही है हरवंस की कि एक दम से मधुसूदन को :

> "अपने पिता जी की लिखी हुई एक पुस्तक की याद हो आई। उस पुस्तक का नाम था 'बार वधू विवेचन', जिसके साथ ही अंग्रेज़ी में अनुवाद दिया हुआ था, 'ए हिस्ट्री आफ़ डांसिंग गर्ल्स इन इण्डिया'।..."
>
> (पृष्ठ ७१)

कोई बताये कि इस "बार वधू विवेचन उर्फ़ ए हिस्ट्री आफ डांसिंग गर्ल्स इन इंडिया" को हम अँधेरे बन्द कमरे के किस शेल्फ़ में रक्खें। यह सारा कुसूर इस मधुसूदन का है।

मेरे ख़याल में तो यह फ़र्स्ट परसन में सुनाई जाने वाली कहानी ही नहीं है। कहानी केवल हरवंस या नीलिमा या अरुण की होती तो फ़र्स्ट परसन में सुनाई जा सकती थी। परन्तु यह कहानी है एक परिवार की। कई लोग हैं। कई ज़िन्दगियाँ हैं। हर पात्र अपनी ज़िन्दगी जीना चाहता है। वास्तव में इस कहानी का आधार यही अपनी ज़िन्दगी जीने की ख़ाहिश और यह एहसास है कि हर पात्र यह जानता है, कि वह दूसरे के बिना अधूरा है। हरवंस नीलिमा से भाग कर लंदन जाता है :

> "मेरा इरादा है मैं इस देश से बाहर चला जाऊँगा।"
>
> "...वहाँ जाकर डाक्ट्रेट वाक्ट्रेट करने का इरादा है या..."
>
> "नहीं मैं इस मतलब से नहीं, वैसे ही जा रहा हूँ।"
>
> "...तो आख़िर कुछ तो इरादा होगा।"
>
> "इरादा कुछ भी नहीं है।" वह धीरे से आँखें झपका कर बोला "सिर्फ़ जा रहा हूँ।" (पृष्ठ ६२)

परन्तु वह बिला वजह नहीं जा रहा है। नीलिमा जानती है कि वह क्यों जा रहा है।

> "अगर सच पूछते हो, तो मुझे लगता है वह मेरी ही वजह से जा रहा है। यहाँ रहकर शायद उसे लगता है कि वह जो कुछ करना चाहता है, वह

> मेरी वजह से नहीं कर पा रहा। मैं भी सोचती हूँ कि अगर सचमुच ऐसा है.. तो मैं उसके रास्ते में रुकावट क्यों बनूँ? वह कुछ अरसा मुझ से दूर रहेगा तो उसके मन से तो यह बात निकल जायेगी।..."
>
> (पृष्ठ १०१)

यह है फर्स्ट परसन की मुसीबत। यही महत्त्वपूर्ण बात हमें किसी और की जबानी मालूम होती है। क्या पता नीलिमा को जो "लगता" है वही ठीक भी है या नहीं। इसलिये अब स्टेशन चलिये। मगर रुकिये; नीलिमा की एक और बात सुनते चलिये—

> "मैं तुम्हें एक बात बता दूँ सुदन," वह बोली। "वह मुँह से चाहे जो कहे, मगर मुझ से अलग वह नहीं रह सकता...।" (पृष्ठ १०२)

अब स्टेशन चलिये।

> "गाड़ी स्टेशन से दस मिनट लेट चली। और वह दस मिनट उसने बहुत ही बेचैनी में काटे। कभी वह घड़ी की तरफ देखता, कभी सिग्नल की तरफ और कभी अपने जूते के फीते को खोलकर बाँधने लगता। भाप छोड़ते हुये इंजन की तरफ वह बार बार इस तरह देखने लगता जैसे गाड़ी को लेट करने का दोष उसी पर हो। आखिर जब गार्ड ने सीटी दी तो उसने एक बार मुस्करा कर हम सब की तरफ देखा और फिर चुपचाप गाड़ी में सवार हो कर दरवाज़े के पास खड़ा हो गया। *वहाँ से वह इस तरह इंजन की तरफ देखने लगा जैसे उसे याद ही न हो* कि कोई उसके साथ उसे छोड़ने के लिये भी आया है।" (पृष्ठ १०६)

परन्तु *क्या नीलिमा से भाग कर लंदन जाने वाला यह हरबंस नीलिमा के बिना जी सकता है?* इस सवाल का जवाब जानने के लिये न उसे देर तक इन्तजार करना पड़ता है और *न नीलिमा को लंदन पहुँचने के बाद उसने जो दूसरा पत्र लिखा उसी* में बात साफ हो गयी :

> "...*मेरे साथ यही तो दिक्कत है कि मैं हर बात को प्रैक्टिकल ढंग से नहीं सोचता। अगर मैं ऐसा कर सकता तो हमारी जिन्दगी का रूप बिलकुल दूसरा ही न होता।...तुम्हारे साथ और तुम्हारे बिना, दोनों ही* तरह जिन्दगी मुझे असम्भव प्रतीत होती है।" (पृष्ठ १३८)

नीलिमा को जो बात पहले ही से मालूम थी वह बात जानने के लिये हरबंस को सात समुद्र पार का सफर करना पड़ा। नीलिमा उसकी परछाईं है और अपनी परछाईं के बिना कोई पूर्ण नहीं होता। परन्तु क्या सच्चाई केवल इतनी ही है? क्या हरबंस नीलिमा की परछाईं नहीं है? क्या नीलिमा भी हरबंस के बिना अधूरी नहीं है? नीलिमा को इस सवाल का जवाब मालूम नहीं था और इस सवाल का जवाब पाने के लिये उसे भी यात्रा करनी पड़ी। यूँ कहने को तो उसने कह दिया था कि :

"वह कुछ अरसा मुझ से दूर रहेगा तो उसके मन से यह बात तो निकल जायेगी। मैं भी इस बीच देख लूँगी कि अकेली रहकर मुझे कैसा लगता है। मैं इस बीच दक्षिण चली जाऊँगी और वहाँ नृत्य का अभ्यास करूँगी। दीजी कह रही हैं कि वे मुझे वहाँ जाने का खर्च दे देंगी।"
(पृष्ठ १०१)

इस नीलिमा को कितना यकीन है कि वह हरवस अपनी परछाई, के बिना पूर्ण है। स्टेशन पर भी ऐसा ही महसूस होता है कि जैसे उसका वजूद (अस्तित्व) हरवंस से अलग खुद अपने आप मे पूर्ण है :

"गाडी प्लेटफॉर्म से निकल गई तो नीलिमा हम दोनो से पहले गेट की तरफ चल दी। मैंने उसकी तरफ देखा कि शायद उसकी आँखो मे कही आँसू टपके हो। मगर उसकी आँखें बिलकुल सूखी थी और चेहरे के भाव मे भी विशेष अन्तर नही था।" (पृष्ठ १०६)

नीलिमा को अपने अधूरे होने का एहसास पेरिस मे हुआ जब वह बर्मी कलाकार के साथ फ्लर्ट करने की कोशिश कर रही थी। तब यह बात उसे मालूम हुई कि वह जिस हरवंस से मुक्त होना चाहती है उसे धोका देने के बारे में भी वह नही सोच पाती।

"नीचे घंटी बजती है। वह चौंक कर उठ खड़ा होता है। कमरे की बत्ती जला देता है।···नीचे आकर वह दरवाजा खोलता है। "तुम ?" एक झटके के साथ समय आगे चल पडता है।

नीलिमा अन्दर आ जाती है। उसकी आँखो में एक असहायता झलक रही है।

"तुम इस समय ?" हरवंस को विश्वास नहीं आता कि वह सचमुच लौट आई है।

"मैं हवाई जहाज से आई हूँ।" कह कर वह खटखट जीने से ऊपर चढ जाती है। (पृष्ठ २२५)

वह बोट, ट्रेन से नही आई। उसे आने की जल्दी थी। इसलिये वह हवाई जहाज से आई और "खट-खट" जीने चढ गई। इस "खट-खट" में जल्दी का स्वर है। शायद वह डर भी रही है कि कहीं हरवस उसके मुँह पर किवाड़ न बन्द कर दे।

वह उसे जबर्दस्ती बाँहों में भर लेता है और उसके ठण्डे होंठो पर अपने ठण्डे होठ रख देता है। वह उसे अपनी बाँहो में बर्फ की पुतली की तरह लगती है।

"तुम मुझे छोड कर मुझसे दूर रह सकती थीं ?"
वह आँखें मूँदे रहती है। "सोचती थी, रह सकती हूँ।"
"मगर क्यों ? क्यों ऐसा सोचती थीं तुम ?"

"क्योंकि मैं तुमसे अलग रहना चाहती थी…"

…कुछ देर बाद वह अपने पलंग पर निर्जीव सा पड़ा-पड़ा पूछता है।

"तुम आज…आज इस तरह बरफ सी क्यों लग रही हो ?"

वह करवट बदल लेती है। "मैं कुछ नहीं जानती।"…वह उसकी गरदन के नीचे अपनी बाँहें रखकर उसका मुँह अपनी तरफ कर लेता है। नीलिमा का बदन जकड़ा रहता है और उसकी आँखें बन्द हो जाती हैं।

"फिर तुम मुझे छोड़ कर वहाँ क्यों रहना चाहती थीं ?"

नीलिमा आँखें खोल लेती है। उसकी आँखों में मातम का सा भाव है।

"मैं चाहती थी कि रह सकूँ। मगर मैं रह नहीं सकी। इसका मतलब है कि नहीं रह सकती।"

"मगर तुमने ऐसा सोचा ही क्यों था ?"

सहसा बर्फ पिघलने लगती है। नीलिमा के शरीर की जड़ता टूट जाती है। उसके होंठ फड़कने लगते हैं और आँखों में आँसू आ जाते हैं। वह फफक कर रोती हुई उसकी छाती में मुँह छिपा लेती है। "बस, मैं तुम्हें छोड़कर अलग नहीं रह सकती।" (पृष्ठ २२६-२२७)

यह बात उसने आसानी से नहीं मान ली है। इस खयाल से उसने बड़ी लड़ाई लड़ी है।

"मैं चाहती थी कि मैं तुम्हें एक बार धोखा दे सकूँ जिससे अपने को तुमसे अलग करने का मुझे एक कारण मिल जाय। मगर मैं ऐसा नहीं कर सकी।" (पृष्ठ २३०)

जब वह धोखा न दे सकी तो हवाई जहाज में बैठ गई। परन्तु;

"जब मैं हवाई जहाज में बैठ गई तो मुझे पता चल चुका था कि मैं तुम्हें छोड़ कर नहीं रह सकती।" (पृष्ठ २३१)

नीलिमा ने अपने व्यक्तित्व की इस सच्चाई से हार मान ली कि :

"वह उससे अलग रहकर भी उससे मुक्त नहीं हो सकती।" (पृष्ठ २३४)

मैंने हरवंस और नीलिमा के अधूरेपन को जरा फैलाकर इसलिए देखा है कि इससे अँधेरे बन्द कमरों या दिलों की कहानी को समझने में आसानी होगी। और मैं इन मिसालों के जरीये यह भी दिखलाना चाहता था कि यह कहानी फ़र्स्ट-परसन में सुनाने की नहीं है। इसे थर्ड-परसन में सुनाना चाहिए था क्योंकि इससे काम नहीं चलता कि :

"दूसरों के जीवन के अन्तरंग में झाँक कर देखने का अवसर मिलने पर मन में कब उत्सुकता नहीं जागती। वह बच्चा क्या सारी उम्र हमारे

अन्दर जीवित नहीं रहता जिसे रोशनदान पर सीढ़ी लगाकर दूसरों की गतिविधियां देखने की आदत होती है ?" (पृष्ठ २५८)

कथाकार केवल वह बच्चा नहीं होता जो रोशनदानों से झांकता रहता है। वह अपने पात्रों की ज़िन्दगियों को खुद भी जीता है। जो कथाकार अपने पात्रों के साथ मर जी न सके वह कथाकार क्या। और यहां तो एक और दुश्वारी भी है कि कथाकार को :

> "राह चलते लोगों को रोककर उनसे रास्ता पूछना अच्छा भी नहीं लगता। नतीजे के तौर पर चेम्सफोर्ड क्लब पर मुड़ने के बजाय पचकुइयां रोड पर मुड़ गया।....." (पृष्ठ ४५)

इस कहानी में इसी वजह से कई ऐसे मोड़ हैं जहां कथाकार "चेम्सफोर्ड क्लब पर मुड़ने के बजाय पचकुइयां रोड पर मुड़ गया है।" और इसीलिये पाठक कहानी की खोज में मारे-मारे फिरते रहने की वजह से थक जाता है और जगह-जगह से टूटी हुई कहानी को जोड़ने में उसे परेशानी होती है। वैसे यह बात यहीं कह देना चाहता हूँ कि जो कहानी है उसे आप जोड़ लेने में सफल हो जायें तो आप को यह मानना पड़ेगा कि कहानी बहुत जीती-जागती और बड़ी ख़ूबसूरत है।

मैं ऊपर यह कह आया हूँ कि यह कहानी हरबंस और नीलिमा की है। मैं अपने उस बयान में थोड़ी सी तरमीम करना चाहता हूँ। यह कहानी है हरबंस, नीलिमा और अरुण की। अरुण इस कहानी में तीन-चार जगह ही नज़र आता है परन्तु इस कहानी का डेडिकेशन वास्तव में इसकी भूमिका है। कथाकार ने भूमिका में उलझावे डाले हैं परन्तु डेडीकेशन ने बात साफ़ कर दी है।

"नीते को और उन सब को जो उनके साथ-साथ बड़े होंगे।"

नीते तक तो ठीक है। परन्तु यह कथा उन सबके लिए क्यों है जो नीते के साथ-साथ बड़े होंगे ? बुनियाद की ईंट यही है। हरबंस, नीलिमा और अरुण। बाप, माँ और बच्चा। यानी यह कहानी है एक परिवार की। यह परिवार है आधुनिक हिन्दुस्तान का। जिसमें परिवर्तन तो अवश्य हुआ है परन्तु कैसा ?

> नौ साल के बाद दिल्ली आया, तो मुझे महसूस हुआ जैसे मेरे लिए यह एक बिलकुल नया और अपरिचित शहर है...(पृष्ठ १२)

> "बस्ती हरफूल में ज़िन्दगी लगभग उसी तरह थी। उतनी ही सुस्त और उतनी ही ठहरी हुई। वही दुकानें, वही ठेले, वैसे ही आते जाते हुए लोग। कस्सावपुरा की पहली गली के मोड़ पर एक भीड़ जमा थी, वैसी ही जैसी हमेशा गली में आने वाले मदारियों के इर्द गिर्द जमा हुआ करती थी। सिर्फ़ मदारी के तमाशे की जगह वहाँ उस समय एक तरह का मुजरा चल रहा था। एक तेरह-चौदह साल की लड़की अपनी हरी ओढ़नी के दोनों छोर हाथों में लिये एक फ़िल्मी गीत गाती हुई नाच रही थी :

हवा में उड़ता जाये
मेरा लाल दुपट्टा मलमल का
जी मेरा लाल दुपट्टा मलमल का,
प्रोजी, प्रोजी…।
उसके इर्द-गिर्द जमा भीड़ में कुछ लोग उसे अपने पास बुलाने के लिए हाथों मे चवन्नियाँ अठन्नियाँ लिये थे। वह जिसकी तरफ जाती थी वही उसका हाथ थाम लेना चाहता था। हारमोनियम बजाने वाला उस्ताद हारमोनियम में से आवाज़ें पैदा करने के साथ-साथ आँखों से कुछ इशारे किये जाता था।" (पृष्ठ ३४१)

परिवर्तन की कहानी यहीं खत्म नहीं होती। कुछ दूर और चलिए।

"घर के पास पहुँचते ही सबसे पहले मेरी नजर बाहर लगी हुई तख्ती पर पड़ी। उसका नीचे का आधा हिस्सा जाने टूट कर गिर गया था या ऐसे ही धीरे-धीरे झड़ कर गिर गया था। जितना हिस्सा बाकी था वह अपनी जंग खाई कील के सहारे किसी तरह झूल रहा था। अब उस पर लिखे हुए नाम में से इबादत और अली, दोनों बिलकुल गायब हो गए थे। इसका एक हलका सा आभास मात्र रह गया था कि उस तख्ती पर कभी कोई नाम रहा होगा।" (पृष्ठ ३४२)

यह केवल एक घर नहीं है। यह एक आत्मा भी है जिसके साइनबोर्ड पर लिखा हुआ नाम लगभग मिट चुका है। और अब घर के अन्दर चलिये।

"कोठरी भी ठकुराइन के चेहरे की तरह बदली हुई लगी। उसका पलस्तर इतनी जगह से उतर चुका था कि जो दो-चार टुकड़े बचे थे वे बहुत अस्वाभाविक रूप से वहाँ चिपकाये गये से लगते थे। छत की कड़ियाँ बिलकुल स्याह पड़ चुकी थीं। दीवारों पर जगह-जगह गेरू से स्वस्तिक बने थे और राम नाम लिखा था। दोनों कोठरियों के बीच का दरवाज़ा चौखट समेत बाहर को झुक आया था।" (पृष्ठ ३४३)

ठाकुर साहब मर चुके थे। ठकुराइन 'एक बूढ़ी-सी औरत' दिखाई देने लगी थी। बेटी जवान हो रही थी और दोनों कोठरियों के बीच का दरवाज़ा अपने चौखट समेत झूल गया था। बाक़ी क्या रह गया था? केवल राम नाम।

इस खोखले, सड़े-गले और टूटे फूटे समाज के एक कोने हरबंस नीलिमा और अरुण के साथ रहता है। वातावरण में एक असन्तोष है। और यही असन्तोष इस कहानी की रगों में खून बन कर दौड़ रहा है। आप कहेंगे हमें ठकुराइन, उसकी बेटी और उसकी कोठरी से क्या लेना देना। हमें इबादतअली और उसके बूढ़े साइनबोर्ड से क्या ग़रज। हरबंस और इबादतअली दो दुनियों के वासी हैं। नीलिमा इस हवा में सांस नहीं लेती जिसमें ठकुराइन सांस लेती है। यदि यह कहानी नीले और उसके

साथ बड़े होने वालों के लिये है तो बताओ कि इस कस्साबपुरा से भरुण का क्या ताल्लुक़ । जहाँ नीलिमा केवल एक बार आई थी सैंडल को कीचड़ से बचाती हुई और साड़ी को टूँगे हुए और उसने वहाँ से निकलते ही मधुसूदन से कह दिया था कि यदि उसे मालूम होता कि वह यहाँ रहता है तो वह कभी न आई होती ? आपका यह सवाल ठीक नहीं होगा क्योंकि समाज एक इकाई होता है । और समाज को नीलिमा और ठकुराइन में तक़सीम नहीं किया जा सकता । सच्चाई यह है, कि कोठरी में राम नाम रह गया है । अरे साहब वहाँ तो राम नाम रह भी गया है । "काफ़ी हाउस", "लावोहोम" "बोल्गा" और हरबंस के चार कमरे घर में तो बिल्कुल सन्नाटा है। राम-नाम भी नहीं है जिसके सहारे कोई जी सके । वहाँ तो यह हाल है कि किसी चित्रकार की कला का कोई महत्त्व नहीं । चित्र एक पहेली है और लोग उसे बूझने में शाम का फ़ाज़िल वक्त काटते हैं। चुनांचे मधुसूदन जब पोलीटिकल सेक्रेट्री का टेरेम देखकर फिर ड्राइंग रूप में आया तो उसने देखा कि :

> "सब लोग सीपंकों का खेल उसी तरह खेल रहे हैं। (पृ० ३६३)

"कला निकेतन" को कला से ज्यादा टिकटों की बिक्री की फ़िक्र है। इसीलिए तो नीलिमा परेशान है कि :

> "कला निकेतन वालों को अगर इस बार घाटा उठाना पड़ा तो क्या वे कभी मेरी बात पूछेंगे ? (पृष्ठ ३७७)

और इसीलिये जो डिनर इसलिये दिया जा रहा था कि प्रदर्शन में भाग लेने वाले कलाकार एक दूसरे से मिल लें उनमें आखिरकार कोई कलाकार नहीं बुलाया गया परन्तु पत्रकार और बड़े-बड़े लोग बुलाये गये । भाँत-भाँत के पत्रकार बुलाये जाते तब भी गनीमत था परन्तु पत्रकार तो ऐसे है कि हरबंस चीख उठता है :

> "जो लड़का आजकल हिन्दी पत्रिका के लिये समीक्षाएँ लिखता है वह किसी ज़माने मेरी क्लास में पढ़ता था। क्लास के सबसे नालायक लड़कों में था । उससे शेक्सपीयर की हिज्जे तक तो ठीक से लिखी नहीं जाती थी और आज उसकी भी गिनती यहाँ के कला समीक्षकों में है ।" (पृष्ठ ३८१)

परन्तु हरबंस चाहे कुछ कहता रहे वह तो आयेगा क्योंकि हरबंस के खयाल में नीलिमा के लिये "नृत्य एक साधना नहीं साधन है । असली मतलब तो यह है कि पत्रों में अच्छी-अच्छी टिप्पणियाँ निकलें, इसकी चर्चा हो और राह चलते लोग इसकी तरफ़ इशारा करके कहें वह देखो नीलिमा जा रही है ।" (पृष्ठ ३८७-३८८)

यह सुन कर नीलिमा जो जवाब देती है वह भी बहुत दिलचस्प है । वह कहती है ।

> "मैं तुम्हारी तरह गौतम बुद्ध का अवतार नहीं हूँ कि मुझे किसी चीज़ से मतलब ही न हो ।" (पृष्ठ ३८८)

अब यदि हरबंस जो इस कहानी का ज़मीर है अपने गले में सवालिया निशानों का फन्दा न डाल ले तो क्या करे क्योंकि कला के क्षेत्र में दूर-दूर तक सन्नाटा है :

> "कला निकेतन का सेक्रेटरी…का सारा व्यक्तित्व उसकी तेज आँखों में समाया हुआ था। वह बात करता था तो उसके शब्दों का अर्थ उतना महत्त्व नहीं रखता था जितना उसकी आँखों का भाव, और उस भाव का कुल मिला कर एक ही अर्थ निकलता था। वह हर आदमी को अपनी आँखों से इस तरह टटोलता था जैसे वह इन्सान न होकर एक उपयोगी चीज़ है, और वह यह निश्चय करना चाहता हो कि अपने लिये वह उस चीज़ का क्या और कितना उपयोग कर सकता है।" (पृष्ठ १६३-१६४)

और चूँकि कला साधन बन चुकी है इसलिये :

> "ट्रुप के सदस्य बिना पैसे के प्रदर्शन को तैयार नहीं।…पब्लिसिटी ठीक नहीं है। टिकट कम बिकते हैं। प्रबन्धक मुकर जाते हैं। फिर झगड़ा होता है। आखिर खाली हाथ और भरा हुआ ट्रक लेकर ट्रुप पश्चिमी बर्लिन की तरफ चल पड़ता है…उमादत्त नीम बेहोश सा ट्रक में पड़ा है।…नीलिमा उसके मन को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करती है…" (पृष्ठ २३६-३७)

और हरबंस "एक पराजित सेनापति की तरह सिर फेंके एक तरफ बैठा है।(पृष्ठ २३७) और अपने आप से पूछ रहा है :

> "…क्या यही लोग हैं जो अपने को कला का उपासक कहते हैं? क्या कला की सारी साधना के पीछे इतने छोटे-छोटे उद्देश्य छिपे रहते हैं? क्या कला की उपासना मनुष्य के मन को उज्ज्वल और विशाल नहीं बनाती? क्या यही वह चेतना है जिसे कलाकार की महान् चेतना कहते हैं? यही दृष्टि है जिसे कलाकार की सौन्दर्य-दृष्टि कहते हैं? सबके कितने छोटे-छोटे स्वार्थ हैं।" (पृष्ठ २३७)

यह प्रश्न बड़े जानलेवा हैं। परन्तु हरबंस की झोली में एक ज़हरीला प्रश्न और है जिसे पीकर उसकी आत्मा नीली पड़ गई। यह प्रश्न वह अपने सिवा किसी और से नहीं कर सकता। प्रश्न यह है कि :

> "क्या यही वह उपलब्ध है जिस तक पहुँचने के लिये उसने नीलिमा को अपने माध्यम के रूप में चुना था और जिसके लिये वह अपने मन के सारे असन्तोष पर परदा डालकर इस अपरिचित दुनिया में चला आया है? उसे लगता है कि एक जाल में वह उलझ गया है। जाल बहुत गन्दा भी है।" (पृष्ठ २३७-२३८)

सारे पैमाने बदल गये हैं। और हरबंस हैरान है। पोलिटिकल सेक्रेटरी ही कला का पारखी भी है। और :

> "पोलिटिकल सेक्रेटरी उसे जिस तरफ को भी चक्कर देता था, वह उसी तरफ लुढ़क जाता था। आखिरकार उसने अपना हाथ छुड़ा लिया और कठिनाई से अपने को सँभाले हुए अपनी कुर्सी पर लौट लिया।" (पृष्ठ ३७०)

वह हाथ छुड़ा कर लौट तो अवश्य आया परन्तु इस नाच ने उसे बहुत थका दिया। उसे लगता है, कि वह टूटा जा रहा है। उसे लगता है कि "जैसे मैं दुनिया से बिलकुल कट गया हूँ और अपने मे बिलकुल अकेला हूँ।" और उसे "कई बार लगता है कि मेरे लिये एक ही उपाय है और वह यह कि मैं अपने जीवन को खतम कर दूँ।" शायद एक उपाय और है। हरबंस कहता है:

> "एक तो मैं दिल्ली से बाहर चला जाना चाहता हूँ और दूसरे यह भी चाहता हूँ कि हो सके तो अपनी थीसिस···"
>
> "तुम्हारी थीसिस!" नीलिमा बोली। "वह इस जिन्दगी मे कभी पूरी नही होगी!" (पृष्ठ ४०४-४०५)

नीलिमा अपनी तरफ से तो मजाक उड़ा रही है। परन्तु यह सत्य है कि हरबंस का थीसिस इस जिन्दगी में खत्म नहीं हो सकता क्योंकि जिन्दगी ही पर तो यह थीसिस लिखना है। यह थीसिस लिखेंगे अरुण—"नीते और वह सब जो उसके साथ-साथ बड़े होंगे।"

देखा आपने कि हरबंस की दुनिया मे कैसा कुहराम है? हरबंस, नीलिमा और शुक्ला, सुरजीत और हरबंस और शुक्ला सुरजीत और मधुसूदन की बात तो मैं छेड़ना भी नही चाहता।

पाँव के नीचे की जमीन इतनी पोपली हो गई है कि खड़ा होना असम्भव हो रहा है। इसीलिये इस उपन्यास मे हाथों का बड़ा महत्त्व है।

> "उसने दोनो पैकेट एक हाथ मे लेकर दूसरे हाथ से मेरी बाँह को पकड़ लिया।" (पृष्ठ १५)
>
> "हरबंस ने मेरा हाथ पकड़े ही रुख पीछे की तरफ कर लिया।" (पृष्ठ ३६)
>
> "मेरे हाथ को उसने और भी कस लिया।" (पृष्ठ ३७)
>
> "मेरा हाथ उसने इस तरह अपने हाथ मे थाम लिया जैसे उसे जेब मे डाल लेना है।" (पृष्ठ ३६)
>
> "बाहर आकर वह मेरा हाथ पकड़ लेता और हमेशा यही जिद करता कि मैं उसके घर चलूँ।" (पृष्ठ ६८)
>
> "उसने मेरा हाथ कस कर पकड़ लिया···" (पृष्ठ ६१)
>
> "मैंने उसका हाथ पकड़ लिया।" (पृष्ठ १०४)
>
> "नीलिमा मेरा हाथ पकड़ते हुये बोली।" (पृष्ठ २८६)
>
> "हरबंस ने मेरा हाथ पकड़ते हुये कहा।" (पृष्ठ ४०४)

यह गिडगिडाहट और अकेले रह जाने का डर पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है। इसका नतीजा यह होता कि जिन्दगी मर जाने के खौफ में बीत रही है। यकीन न आये तो नीलिमा से पूछ लीजिए—

> "हर साल के गुजरने के बाद मुझे लगता है कि मैं बहुत बड़ी हो गई हूँ।" (पृष्ठ २३५)
>
> "अब हम लोग तब से नौ साल बड़े हो गये हैं।" (पृष्ठ २५७)
>
> "हम लोग अब काफी बड़े हो गये हैं···मैं नहीं चाहती कि मेरा शरीर थल-थल हो जाये और मैं अभी से बूढ़ी लगने लगूँ। मुझे बुढ़ापे से बहुत डर लगता है।···मुझे यह सोच कर डर लगता है कि मैं ऐसे ही बूढ़ी होकर मर जाऊँगी। और लोग यह जानेंगे भी नहीं कि मैं भी कभी थी·······" (पृष्ठ २८२)

हमारे हर तरफ असन्तोष का घना अन्धेरा जंगल है जिसमें परछाइयाँ चल फिर रही हैं। एक दूसरे में डिजाल्व हो रही हैं और अलग हो रही हैं। टकरा कर टूट रही हैं और फिर अपनी मरम्मत कर जीना शुरू कर रही हैं।

मेरा खयाल है कि राकेश ने भूमिका में जो प्रश्न किया था उसका जवाब मैंने दे दिया कि यह कहानी आधुनिक भारत के असन्तुष्ट वातावरण में भटकने वाले एक परिवार की है। तो इसका मतलब यह हुआ कि जिन बातों का तअल्लुक इस परिवार से नहीं है वह बातें इस कहानी का अंग हैं। यह बात सच पूछिये तो उपन्यास के आरम्भ ही में साफ हो जाती है। कहानी यूँ आरम्भ होती है।

> "मैं सिंधिया हाउस के बस स्टाप पर बस से उतर रहा था···तभी पीछे से अपना नाम सुनकर मैं चौंक गया।" (पृष्ठ १२)

यह पुकारने वाला हरवंस है जो "हाथों में दो-एक पैकेट सँभाले बहुत उतावली में मेरी तरफ आ रहा था।" (पृष्ठ १२) इन पैकटों को ध्यान में रखिए क्योंकि कहानी इन्हीं पैकटों में है जो इन पैकटों में नहीं है वह कहानी में भी नहीं है। तो इन पैकटों में क्या है। इनमें एक तो खुद हरवंस है। एक नीलिमा है। यूँ तो नीलिमा की तीन बहनें और हैं परन्तु इस पैकेट में केवल शुक्ला है जिसके बारे में उसका कहना यह है कि वह उसे बेटी की तरह चाहता है परन्तु नीलिमा का खयाल यह है कि वह उसे चाहता है! और चूँकि इस पैकेट में शुक्ला है इसलिये इस पैकेट में वह सुरजीत है जो हरवंस को छोड़ने स्टेशन तक नहीं आता। परन्तु नीलिमा मधुसूदन के साथ जब शुक्ला स्टेशन से बाहर आती है तो सुरजीत को मौजूद पाती है! जैसे वह इसी दिन की राह देख रहा था कि हरवंस टले तो वह फ़ौरन शुक्ला पर कब्ज़ा कर ले! इन्हीं पैकेटों में शिवमोहन और भार्गव की छोटी-छोटी पुड़िया भी हैं। इन दोनों ने शुक्ला से इश्क़ किया। और फिर फुलझड़ी की तरह अपनी ही आग में जल कर ख़त्म हो गये। भार्गव तो सरकारी नौकर तक हो गया। इतना पैकटों में से किसी एक में

एक छोटा सा बच्चा है, जिसका नाम अरुण है। एक शहर है जिसका नाम दिल्ली है। एक और शहर है जो सारे का सारा "ठोस धुएँ का बना हुआ है" और जिसका नाम लंदन है। एक अंग्रेज लैंडलेडी है जो अपनी आदतों से कोई हिन्दुस्तानी बड़ी बूढ़ी दिखाई देती है। एक पोलीटिकल सेक्रेटरी है जो हरवंस को खरीदना चाहता था मगर नहीं खरीद सका!···इन पैरटों में बला की गुंजाइश है।—हरबंस एक खबर है जो खुद चलकर पत्रकार मधुसूदन तक आती है ताकि वह यह खबर दुनिया को सुना दे। और यह मधुसूदन इतना बुरा पत्रकार है कि स्कूप की तलाश में मारा-मारा फिरता है!

यह हरबंस एक महत्त्वपूर्ण समाचार है। इसे दूसरी छोटी-बड़ी खबरों में फँसना नहीं चाहिए। इसीलिए तो हरबंस सड़क पार करने पर बहुत खुश नहीं होता और इसीलिए :

> "सड़क पार करते ही वह रुक गया जैसे कि अपनी सीमा से जैसे बहुत आगे चला आया हो।" (पृष्ठ १३)

और इसीलिए सड़क पार करने के बाद भी वह :

> "मोटरों और बसों की भीड़ में कुछ ढूँढता रहा (पृष्ठ १३)

भीड़ में वह कुछ खोज ही रहा था कि मधुसूदन ने नीलिमा की बात निकाल दी और यह सुनते ही :

> "उसके हाथ इस तरह हिले जैसे अपनी खोई हुई चीज उसे भीड़ में नजर आ गई हो। मगर दूसरे ही क्षण उसके कंधे ढीले हो गये और उसके चेहरे पर निराशा की लहरें खिंच गईं।" (पृष्ठ १४)

बाक़ी सारी कहानी इन्हीं दो जुमलों की तफ़सीर (टीका) है।

इस उपन्यास में एक खास बात है। इसकी सारी घटनाएँ—महत्त्वपूर्ण घटनाएं रात को घटती हैं। यदि कहीं दिन है भी तो "लावो होम" में जहाँ मेज़ की बत्ती बुझा कर रात कर ली जाती है इसलिए एक दम से जब हम देखते हैं कि :

> "वर्षा से घुली हुई धूप रोशनदान से झाँक रही थी। आँगन से बत्तखों के कुड़कुड़ाने और पंख फड़फड़ाने की आवाज आ रही थी। मैंने बिस्तर से उठ कर खिड़की खोल दी। दो बत्तखें आँगन में चक्कर काट रही थीं।···"
> (पृष्ठ ४८८)

तो हम चौंक पड़ते हैं। एक दम से रोशनी होती है और वह भी "वर्षा से घुली हुई रोशनी", तो हमारी आँखें चकाचौंध हो जाती हैं और हम सोचने लगते हैं कि यक़ीनन कोई बड़ी बात होने वाली है। यह सुबह जाने कितनी रातों के बाद आई है। हम उस कहानी के खात्मे के लिए तैय्यार हो जाते हैं। क्योंकि कहानियाँ हमेशा रात के साथ खत्म हो जाती हैं। परन्तु इस कहानी के अंजाम का सुबह से क्या तअल्लुक़? हमने हरबंस को अँधेरे कमरे में बन्द रोते हुए देखने में रात गुज़ारी है।

नीलिमा जा चुकी है और उसने आने से इकार कर दिया है। फिर आखिर "वर्षा मे घुली हुई धूप" क्यो निकली है ? परन्तु :

> "मैंने कमरे का दरवाजा खोला तो सहसा ठिठक गया। सामने रसोईघर मे मिट्टी के तेल का स्टोव जल रहा था और उसके पास, उसके ऊपर झुकी हुई सी नीलिमा खडी थी।" (पृष्ठ ४८६)

मगर इसमें तअज्जुब की क्या बात है। नीलिमा ने तो बहुत पहले ही कह दिया था :

> "बस मै तुम्हे छोड कर अलग नही रह सकती।" (पृष्ठ २२७)

इसलिये कहानी खत्म हो गयी। तूफान गुजर गया। अँधेरा खत्म हो गया। सुबह हो गयी। और जब रात के साथ उसकी कहानी भी खत्म हो गयी तो अब कथाकार का क्या काम है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मधुसूदन इस कहानी के अन्दर नही है। वह कहानी के बाहर है और कहानी सुना रहा है। इसीलिये कहानी के खत्म होते ही अरुण बोला :

> "मैं आज से तुमको अपने घर में नही आने दूँगा।" मैंने उसकी बाँह पकड कर, उसे अपनी तरफ खींच लिया और उसके गालो को चूम लिया। ...अरुण ने मेरे हाथ से अपनी बाँह छुडा ली और उन्हे (बछडो को) फिर बगल मे लेकर पुचकारता हुआ बाहर चला गया।
>
> रोशनदान से झाँकती हुई धूप दीवार से फर्श पर उतर आई थी। मैंने घडी की तरफ देखा और उठ खड़ा हुआ। "मेरा खयाल है अब मैं तैय्यार हो जाऊँ और चलूँ।" मैंने कहा। (पृष्ठ ४६१)

मैंने किसी कहानी का इतना खूबसूरत खात्मा कम देखा है। इसीलिए मैं नादिरशाह को गजनी का बताने पर, और पजाबियो को "मूँटी काटा" बोलने पर, और भाषा की छोटी बडी गलतियो पर टोकने का इरादा खत्म करता हूँ। परन्तु यह अवश्य कहूँगा कि यदि राजकमल वाले (वाली) इस उपन्यास को दोबारा छापें और राकेश से कहें कि पत्थर की इस चट्टान मे छिपी हुई मूर्ति को बाहर निकालो तो यह एक बडा काम होगा।

मानवीय विवशता का अस्वाभाविक हस्ताक्षर[1]

शैलकुमारी

आज की इस विकसित और प्रगति की ओर भागने वाली दुनिया में हर व्यक्ति उभरना चाहता है, वह नहीं चाहता कि वह समुद्र की बूँद मात्र बन कर रह जाय और इसीलिए वह अवसर चाहता है अपने विकास का और जो कुछ सोचता, समझता है उसे कर गुजरने का या कि अपने बनाए हुए 'विजन' को पा लेने का। इसी कारण सबकी अपनी समस्याएँ हैं, वह निरन्तर उनसे जूझने में लगा रहता है और इस दौरान में कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है, कि वह एक दूसरे को अपने पथ का बाधक समझ कर उस पर संदेह करता है, उन्हें नीचा दिखाने की साजिशें करता है। स्नेह का कोमल धागा जो किसी हद तक बहुत दृढ़ भी होता है, उसके तार भी इस आपा धापी में अनेक बार तनते हैं, खिंचते हैं, टूटने-टूटने को होते हैं और आश्चर्य नहीं कि कभी टूट भी जाते हैं। व्यक्ति अपनी इस घुटन भरी जिंदगी को किसी के सामने उघाड़ना चाहता है और यदि ऐसा नहीं कर पाता तो अन्दर ही अन्दर टूटता रहता है। दूसरी ओर व्यक्तियों द्वारा निर्मित समाज का जीवन भी सभ्यता और संस्कृति के नाम पर कुछ विशेष प्रकार के मुखौटों को ओढ़ने के कारण बहुत हद तक खोखला हो गया है। अधिकांश राजनीतिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ मात्र व्यक्तिगत लाभ के लिए सौदेबाजी का क्षेत्र बन कर रह गई हैं। प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार ने 'न्यू हेराल्ड' के सम्पादक की भाँति ही मधुसूदन को अपना सहायक द्रष्टा मानकर एक झरोखे से इसी प्रकार की जिन्दगी को परखने और उसके अन्दर व्याप्त जटिलताओं को विश्लेषित करने की कोशिश की है।

उपन्यास की विभिन्न समस्याओं में जिन्दगी को सही ढंग से जी सकने की व्यक्ति की माँग या कि अपने अजाने गंतव्य तक पहुँचने की उनकी छटपटाहट को प्रमुख रूप से उभारा गया है। सभी पात्र जैसे अपने लिए रास्ते खोजते दिखाई देते हैं। यह बात दूसरी है, कि किसी को सही समाधान नहीं मिलता। विवाह एक ऐसा

---

१. अन्धेरे बन्द कमरे : मोहन राकेश

चौराहा है जहाँ से लगभग सभी को गुजरना पड़ता है पर किस रूप में, किस तरह से उसे स्वीकारा जाय इसे जैसे सभी पात्र टटोलते ही रह जाते हैं।

जिन्दगी की इस समस्या का सम्बन्ध मध्यवर्ग से बहुत गहरा है। आज मध्यवर्ग के सामने जिन्दगी जीने का कोई निश्चित 'पैटर्न' नहीं है और फिर इस वर्ग में अनेक स्तर हैं और इसमें व्यक्ति भी अनेक कोटि के हैं, अतः इस वर्ग के सामने यह सवाल सबसे ज्यादा जटिल और अनेकमुखी रूप में आता है। उपन्यासकार ने उपन्यास में सम्भवतः इसी कारण इस वर्ग के जीवन को सामने लाने का प्रयास किया है और इस दृष्टि से उपन्यास के अन्दर प्राप्त विभिन्न चित्रों में सबसे अधिक कटुता को लिए जो चित्र उभरता है, वह है मधुसूदन के मित्र हरबंस और नीलिमा का। दोनों ही मध्यवर्गीय परिवार के ऐसे सदस्य हैं जो सम्भावनाओं की जिन्दगी जीते हैं और सोचते रहते हैं कि शायद कभी उनको कुछ कर गुजरने का मौका मिल जाय और वे महान् बन सकें। मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग की सबसे बड़ी विडम्बना—कॉफी हाउस में बैठकर, पुस्तकों से अर्जित ज्ञान के सहारे भाषण देकर तथा नवीन प्रयोगों का हिमायती बनकर बुद्धिजीवी बनने की उत्कट अभिलाषा दूसरी ओर संस्कारों से कहीं इतना अधिक बँधे होने के कारण अपनी कमजोरियों और बाधाओं को समझ कर भी उनसे पीछा न छुड़ा पाने की दयनीय स्थिति—इस दम्पति के जीवन का अभिशाप है। हरबंस का उपन्यास लेखन का असफल प्रयास, अपने खालीपन को भरने के लिए देश छोड़ कर विदेश को प्रस्थान, वहाँ पुनः नीलिमा को बुला लेने का आग्रह, इधर नीलिमा का चित्रकला और नृत्य कला का अभ्यास, विदेश में इसका प्रदर्शन, ऊदान् के साथ तीन दिन अकेले बाहर रहने का प्रयास। भारत आकर दिल्ली कला निकेतन द्वारा नृत्य का असफल प्रदर्शन आदि दोनों के जीवन की इसी बेचैनी और छटपटाहट को व्यक्त करते हैं। हौसले उनमें बहुत हैं और इन्हीं के सपने देखते हुए प्रारम्भ में एक दूसरे के प्रति वे आकृष्ट होकर निकट आते हैं पर इन हौसलों को पूरा करने की सामर्थ्य उनमें है या नहीं इसे वे समझ नहीं पाते और इसी कारण उनके जीवन में तनाव, संघर्ष और संदेह के बादल घिरे रहते हैं और सारी शक्ति, सारा विश्वास यही सोचने में ढहता रहता है कि वे एक दूसरे के लिए उपयोगी हैं या नहीं। जिन्दगी महज घटनाओं को या संघर्षों को झेलने की तैयारी और उनका असफल सामना करने में ही निकलती जाती है जिसमें अनुभूति के क्षण खो से जाते हैं। इसके बावजूद संस्कारों के कारण या कि अकेले जीवन न जी सकने की विवशता के कारण एक दूसरे को दोषी ठहराते हुए भी दोनों बँधे रहते हैं।

हर मध्यवर्गीय व्यक्ति के सामने हरबंस और नीलिमा के जीवन की भाँति घटनाओं के मोड़ नहीं होते। अतः इनको पूर्ण रूप से वर्ग चरित्र नहीं माना जा सकता पर आज के शिक्षित समुदाय के एक विशेष प्रकार के 'टाइप' का प्रतिनिधित्व अवश्य करते हैं।

यों तो मधुसूदन भी इसी वर्ग का व्यक्ति है, वह भी इस स्थिति से अधिक

उबरा हुआ नहीं है। अपने को स्थापित करने के लिए वह भी प्रयोग करता है पर उसमे सूझ-बूझ कुछ अधिक दिखती है। पर आश्चर्य होता है जब उसकी यह सूझ-बूझ भी जिस युग मे वह जन्मा है उसके लिए नाकाफी हो जाती है। दिल्ली आकर वह कस्साबपुरा के जीवन मे पड़ गया है, पर उस माहौल से असंतुष्ट न होकर भी जैसे वह सतुष्ट भी नहीं है अतः उससे निकलना चाहता है और निकल भी आता है पर दूसरी ओर शुक्ला को चाहते रहने पर भी उसे पाने का साहस नही जुटा पाता, दूसरो के दुख-दर्द का सहयोगी बनकर भी अपनी घुमड़न किसी से कह नही पाता, सारा-सारा दिन बस के हिचकोले खाकर बिता देता है। पत्रकार के रूप मे बुद्धि जीवियों का अग अवश्य बन जाता है पर विवाहित जीवन को एक दूसरे का पूरक बनकर जीने की सुषमा की इच्छा उसे कहीं बहुत ओछी प्रतीत होती है और वह उसे स्वीकार नहीं कर पाता। ऐसा लगता है कि पूर्वाधिकार प्राप्त करने की पुरुष की सकुचित आदिम प्रवृत्ति कही उसे अपने घेरे से बाहर नही जाने देती और वह कस्साबपुरा की ओर निम्न को प्राप्त करने के लिए पुनः लौट आना चाहता है। या यह भी हो सकता है कि अपने निकट से जाने हुए हरबस और नीलिमा के जीवन चक्र की असफलता उसे ऐसा निर्णय लेने को बाध्य करती है। कारण कुछ भी हो पर यहाँ पर मधुसूदन के इस निर्णय से ऐसा लगता है कि लेखक जैसे समय की चुनौती से डर कर पलायन कर गया है। ठीक है मधुसूदन, हरबस और नीलिमा के कटु जीवन को देख कर महसूस करता है, कि उन्होने कही गलती की है, पर इस गलती का हल यह तो नही कि वह स्वयं प्रतिक्रियावादी बन जाय। जीवन की समस्या को सुलझाने के लिए मध्ययुगीन परम्पराओ के आगे नतमस्तक हो जाय और अपने जीवन जीने की इच्छा के सामने उसे दूसरों के जीवन का महत्त्व ही स्वीकार्य न हो। क्या सुषमा ■ साथ ही अधिक समझदारी से जीवन जीने की कोशिश उसे नही करनी चाहिए ? पुरुष का ही मुख देखने वाली समर्पित नारी की मूर्ति क्या उसकी बौद्धिकता के सामने कोई प्रश्न नहीं उपस्थित करती ? और सबसे बड़ा सवाल तो यह है कि पुरुष अपने लिए सभी अधिकारो की माँग करके, बौद्धिक जीवन जीने का दभ भरके भी क्यों नही नारियो को भी वही अधिकार दे पाता ? शायद यही कारण है कि यद्यपि उपन्यास प्रारम्भ होता है मधुसूदन को लेकर और अन्त भी उसी की समस्या के समाधान को चित्रित करते हुए, पर उसका खोखला और उखड़ा व्यक्तित्व इतना सशक्त और बेलाग नही बन पाता कि मन पर छा जाय। उसकी (मधुसूदन की) सारी बौद्धिकता, सारा अनुभव अन्त में मूर्खता का पर्याय ही प्रतीत होता है।

शुक्ला और सुरजीत के जीवन को कुछ अधिक खोल कर लेखक ने सामने नहीं रखा है, उनकी गतिविधियाँ प्रायः अँधेरे मे ही रह जाती हैं। पर नीलिमा के सुरजीत के सम्बन्ध मे कहे गए इस वाक्य से—"मेरा तो ख्याल है कि वह उसमे सबसे अच्छा आदमी है" सुरजीत और शुक्ला के जीवन में कहीं सामजस्य है, इसका आभास मिलता है। उपन्यासकार से सदैव उसके द्वारा उठाई गई समस्याओ के समाधान

की अपेक्षा नहीं रहती परन्तु इस उपन्यास में लेखक जब एक ओर हरबंस और नीलिमा के जीवन की असफलता को सामने रखता है और दूसरी ओर मधुसूदन की अनिश्चयात्मक मनःस्थिति तब उसके बीच सुरजीत और शुक्ला का जो चित्र उभरता है तो लगता है कि वह इससे अपने ही द्वारा उठाई गई समस्या का समाधान देने की कोशिश कर रही है। और यदि लेखक का सचमुच यह समाधान देने का प्रयास है तो यहीं पर प्रश्न उठता है कि क्या लेखक शुक्ला के माध्यम से यही प्रदर्शित करना चाहता है कि मुक्त विचारों में विश्वास रखने वाली आज की नारी के जीवन की परिणति अन्ततः अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व को खोकर घर की जिम्मेदारियों में बँधकर रह जाने में ही है? विवाह के पश्चात् एक के विकास का समाप्त हो जाना ही क्या सुखद पारिवारिक जीवन का आधार है? और इन्हीं कारणों से यह समाधान समाधान होकर भी आज के समय की दृष्टि में अधूरा रह जाता है।

मध्यवर्गीय जीवन का एक दूसरा स्तर इससे पर्याप्त भिन्न है, इसकी जिन्दगी की अपनी दूसरी समस्याएँ हैं। यहाँ व्यक्ति के सामने बौद्धिक समस्या नहीं है, एक दूसरे को घटा देते हुए आगे बढ़ने का भी प्रश्न नहीं है, पर फिर भी नाम बनाए रखने की चाह है। अभावों के कारण टूट कर भी न टूटने की दृढ़ता और अवसर की ताक में न रहकर जो कुछ भी प्राप्त है उसी के भोग में निमग्न रहने का दौर यहाँ दिखाई पड़ता है। करसायपुरा की ठकुराइन इसी मध्यवर्गीय जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। धन के अभाव में वह जैसे-तैसे जिन्दगी गुजारती है और कष्टों को झेलते हुए भी मुँह से उफ नहीं करती। झाँइयों से भरे उनके चेहरे के पीछे क्या है इसे देखने वाले की आँखें भाँप नहीं पाती, उसे कभी वह प्रौढ़ा स्त्री के रूप में और कभी छोटी गुड़िया के समान नजर आती है। ठाकुर के मर जाने के बाद भी उनके नाम की चिन्ता उसे बराबर बनी रहती है इसीलिए पत्र उन्हीं के पते पर मँगाना चाहती है और लड़की (निम्मा) भी सुपात्र को देना चाहती है। इन सब संघर्षों के बीच भी स्नेह का मूल्य भी वह किसी भी कीमत पर चुकाने को तैयार है, इसी कारण मधुसूदन के लिए मुहल्लेभर से लड़ाई मोल ले लेती है और अखबार की रिपोर्ट मधुसूदन ने ही लिखी है, यह न बताने को कह देती है। पर जब स्वाभिमान पर चोट लगती है तो केवल मूक भाव से आँखें पोंछते हुए प्रस्थान कर देती है। इबादतअली भी इसी वर्ग की तस्वीर है, उसके नाम की तख्ती ही मानो उसके पूरे व्यक्तित्व को साकार करती है। तख्ती पर से नाम के अक्षर मिट चुके हैं, वह टेढ़ी हो गई है फिर भी किसी तरह दीवार से लगी है, यही स्थिति ईबादतअली की है। उसकी लड़की (गुरदीप) हाथ से निकल जाती है, गली मुहल्ले वाले जमीन-जायदाद हड़पने की फिराक में हैं फिर भी टूटे सितार से न जाने कहाँ से रागिनी आती हो जाती है जो अपने पूरे परिवेश पर छाई रहती है।

व्यक्ति और परिवार के जीवन की कशमकश और उनके बाहरी एवं भीतरी जीवन के दुहरे रूपों को खोलने के साथ ही लेखक ने आज के जीवन में कला और

दर्शन किस प्रकार अनुभूति की चीजें रहकर मात्र दिखावा या मौखिक विवाद के विषय बन गये हैं। इनकी व्याख्याएँ और संस्थाएँ किस प्रकार व्यक्ति की स्वार्थ-पूर्ण नीतियों पर आधारित हैं, इसका भी उल्लेख किया है। 'भारतीय सांस्कृतिक केन्द्र' किस प्रकार आज 'बफर स्टेट' को बनाए रखने का साधन मात्र हैं और उसके कार्य-कर्त्ता गण (पोलिटिकल सेक्रेटरी) किस प्रकार अपनी व्यवहार कुशलता से यह सब संभालते हैं, लेखक ने व्यंग्यात्मक लहजे मे इसे ही सकेतित करने की कोशिश की है। भारत में 'दिल्ली कला निकेतन' से नीलिमा के नृत्य प्रदर्शन के आयोजन की तैयारी के लिए जो नुस्खे प्रयुक्त किए गए हैं उनमे भी इसका आभास मिलता है। सास्कृतिक केन्द्रों के अतिरिक्त अन्य सस्थाएँ भी जैसे महज एक सामुदायिक विकास के नवीन प्रयोग हैं कार्य की गुरुता को निबाहने के लिए नही, पत्रकारिता के माध्यम से लेखक ने इसे स्पष्ट किया है। मधुसूदन जिस समाचार पत्र मे पहले काम करता था वहाँ सभी असतुष्ट हैं, खीभ्के हुए हैं पर जिन्दा रहने के लिए काम जरूरी है अत. जबर-दस्ती काम का बोझ ढोते नजर आते हैं। अन्य सस्थाओ मे भी पत्रकार अपना कौशल प्रदर्शन करने, योग्यता प्रमाणित करने के लिए 'स्कूप' और 'स्कैण्डल' की तलाश मे रहते हैं। उसकी सचाई पर उनका ध्यान नही रहता, सुरजीत की पत्रकारिता इस ओर सकेत करती है। सचाई का अगर कही व्यवस्था या शासन से विरोध होता है तो उसे बचा जाना ही श्रेष्ठ नीति है 'न्यू हेराल्ड' का सम्पादक यही उपदेश मधु-सूदन को देता है। उपन्यास मे मधुसूदन और हरबस आदि इन सब स्थितियो को देखते हैं, सोचते हैं और गुनते हैं पर हारे जुआरो की भांति घटनाओ के केवल द्रष्टा बन कर रह जाते हैं। जाने क्यो कोई भी ऐसा व्यक्ति नजर नही आता जो इन विसगतियों के बीच विद्रोह कर रहा हो। नया-नया पत्रकार सुकुमार भ्रष्टाचार की बातें उठाता अवश्य है पर उसे भी अपनी गलती शीघ्र ही महसूस हो जाती है। अत: हथियार डाल देने वाली जिस नपुसक स्थिति का लेखक ने चित्र खीचा है उसमें समस्या का बोध तो होता है पर उपन्यास में फैली निष्क्रियता और अर्थहीनता से मन जैसे लुंज ही बना रहता है और समस्याएँ भी अपनी अर्थवत्ता खो देती है। ऐसा लगता है कि आधुनिक होते हुए भी लेखक ने जो कुछ जैसा है, उसे उसी रूप में नियति का वरदान मान कर स्वीकार कर लेने की दृढ प्रतिज्ञा कर रखी है।

शिल्प की दृष्टि से इस उपन्यास पर विचार करने का उद्देश्य इस निबंध मे नही रहा है अतः उसके सम्बन्ध मे कुछ न कहना ही उचित है पर एक बात जो बहुत स्पष्ट है वह यह कि उपन्यासकार ने उपन्यास के माध्यम से व्यक्ति और समाज की जिन विविध समस्याओ को मधुसूदन की सूक्ष्म दृष्टि और अनुभूतियो के बल पर सामने लाने की कोशिश की है उसमे मधुसूदन का पत्रकार वाला व्यक्तित्त्व जैसे आड आ जाता है। घटनाएँ प्रत्यक्ष रूप से पाठक से नही टकरातीं, पाठक को पहले मधुसूदन के निकट जाना पड़ता है फिर उसके झरोखे (कोठे) से उसे बातें समझानी पड़ती हैं जिससे ताजगी समाप्त हो जाती है। साथ ही काठ बाजार की वेश्यावृत्ति,

मुगल काल के बाद की कला आदि के जो 'रिव्यू' उपस्थित किए गए हैं उसमे मधुसूदन की मार्मिक दृष्टि की प्रशंसा अवश्य हो जाती है पर वास्तविक स्थितियो में उससे कोई परिवर्तन नही आता और कथानक खिचता मालूम पड़ता है। यह बात नही है, कि कथानक जितना है उससे आगे हो ही नही सकता उसमे अभी भी संभावनाएँ हैं पर केवल तभी जब लेखक इन सब स्थितियो के बाद मधुसूदन को टैक्सी को जस्सावपुरा की ओर न बढाकर पुन. 'कान्सीक्यूशन हाउस' की ओर मुड़ता हुआ दिखाता है।

यही कारण है कि उपन्यास पढने पर लगता है कि समस्याएँ तो सचमुच जीवन की हैं, पर शायद इन्हे और अच्छी तरह उभारा जा सकता था और कुछ अच्छे समाधान तक पहुँचने की कोशिश की जा सकती थी जिसे लेखक करना चाह कर भी नहीं कर पाया है या कौन जाने उसे अभी तक समाधान स्वय भी न मिला हो।

स्वप्नशील व्यक्तित्वों की असमर्थ कहानी[1]

●

शरद जोशी

पुंस्त्वहीन नायकों की सृष्टि में इधर हिन्दी उपन्यासों ने काफी प्रगति की है। घटनाओं वाला जमाना गया जब पात्र सोचता था और कर गुजरता था। अब पात्रों की स्थिति तालाब में तैरते हुए एक अकेले पत्ते की है—जो भरे पूरे पेड़ की स्मृतियाँ लिये पेड़ से टूटा है और लहरों के साथ यहाँ-वहाँ होना ही उसका वर्तमान है। धीरे-धीरे सड़ जाना उसकी नियति। इसी बीच वह तालाब के विस्तार और गहराई को बूझ पाने के बावजूद अपनी विवशता समझ जाता है। पर लम्बी प्रक्रिया में कितने पृष्ठ लिखे जाते हैं। आदमी के अन्दर से रेंग-रेंग कर बोलने वाले इतिहास के हर पल में कुछ विशेषता है और उपन्यासकार उन जिन्दगी से सिक्त पलों को छोड़ नहीं पाता क्योंकि पेटर्न की सम्पूर्णता उससे माँग करती है। 'यह पथ बन्धु था' की रचना के समय उपन्यासकार के सम्मुख यह प्रश्न बार-बार उठा होगा कि जहाज के पंछी को कितना आकाश अपनी दृष्टि और अनुभव में बाँधने की स्वतन्त्रता दी जाए। विशेष रूप से ऐसा पंछी जिसमें जिज्ञासा नहीं है पर एक मजबूरी है जो उसे जहाज से अलग कर रही है और अपनी उड़ान के समय उसके पंख अतीत ने काफी कुछ काट रखे हैं।

उपन्यास की कथा सिर्फ पंछी की नहीं आकाश और उस जहाज की भी कथा है, केवल लहरों में सड़ते पत्ते की ही नहीं वृक्ष और तालाब की भी कथा है। उज्जैन के पास का एक काल्पनिक कस्बा (जो पुराने आगर और शाजापुरा को मिला कर बनाया गया है) उपन्यास की मूल कथा-भूमि है। सामन्तवाद की अन्तिम छाया की लम्बाई बहुत गहरे तक कस्बे में है, सब कुछ ठहरा हुआ, ठिठका हुआ है। जहाँ छोटी सी बात घटना का सम्मान पाती है। ब्राह्मणी संस्कारों से ग्रस्त और पुराने मान मूल्यों की रक्षा करने में विश्वास रखने वाले श्रीनाथ ठाकुर कीर्तनिया के परिवार के टूटने, बिखरने की यह कथा बार-बार अकेले श्रीधर की कहानी बन जाती है। एक बड़े वृत्त के साथ छोटा वृत्त है श्रीधर जो इस ठिठके और नष्ट होते अतीत से टूटता है

---

1 यह पथ बंधु था : नरेश मेहता

और उन समानान्तर रेखाओं को छूता है जो अपने देश के इतिहास की महत्वपूर्ण रेखाएं हैं पर अपनी लघुता की नियति से बंधा पराजय बोध से ग्रस्त लौट आता है। यह एक असफल व्यक्ति की कहानी है जिसे सफलता की किसी दिशा ने मोहित नहीं किया। उपन्यास का यह वाक्य—'उन्होंने प्रत्येक बार समुद्र की रत्नाकरी सीमाओं में प्रवेश करने की भरसक चेष्टा की लेकिन कोई न कोई ज्वार उनके सारे कर्म को नगण्य सिद्ध कर हर बार किनारे पर ला पटक देता—श्रीधर के विषय में सही लगता है पर पुंस्त्वहीनता यही है कि उन्होंने कभी भरसक चेष्टा नहीं की, वे वहां जाने को विवश थे। पौरुष को ठीक से श्रीधर कभी परिभाषित नहीं कर सका। इसी कारण उसका तथाकथित पौरुष उसकी पीड़ा बन गया। उसे साधारण व्यक्ति का गौरव प्रदान करने के अतिरिक्त लेखक क्या कर सकता था।

बहुत अधिक शस्त्रों से लदा व्यक्ति युद्ध नहीं लड़ पाता। वह सारे शस्त्रों को सुरक्षित रखने रणक्षेत्र से भाग आए तो अहोभाग्य। सद्गुणों से लदा श्रीधर जागरण और क्रान्ति के युग में जब त्याग, श्रम, ईमानदारी और संकल्पनिष्ठा की समाज और देश को आवश्यकता थी असफल रहा और अपने माध्यम होने की महत्ता उसे प्रेरित नहीं कर सकी। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की यही ट्रेजेडी है। रथ पर गर्व से खड़े व्यक्ति की जय जयकार में व्यस्त लोगों ने सारथी की उपेक्षा की। उसका महत्व नकारा गया। फिर उनकी थकान क्या जो मात्र कर्तव्यबोध में विवश कुछ देर रथ के साथ दौड़े पर अधिक दौड़ न सके, थक कर, टूट कर गिर गये और समय के पैर उन्हें रौंदते चले गये। समूचा उपन्यास उस लावारिस शव का इतिहास है जो हलचल भरे रास्ते पर हुई दुर्घटना का शिकार हुआ जिसे अन्ततः लावारिस मान लिया गया। उपन्यास के अन्त में अपने पानी से टपकते पुराने घर में धोती की खूंट आंखों पर लगा बिसूरने वाले श्रीधर की पीड़ा एक ऐसे व्यक्ति की पीड़ा है जो आत्महत्या नहीं कर सका। वह पराजित और घायल होने की एक ऐसी अवस्था थी जब आत्महत्या कोई मतलब नहीं रखती। बजाय आत्महत्या के वह एक और मरीचिका में अपने को भुलाने में लग जाता है, एक और संकल्प का नशा उसे गाफिल कर देता है। यही उसका मालवीपन है जो बीच में कहीं-कहीं बिखरने बिगड़ने के बावजूद अन्त तक बहुत भली प्रकार निभाया गया है।

नागरों और औदिच्यों के इस मालवी मध्यमवर्ग पर नरेश मेहता की पकड़ अच्छी है। उस सारे यथार्थ को वह कविता का सुनहरा मोम चढ़ाना है, सारी कविता को काट कर जो यथार्थ रह-रह कर चमक उठता है वह अत्यन्त सजीव है। मालवी सौंदर्यबोध का आग्रह है कि गोबर में लिपे और गधाने कदा की पृष्ठभूमि गहरे रंगों में सवारी सजाई जाएं। नरेश मेहता ने इस हलकी भूरी-भूरी पृष्ठभूमि को बंगाली रेखाएं और धब्बे दिये हैं। शायद उन्हें इस अपनी विशिष्टता पर गर्व है। पर इस उपन्यास के परिवेश में वे नितान्त व्यर्थ लगते हैं। उपन्यास पढ़ते समय में यह भी विचार गया कि नायक की सारी कमजोरियाँ बंगला के प्रभाव में तो नहीं हैं। राम

तौर से उपन्यास के अधिकांश भाग को समेटे उसका स्पष्ट दीदीवाद। श्रीधर के अलावा दूसरा पात्र बिहान भी इसी दीदीवाद से बीच-बीच में ग्रस्त रहा पर उसकी सकल्प चेतना उसे इस नपासत से मुक्ति दिला देती है और इसी कारण वह उठ भी सका है।

सीमा में बँधी स्त्री अपने वृत्त को चीर कुछ कर जाती है तो औपन्यासिक परिवेश में उसका चरित्र उभर आता है। सारी सभावनाओं और होहल्ले के बावजूद पुरुष उतना नहीं कर पाता जिसकी घोषणाएँ वह प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष करता है। इसी कारण बगला और बगला-प्रभावित उपन्यासों का यह विशिष्ट दीदी चरित्र अधिक जानदार दिखाई देता है। नारी चरित्र जहाँ विवश है वहाँ सामाजिक स्थितियाँ और रूढ़ियाँ उत्तरदायी है और जहाँ वह साहस का परिचय देती है वह उसके अपने व्यक्तित्व की करामात है। उपन्यासों में दीदियों के रुतबे इसी कारण हैं। 'यह पथ बन्धु था' में एक है इन्दु दीदी और दूसरी मालती दीदी। इन्दु दीदी कस्बे के पुराने सामन्त लाला साहेब की पुत्री है जो श्रीधर की सखी हैं। वह श्रीधर को पढ़ाती है, प्रकृति की सैर कराती हैं और उसे विशिष्ट बनाती है। दोनो की आयु में अन्तर काफी है। श्रीधर को पास सटाने से इन्दु को शरीर की उष्मा का परिचय मिलता है। बालक श्रीधर इन्दु के गुरुकुल का एक छात्र है, पीछे-पीछे भटकता है। सुसस्कृत निरभिमानपन का इजेक्शन लगा इन्दु चली जाती है वधू बनकर और श्रीधर उसकी स्मृतियों में जीता है। श्रीधर का स्मृतियों में जीना सारे उपन्यास के कथ्य ही नहीं शिल्प को भी प्रभावित करता है। कलम लगातार अतीत और वर्तमान के बीच टहलती है, रुक जाती है और फिर एक धक्के से बढ़ती है। यह धक्का किसी घटना से आता है। श्रीधर करता नहीं हो जाता है। कस्बे के स्कूल से त्यागपत्र देना उसके साहस की पराकाष्ठा थी। वह एक रात गौतम बुद्ध की अदा से घर छोड़ देता है। श्रीधर का भ्रम था कि चुनौती को स्वीकार करना ही विजय के लिए पर्याप्त है। पत्ता डाल से टूटता है यह समझ कि ससार विशाल है पर निकट के तालाब में गिर कर सड़ने लगता है। वर्तमान के निर्मम वास्तव के सामने अतीत में सजोया सब कुछ अनुपयोगी हो जाता है। साहस भी। श्रीधर के इसी संघर्ष और असफलता की कहानी कहना उपन्यासकार का लक्ष्य था। पर उपन्यासकार के जाने अनजाने यह श्रीनाथ ठाकुर कीर्तनिया के परिवार के टूटने की कहानी बन गई। कीर्तनिया जी, श्रीधर की पत्नी सरो, लड़की गुनो, मा सरिश्तेदार भाई और उसकी पत्नी अधिक सशक्त चरित्र बन गये। विशेषकर सरो जिसकी तुलना में सब तुच्छ लगते हैं, उपन्यासकार ने श्रीधर के परिवार के सदस्यों को दो स्पष्ट भागों में बाँट मुक्ति चाही थी—अच्छे और बुरे। भजन, रामायण और रुद्रपाठ आदि धार्मिकता की तहों में इन्हें लपेटा था। कर्तव्यबोध में उन्हें जकड़ा था पर नरेश मेहता का मानवी जीवन का अनुभव इन सारे पात्रों को जीवंत बना गया। आचलिकता से बचने के सचेष्ट प्रयासों के बाद भी मूल अनुभवों के प्रति ईमानदारी ने इस उपन्यास में जान डाल दी है। सारा उपन्यास कवि नरेश मेहता और उपन्यासकार नरेश मेहता के

आत्म-संघर्ष से प्रभावित है। कवि नरेश मेहता 'रत्ना' की सृष्टि करता है जो श्रीधर को धीमे से कान में कह जाती है 'तुमि आमार शामी' और उपन्यासकार नरेश मेहता 'सरो' की ओर आकृष्ट है जो पति के जाने के बाद उसके सारे परिणामों को भोगती है। 'सरो' के विषय में बार-बार एक शब्द उपयोग हुआ है 'खटना'। सरो दिन भर खटती है। उसके प्रति सहानुभूति में वे बार-बार यही कहते हैं कि वह दिन भर खटती है। शेष समय उसे उपन्यासकार सूरदास या तुलसी की पोथी थमा देता है। सारी कविताएँ अन्य पात्रों के लिए सुरक्षित हैं। और प्रणाम करते पेमेन बाबू इतने सुन्दर लग रहे थे मानो स्नानित सवेरा, पृथ्वी को प्रणाम कर रहा हो। 'इन अर्थहीन पात्रों को कवि नरेश ने कविताओं से संवारने की चेष्टा की। शायद वे सोचते थे कि कविता के कोमल कन्धों पर हाथ रख कर यह उपन्यास बढ़ेगा और भले बढ़ेगा पर यह भरोसा उन्हें धोखा देता है। 'तुमि आमार शामी' कहकर जीवन का सारा अमृत छान में टपका कर जाने वाली 'रत्ना' का यह बंगाली भटका कितना सतही लगता है। किसी भी प्रबुद्ध पाठक के लिए बंगला से उधार लाए ऐसे चरित्र इस व्यापक परिवेश में अर्थहीन हो जाते हैं। मालवा के वर्णन में जो कविता उपयोगी सिद्ध होती है पात्रों के गठन में वह अत्यन्त अनुपयोगी। नरेश मेहता को इस मोह से मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिए थी। उपन्यासकार 'अज्ञेय' कवि 'अज्ञेय' से धोखा खाकर अपने उपन्यास को कमजोर बना चुके हैं। इस अनुभव से नरेश मेहता को लाभ लेना चाहिए था। जरूरी नहीं था कि वे आंचलिक होते पर वे मालवा पर विश्वास कर सकते थे। पर जैसे-जैसे उपन्यास बढ़ता है सारी कविताएँ 'सरो' के ठोस चरित्र की दिशा में समर्पित भाव से बढ़ने लगती हैं।

एक मोटे उपन्यास की रचना के समय लेखक का सबसे बड़ा रोना यह रहता है कि वह क्या रखे और क्या काटे। लेखकीय मोह और सम्पादकीय तर्क में समझौता अक्सर नहीं हो पाता। पर नरेश की परिपक्वता इसमें है कि वे प्रवाह को काट देने की कला जानते हैं। वे कई बार इस क्षमता का उपयोग करना भूल गये हैं पर वे जहाँ चाहते हैं कर सकते हैं। उपन्यास की कथावस्तु उज्जैन के पास के उस कस्बे, इन्दौर और बनारस में बँटी है। अपने कस्बे में श्रीधर स्मृतियाँ सजोए रखने के अलावा स्टीन किस्म का जीवन जीता है पर इन्दौर और बाद में लम्बे समय तक बनारस में वह नयी परिस्थितियों से गुजरता है, समझता है और अनियमित दण्ड भोगता है। आन्दोलन करते कांग्रेसियों और क्रांतिकारियों के मध्य वह स्वाधीनता के राष्ट्रीय संघर्ष के सत्य और ढोंग को करीब से समझता है और उसकी मुसीबतों का मनचाहा हिस्सेदार हो जाता है। श्रीधर के अनुभवों में रसे रचे ये वर्णन बनारस की गलियों की तरह सकरे हैं और प्रारम्भ के घटनाहीन दिनों को विस्तार दिया गया है, मालवा के पठार वाला विस्तार। स्कूल की नौकरी से त्यागपत्र वाली घटना को जितना विस्तार मिला है या श्रीमोहन के परिवार में घटने होने वाले मामले को, वैसा श्रीधर के सम्बे जेल जीवन को भी नहीं। कोई और लेखक उपन्यास को इस तरह नहीं बाँटता। कृति को पैनी और सशक्त बनाने के आग्रह उसे प्रेरित करते और

मारा उपन्यास दूसरे ढंग से विस्तार पाता। पर नरेश मेहता ने अनुभवों और अभिव्यक्ति के मध्य संतुलन का ईमानदारी से निर्वाह किया है। श्रीधर को अंततः लौटना है, खाली हाथों, पराजित। उपन्यास का यह भावी अन्त गठन को प्रभावित करता है। वे जल्दी-जल्दी उसे अनुभवों और निराशा से लादते हैं ताकि वह लौट सके। फिर भी शाजापुर-आगर की तरह पुराने इन्दौर और बनारस के वर्णन भी सजीव हैं। कई चरित्र समाज से ज्यों के त्यों उठा कर दिए गए लगते हैं। अच्छी बात है। इस समय अभिनन्दन बटोरने में मशगूल ये चरित्र अपने ओछेपन के साथ साहित्य में ही सुरक्षित रह जाएँ तो भावी पीढ़ी को आज़ादी के आन्दोलन के समय का यह घृणित रूप समझने में सुविधा होगी। कीर्तनधर्मी इतिहासज्ञों से तो इसकी आशा करना व्यर्थ है। यह काम लेखकों को ही करना होगा। 'यह पथ बन्धु था' में इन्दौर की पुस्तकें और बनारस के सकलदीप नारायण सिंह के रूप में ऐसे चरित्र उभरे हैं। इस प्रकार यह उपन्यास आरम्भ में विस्तार से उठता है पर अन्त में तेजी से सिमटता है। वे दोनों छोर प्रभावकारी हैं। स्वप्नशील परन्तु अपनी ही बनाई बेड़ियों के कारण असमर्थ मालवी व्यक्तित्व दोनों छोर पर ठीक से चित्रित हुआ है। जैसा कि मोटे उपन्यासों में होता है उपन्यास के आरम्भ में अनेक छोटे-छोटे चरित्र उठते चले आते हैं और जब मूल कथा तेजी से बढ़ती है वे एकदम अनुपयोगी होकर बण्डल बनाकर फेंक दिए जाते हैं। उनकी सार्थकता इसी में है कि वे एक विराट दृश्य के चित्रण में हाथ बटाते हैं। बाला साहेब, गाडगिल हैडमास्टर, नारायण बाबू, पेमैन बाबू, लक्ष्मण, त्रिपाठी जी इस दृष्टि से सफल हैं। कवि स्वभाव के कारण कहिए या चरित्र से व्यर्थ अधिक अपेक्षाएँ करने के कारण मालती दीदी की कथा को व्यर्थ बढ़ाया गया है। विशन उन्हें दीदी कहता है और एकाध बार विवाह का प्रस्ताव भी कर देता है फिर भी इस चरित्र का खोखलापन कायम रहता है। इस दीदीवाद के लिहाफ में ढका दमित सेक्स एकाएक उद्घाटित होता है जब विशन अपनी दीदी से ही विवाह का प्रस्ताव रख देता है। यद्यपि वह इसी समय कमल से प्रेम करता है और विवाह की कोशिश में है। अलग-अलग चेहरे लगाकर घूमने वाला यह क्रांतिकारी चरित्र समानान्तर स्तरों पर जीता है। वह पुस्तकों की राजनीतिक मठाधीशी को तोड़ना चाहता है और कमल से विवाह करता है। वह क्रांतिकारी है और इन्दौर के अंग्रेजी ए० जी० जी० पर मालवा-हाउस (जहाँ आजकल रेडियो स्टेशन है) में गोली चलाकर मार डालने का प्रयास करता है। इसी में वह मारा जाता है। विशन को जितने विलंबित लय से उठाया गया उतना ही द्रुतलय में समाप्त कर दिया गया। रत्ना रह जाती है। शेष उपन्यास में बंगाली तरुणी के समर्पित भाव से यदाकदा श्रीधर से मिलती है एक 'मनृष्ण नैकट्य' के बाद बार-बार दूर हो जाती है और अन्त में श्रीधर को "तुमि आमार दादो" का वाक्य बोल फाँसी चढ़ जाती है। इस सतही बंगालियत पर नरेश अकारण भरोसा करते हैं। जैसे-जैसे उपन्यास में श्रीधर के कटु अनुभवों की पोर वास्तविकताएँ सामने आती हैं, कल्पना से प्रसूत सारे पात्र पीछे छूट

जाते हैं। शेष रह जाती है "सरो" जो उपन्यास की रीढ़ है। जिस इन्दु दीदी की प्रेरणा से श्रीधर का चरित्र-निर्माण हुआ, जिसके कारण वह घर से बिछुड़ा, अपने पौरुष की क्षमताएँ पहचानने को यहाँ वहाँ भटका, उसी इन्दु दीदी से वह बनारस में बाबा विश्वनाथ मन्दिर में रुद्रपाठी दक्षिणाभिलाषी ब्राह्मण के रूप में मिलता है। अजीब प्रसंग है। वह संपत्ति का मोह त्याग हिमालय जा रही होती है और इस याचक को जो अपनी असमर्थता से साक्षातकार कर चुका है, घर लौट जाने की सलाह देती है। जीवन ने दोनों को निराशा दी है पर अभिजात और मध्यम वर्ग का भेद कितने अलग असर करता है। टूटा हुआ श्रीधर घर लौट आता है। दीदी के आदेशों की डोर में सारा उपन्यास कसा गया है। एक तार है जो घटनाओं और परिस्थितियों के प्रभाव को नकारता झनझनाया करता है। कभी-कभी व्यर्थ।

उपन्यास की छत अनेक स्तम्भों के सहारे खड़ी की जाती है। पाठक उसके नीचे विश्राम लेता है। अगर स्तम्भ कमज़ोर हुए तो छत पाठक के सिर पर टूटती है। कीर्तनिया जी के परिवार की कथा-व्यथा, सरो, गुनी, सावित्री और कान्ता से चरित्र मोहेश्वर के आतंक से काँपता और श्रीधर के आगमन की कल्पना में आर्थिक निराशा और तनाव में जीते परिवार की कहानी इस उपन्यास की छत को गिरने नहीं देती अन्यथा सिर्फ़ मालती और रतना से पात्र हमें दहा देते।

उपन्यासकार नरेश मेहता का कथन है कि उन्होंने मालवा के साधारण व्यक्ति को व्यक्तित्व देने का प्रयास किया है। वह महापुरुष नहीं पर मानुष अवश्य है। ज़ोर उसके साधारण होने पर है। स्वयं श्रीधर रतना से कहता है—क्षेम-प्रक्षेम की बात साधारण लोगों के लिये थोड़े ही है रतना! हम तो माध्यम हैं। अच्छा है कि किसी शुभ काम के निमित्त बनें। पर यह यदि सत्य है तो इस साधारण जन को अन्त में निराशा क्यों होती है? आदर्शों का मुलम्मा टूटने के बाद वे अपने को अवश क्यों पाते हैं? स्वप्रेरणा से सारे जीवन को आहूत करने वाला साधारण जन अपने ही कथन के अनुसार निमित्त बन लिया, फिर वह दुःखी क्यों है। परिवार के सदस्य और मित्र अवश्य यह समझ सकते हैं कि श्रीधर अपने पौरुष के बल पर कमा कर लाएगा अतः निराशा उन्हें होनी चाहिए। श्रीधर का आदर्श तो विवेकानन्द की तरह विशाल पृथ्वी पर भटकना ही था। वह कौन से लक्ष्य को लेकर चला था जो उसे अन्त में निराशा हुई। उसकी निराशा का एक ही कारण हो सकता है। श्रीधर को यह अहसास होना कि जिस युद्ध में वह सिपाही बन लड़ रहा है, विजय प्राप्त होने पर वह श्रेयाधिकारी नहीं होगा, उसका कोई हिस्सा नहीं है। हिस्सेदार होंगे पुष्कर्ण और जमींदार महलदीप नारायन सिंह। अंग्रेज़ों ने आज़ादी का समझौता भारतीय जनता से नहीं भारतीय पूँजीवाद से किया। आज़ादी उन व्यक्तियों के भय से नहीं मिली जो आज़ादी के लिये लड़ रहे थे पर उन व्यक्तियों के भय से मिली जो आज़ादी के लिये नहीं लड़ रहे थे। न लड़ने वाला यह विराट समूह यदि उठ गया होता तो अंग्रेज़ों की अपमानजनक वापसी होती। उन्होंने आज़ादी दी और

इसका श्रेय उन्हे दिया जिनसे वे भयभीत नही थे। इस तेजी से हुए परिवर्तनो की चकाचौंध को साधारण जन ने देखा और वह जयजयकार करने लगा। जब चकाचौंध समाप्त हुई तब वर्षों बाद जनता को यह महसास हुआ कि आजादी का लाभ उन्हे नही किसी और वर्ग को मिल रहा है। श्रीधर की निराशा इसी कारण है तो निश्चित ही वह अनजाने ही समाज का प्रतिनिधित्व कर गया है। पर जैसा कि नरेश मेहता ने भूमिका मे उसकी अपेक्षा की थी यह एकान्त-फूल, लोहित अंकुर फूट कर वासुदेव नही बना। वह धोती से आँखें पोछता रोता रहा। बिशन ने इंदौर मे इस तथ्य की ओर संकेत किया था—दुःख या परिताप इस बात का है श्रीधर! कि अंग्रेज के शोषण को तो शोषण कहकर सब उसके विरुद्ध सत्याग्रह करेंगे लेकिन इन पुस्तके साहब जैसे लोगों के शोषण को आप त्याग, तपस्या, देशसेवा आदि कहने के लिए बाध्य हैं। आज पांच बरस से घुट रहा हूँ, कोई उत्तर नही मिलता।—बनारस में शास्त्रीजी इसी समस्या के एक पहलू की ओर संकेत करते श्रीधर से कहते हैं—'*आपको देश सेवा करने की गलतफहमी है न, इसीलिए? आपको किस कविराज ने राजनीति मे जाने का निदान बताया श्रीमान! ज़रा हम भी तो सुने? अच्छे खासे अनुवाद करने लगे थे और असहयोग मे कूद पड़े। अरे वे लोग जेल गये तो हजारो की वकालत का नुकसान करके, जमींदारी का हर्जाना करके, तो प्रचार द्वारा कुछ मुआवजा भी न लें। आप क्या छोड़ गये थे?* मेहता की मालवी पूँजी समाप्त हो रही है और वे दुहरा रहे है। सौभाग्य से जिस समाज और परिवार को उन्होंने बांधा है वह भी ठहरा हुआ, सड़ता हुआ जल है अतः यह दुहराव शिल्प का आभास देता है अन्यथा मुट्ठी भर मालवा के दमबूते पर छह सौ पृष्ठो का तम्बू तानना कठिन होता। मैं यह भी सोचता हूँ कि किसी परिपक्व उपन्यासकार को पाठको के मन मे करुणा उपजाने या सहानुभूति प्राप्त करने के लिये 'यक्ष्मा' आदि रोगों का सहारा लेना अब बन्द कर देना चाहिये। 'सरो' बिना मरीज हुए भी अपने दर्द की ओर ध्यान खींच सकती थी।

कुल मिलाकर यह कृति सफल और विशिष्ट है।

आँचलिक समग्रता की सच्ची अनुभूति[1]

•

रामदरश मिश्र

यह उपन्यास आँचलिक नाम से अभिहित किया गया है। क्या इस उपन्यास को आँचलिक विशेषण यों ही दे दिया है या इसके वस्तु-संगठन और जीवन ग्रहण की दृष्टियों में कुछ ऐसी नवीनता है जिसे व्यक्त करने के लिए उपन्यासकार को यह विशेषण जोड़ना पड़ा है। मैं समझता हूँ कि मैला आँचल से प्रारम्भ होने वाले हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों ने उपन्यास को एक नयी दिशा प्रदान की है। वस्तु-ग्रहण, वस्तु-संगठन, टेकनीक, भाषा सभी क्षेत्रों में एक नया उन्मेष फूटा है। आँचलिक उपन्यास का एक विशिष्ट अर्थ है। आँचलिकता का अर्थ बहुत से लोगों ने स्थानीय रंगत से लिया है किन्तु यह भ्रम है। आँचलिक उपन्यास अंचल के समग्र जीवन का उपन्यास है। जैसे नयी कविता ने तीव्रता से, सच्चाई से भोगे हुए, अनुभव की भट्टी में तपे हुए पलों को व्यंजित करने में ही कविता की सुन्दरता देखी वैसे ही उपन्यास के क्षेत्र में आँचलिक उपन्यासों ने अनुभवहीन सामान्य या विराट के पीछे न दौड़ कर अनुभव की सीमा में आने वाले अंचल विशेष को उपन्यास का क्षेत्र बनाया। आँचलिक उपन्यासकार जनपद विशेष के बीच जिया होता है या कम से कम समीपी द्रष्टा होता है। वह विश्वास के साथ वहाँ के पात्रों, वहाँ की समस्याओं, वहाँ के सम्बन्धों, वहाँ के प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश के समग्र रूपों, परम्पराओं और प्रगतियों को अंकित कर सकता है। आँचलिक उपन्यास लिखना मानो हृदय में किसी भू-भाग की कसमसाती हुई जीवनानुभूति को वाणी देने का अनिवार्य प्रयास है। इस सन्दर्भ में एक आक्षेप भी *किया गया है—वह यह कि आँचलिक उपन्यासकार को युग के जटिल* जीवन बोध का परिचय नहीं होता, अतः वह 'नास्टेल्जिया' का शिकार होकर मोहक अतीत की ओर भागता है या ऐसे भू भाग के जीवन की रंगीनियों की ओर भागता है जो पिछड़ा हुआ है, जो आधुनिक बोध से कटा हुआ सरल तरल जीवन जिता रहा है। यह आक्षेप अपने आप में थोथा है क्योंकि यह खतरा तो किसी भी प्रकार के उपन्यास में हो सकता है। आँचलिक उपन्यासों में काल की दृष्टि से दो श्रेणियाँ हो

1. मैला आँचल : फणीश्वरनाथ रेणु

सकती है। एक तो वे हैं जो अतीतकालीन जीवन को चुनते हैं लेकिन उस अतीत-कालीन जीवन को मोहक रूप में प्रस्तुत कर देना उनका लक्ष्य नहीं होता वरन् वे उसके भीतर से कुछ मूल्यों को उभारते हैं जो उनकी दृष्टि में जीवन की शक्ति और सौन्दर्य होते हैं, साथ ही साथ वे अचल विशेष के संघर्ष, सौन्दर्य की मूकता को स्वर देते हैं इस प्रकार अचल विशेष अपनी समस्त मोहकता और कुरूपता, शक्ति और सौन्दर्य के साथ सजीव हो उठता है। विभूतिभूषण बनर्जी का आरण्यक इसी प्रकार का आंचलिक उपन्यास है। दूसरी श्रेणी के उपन्यास वे हैं जो अचल विशेष के समसामयिक जीवन को ग्रहण करते हैं। वे वर्तमान युग में विकसित अचल विशेष के जीवन सम्बन्धों, संघर्षों, मूल्यों, प्रश्नों और अभावों आदि की सूक्ष्म रेखाओं से उसकी समग्र आधुनिक मूर्ति की कल्पना करते हैं। 'मैला आंचल' इसी प्रकार का आंचलिक उपन्यास है। अतः कुछ लोगों का यह आक्षेप कि आंचलिक उपन्यास लिखना मानो आधुनिक बोध से भाग कर नास्टेल्जिया का शिकार होना है, अनिवार्य रूप से सत्य नहीं है।

"मैला आंचल" पूर्णिया जिले के एक पिछड़े हुए गांव 'मेरी गंज' की स्वतन्त्रता के पूर्व के दो तीन वर्षों की मैली जिन्दगी की सारी कशमकश का जीवित चित्र है। हिन्दी में पहली बार किसी अंचल विशेष के उपेक्षित जीवन की समस्त छवि और कुरूपता, सीमा, विवशता और संभावना को इतनी मानवीय ममता और सूक्ष्मता से रूप दिया गया। वैसे 'मैला आंचल' के पहले नागार्जुन के कई उपन्यास आ चुके थे जिन्हें आंचलिक कहा जाता है लेकिन नागार्जुन के उपन्यासों में एक ही साथ अंचल जीवन की समग्रता और संश्लिष्टता लक्षित नहीं होती। उनमें जीवन के अनेक अंतर्विरोधी सूत्रों की जटिल बुनावट नहीं है। ये उपन्यास अंचल विशेष से सम्बद्ध अवश्य हैं लेकिन वे एक तो साम्यवादी दृष्टि से प्रेरित होकर कुछ पिछड़े हुए पात्रों के प्रति सहानुभूतिशील होकर सीधे-सीधे वर्ग-संघर्ष को चित्रित करते हैं दूसरे उनका वस्तु संगठन भी सीधे ढंग का होता है क्योंकि वे अंचल को नायक न मान कर किसी पात्र को नायक मान कर चलते हैं और पहले के उपन्यासों की तरह उसी के इर्द-गिर्द अन्य पात्रों और घटनाओं को बुनते हैं। इसलिए नागार्जुन के उपन्यासों में बिखराव का प्रश्न कभी उठा ही नहीं जबकि 'मैला आंचल' और उसके समान अन्य उपन्यासों पर बिखराव का आक्षेप लगाया गया है।

'मैला आंचल' एक पिछड़े हुए गाँव की कथा है। 'इसमें फूल भी हैं, शूल भी हैं धूल भी है, गुलाल भी, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुन्दरता है, कुरूपता भी—लेखक किसी से भी दामन बचा कर निकल नहीं पाया है।' लेखक की इस विज्ञप्ति से प्रतीत होता है कि वह गाँव को समग्र और यथार्थवादी दृष्टि से देख रहा है—वह न तो गाँव को भोले सादे जीवन का आदर्श मान कर चलता है और न तो कुछ वर्गों की हिमायत करने के लिए उसे असंतुलित टुकड़ों में बाँट कर देखता है, अपनी समस्त कटुता और मृदुता और नये सम्बन्धों के साथ विकसित जो गाँव है, अनेक जटिल-

सम्बन्ध-सूत्रों से जकड़ा जो गांव है उसे वह अखंड भाव से देखता है। राजनीतिक, अर्थ नीति, धर्म नीति सभी इस जीवन को अपनी-अपनी सुन्दर-असुन्दर रेखाओं से काटती हुई उसे नया रूप दे रही हैं। कहा जा सकता है कि रेणु ने 'मैला आंचल' में अंचल विशेष की कथा ही नहीं कही है बल्कि अपनी सशक्त व्यंग्य शैली में कथा को इस प्रकार नियोजित किया है कि समस्त अंचल सजीव होने के साथ-साथ समस्त जीवन के सौन्दर्य-असौन्दर्य, सद्-असद् की ओर बड़ी ही सूक्ष्मता से संकेत करता है और इस प्रकार यह कथा अंचल के ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिवेश में तथ्य-आयोजन न रहकर जीवन मानव-संवेदनों, मूल्य-संघर्षों और मत-विरोध ग्रस्त वर्ग चेतनाओं की कहानी बन जाती है।

कुछ पिछड़े हुए गांव ऐसे हो सकते हैं और अब भी हैं जहां इतनी राजनीतिक चेतना या संघर्ष नहीं लक्षित होता। मुझे स्वयं अपने गांव में (जो गोरखपुर का एक पिछड़ा हुआ गांव है) राजनीतिक दलों की चेतना का ऐसा संघर्ष नहीं दिखाई पड़ा। इसलिए मैं अपने दोनों आंचलिक उपन्यासों में राजनीतिक दलों के संघर्ष को बहुत दूर तक नहीं खींच सका हूं किन्तु यह और बात है। हो सकता है कि मेरीगंज में यह संघर्ष रहा भी हो और न भी रहा हो तो उसका होना असम्भव नहीं और लेखक को छूट है कि वह अपने अभिप्रेत को मूर्तित करने के लिए संभावना के भीतर के यथार्थ को ग्रहण करे। इस तरह वह एक गांव की कहानी के माध्यम से तत्कालीन चेतना के संघर्ष को अंकित कर सकता है। रेणु ने एक गांव की मर्यादा के भीतर समेट कर तत्कालीन राजनीतिक दलों के आपसी-टकराव और अंतर्विरोधों को बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है। व्यंग्य की शक्ति ने एक ओर लेखक को किसी दल का पक्षधर और कटु होने से बचा लिया है दूसरी ओर प्रभाव में बड़ी तीव्रता भर दी है। लेखक की व्यंग्य-शक्ति प्राचीन और नवीन के संघर्षों, प्राचीन-प्राचीन के संघर्षों, नवीन-नवीन के संघर्षों, राजनीति-धर्म और समाज की नयी पुरानी मर्यादाओं के आपसी संघर्षों तथा इन सबके बीच उलझने सुलझने तीव्र मतविरोधों को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित करती चलती है। *लेखक की व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति अनेक तथ्यों को* संघटित करती हुई भी उनसे परे किसी सूक्ष्म सत्य की ओर संकेत करती रहती है। *इस संकेत को न पकड़ पाने वाला 'मैला आंचल' के स्थूल वस्तु-संघटन और चरित्र-*भंगिमा का रस लेकर ही तृप्त हो जायगा, जो कि इस उपन्यास का चरम दान नहीं है। *गुजराती कवि और चिंतक श्री उमाशंकर जोशी ने* अपने एक लेख में मैला आंचल के बारे में लिखते हुए कहा है—'कथा का संघटन होता है कटाक्ष (irony) के द्वारा। *'मैला आंचल'* को आकार प्रदान करने में और (बल्कि दुर्भाग्य) सर्जनात्मक भाषा पाने में श्री रेणु को यदि कुछ सफलता मिली है तो उसका कारण है यह *कटाक्ष। यही कटाक्ष कथा को सनसनीखेज घटनाओं का जमघट बनने से अथवा* समाजशास्त्रीय आलेख बनने से बचा लेता है और कलाकृति बनने की ओर उसे ले जाता है।'

लेखक की व्यंग्य वृत्ति पात्रों और वस्तुओं के अन्तर्विरोधों या असंगतियों को बड़ी बारीकी से चीरती चली जाती है किन्तु वह क्रूर नहीं होती, वह सदैव मानवीय तरलता से प्रेरित रहती है। क्रूर अमानवीय वृत्तियों के अन्तर्विरोधों या असुन्दरताओं को चीरते समय लेखक की व्यंग्य वृत्ति सदय नहीं होती जैसे नागा बाबा क्रूर कर्म के प्रतिरोध में कालीचरन का दल उसे मारता है और नागा भागता है तो नागा के मार खाने के प्रति न तो लेखक सदय होता है और न पाठक, लेकिन ऐसे पात्र 'मैला आंचल' में नहीं के बराबर हैं जो अपनी असम्य क्रूरता या कोमलता के कारण लेखक की केवल निर्ममता या केवल ममता पा सके हों। सारे के सारे पात्र गतिशील परिस्थितियों में घिरते पड़ते लेखक की यथार्थवादी दृष्टि के कैमरे में बन्दी होते रहते हैं और लेखक जब अपनी अन्तर्निहित ममता के जल में धोकर इनके चित्र निकालता है तो ये पात्र अपने आप कहीं हमें क्रुद्ध करते हैं, कहीं द्रवित करते हैं। परिस्थितियों-जन्य उनकी विविध छवि एक ओर यथार्थवाद का निर्वाह करती है दूसरी ओर गतिशील होने के कारण हमें उनके प्रति पूर्वग्रहपूर्ण या एक विशेष धारणाबद्ध होने से बचा लेती है। 'मैला आंचल' में मानवीय छवि की यह लीला आद्योपान्त व्याप्त है। यहाँ तक कि मेरीगंज का भूतपूर्व नीलवर मार्टिन जिसने किसी किसान के मुख से मेरीगंज गाँव का पुराना नाम निकल जाने से उसे गिन-गिन कर पचास कोड़े लगाये थे, अपनी ही परिस्थितियों की लपेट में आकर दयनीय बन जाता है, वह पागलों-सा भटकता है और अपनी सम्पत्ति का ध्वंसावशेष छोड़ कर मर जाता है। इसी प्रकार रामखेलावन, बालदेव, लछिमी, जोतिसी काका, महन्थ सेवादास, कालीचरन तहसीलदार, रामकिरपाल सिंह आदि सभी पात्र बहुत ही। मानवीय रूप में आये हैं लेखक से किसी के साथ अन्याय नहीं किया है अपनी ओर से वह किसी की खिल्ली भी नहीं उड़ाता बल्कि उसकी व्यंग्य-विधायिनी शक्ति ऐसी परिस्थितियों का संयोजन करती है कि पात्र या प्रसंग या धारणाएँ या मर्यादाएँ अपनी विसंगतियों में उपहासास्पद हो उठती हैं और उपहासास्पद होकर भी अपनी अनिवार्य विवशताओं की सीमा में हमें हँसाने के साथ द्रवित भी करती हैं अपने से रिक्त नहीं अनुरक्त करती है। यही रेणु की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है और 'मैला आंचल' के सौन्दर्य का एक विशिष्ट रहस्य। बालदेव हों, चाहे कालीचरन, चाहे लछिमी, चाहे रामखेलावन, चाहे रामदास, चाहे और पात्र सभी इसी प्रकार के परिस्थितिगत और स्वभाव-जन्य संघर्ष, मानवीय विवशतापूर्ण अन्तर्विरोध लेकर जीते हैं और इसीलिए 'मैला आंचल' एक ओर गाँव के जीवन का बड़ा ही यथार्थ स्वरूप उद्घाटित करता है दूसरी ओर गाँव के प्रति एक अभूतपूर्व ममत्व उभारता है।

वस्तु-संघटन की दृष्टि से यह उपन्यास अब तक के उपन्यासों से थोड़ा भिन्न है। यह भिन्नता 'मैला आंचल' की या अन्य सश्लिष्ट आंचलिक उपन्यासों की अनिवार्यता है। कहा जाता है कि वस्तु-संघटन की दृष्टि से मैला आंचल और कुछ अन्य आंचलिक उपन्यासों में बिखराव है यानी उसमें अनेक बिखरी हुई घटनाएँ, अनेक बिखरे हुए पात्र, इस तरह एक दूसरे के विकास में अपरिहार्य रूप से योग दिये बिना आते हैं

और अपनी-अपनी जगह पर स्थित हो जाते हैं कि उपन्यास में एक सूत्र में सघटित नहीं हो पाते। वास्तव में ऐसी आपत्ति पैदा होती है इसलिए कि हम आंचलिक उपन्यासों के अलग स्वरूप को परख नहीं पाते। आंचलिक उपन्यास न तो घटना-प्रधान उपन्यासों की तरह कुछ खास पात्रों के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं और समस्याओं को लेकर वेगवती धारा की तरह नयी-नयी भूमियों को पार करता हुआ आगे बढ़ता है और न तो वह मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तरह कुछ गिने-चुने पात्रों के मन का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इन दोनों अवस्थाओं में बिखराव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु आंचलिक उपन्यास का उद्देश्य है स्थिर स्थान पर गतिमान समय में जीते हुए अंचल के व्यक्तित्व के समग्र पहलुओं को उद्घाटित करना। इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपन्यासों का शिल्पकौशल अपर्याप्त है। अंचल के समग्र जटिल जीवन-चित्र को अंकित करने के लिए लेखक कहीं मोटी रेखाएँ खींचता है कहीं पतली, कहीं अवकाशों को भरने के लिए दो-चार बिन्दुओं को भाड़ देता है। अनेक पर्वों, उत्सवों, परम्पराओं, विश्वासों, व्यथा के अवसरों, गीतों, संघर्षों प्रकृति के रंगों, पुराने-नये जीवन-मूल्यों की उलझी पर्तों आदि से लिपटा हुआ अंचल जीवन-अभिव्यक्ति के एक नये माध्यम की अपेक्षा करता है। अतः आंचलिक उपन्यासकार एक दिशा में बहने के स्थान पर एक ही साथ पूरे अंचल की चतुर्मुख यात्रा करना चाहता है और उन उपादानों को यहाँ वहाँ से चुनता है जो मिलकर अंचल की समग्रता का निर्माण करते हैं। ये उपादान वास्तव में आपस में बिखरे नहीं होते, इनमें एक अन्त सूत्रता होती है। ये अपना अलग-अलग पूरा अस्तित्व रखते हुए भी अंचल जीवन के उस पक्ष के चितेरे होते हैं जो अन्य से छूट गया है। ये उन अन्यों से जुड़ कर व्यापक जीवन की एक कड़ी बन जाते हैं। कहना न होगा कि हिन्दी आंचलिक उपन्यासों को कथा-सघटन का यह नया रूप मैला आंचल ने ही दिया है।

"मैला आंचल' में अनेक घटनाएँ आती हैं, अनेक प्रसग आते हैं, अनेक पात्र आते हैं, इतने कि याद नहीं रहते। ये सीधे नहीं आते, आपस में उलझे हुए आते हैं, एक दूसरे को काटते आते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मर्म कुछ चुनी हुई घटनाओं या चरित्र-विशेषताओं की सीधी रेखाओं में खिंचता हुआ नहीं आता बल्कि वह अनेक परस्पर अनुस्यूत जटिल और आड़ी-तिरछी रेखाओं में अंकित होता हुआ उभरता है। इस तरह उपन्यासकार एक ही साथ अनेक परस्पर लिपटी तहों, अनेक गुँथे हुए प्रसंगों, अनेक संश्लिष्ट मूल्यों और बोधों तथा अन्तर्विरोधों को सूक्ष्मता, सांकेतिकता एवं व्यग्यात्मकता से उभारने में समर्थ होता है। लेखक को अपनी ओर से कुछ नहीं कहना पड़ता। प्रसगों परिस्थितियों और मनस्थितियों की नाटकीय पारस्परिकता ही सारी विद्रूपता, सुन्दरता और जटिलता को ध्वनित करती चलती है। 'रेणु' की यह शैली हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में नयी शैली है और जहाँ अनेक अन्तर्विरोधों, जटिल बोधों, बनते बिगड़ते मूल्यों, जीवन की संक्रान्तियों से ग्रस्त अंचल जीवन को मूर्तित करना

उद्देश्य हो वहां इस प्रकार की शैली का अन्वेषण उपन्यास के लिए एक अनिवार्यता और उपलब्धि है। यदि रेणु ने अलग-अलग अध्यायों में अलग-अलग पात्रों की कथा कही होती और अलग-अलग घटनाओं को उभारा होता तो 'मैला आंचल' को यह आतरिकता और सश्लिष्टता नही प्राप्त हुई होती। उदाहरण के लिए पहला ही अध्याय लीजिए। अस्पताल की भूमि की जांच पड़ताल करने के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के आदमी आते हैं तो कितनी चीजें एक दूसरे को काटती, आपस मे बुन जाती हैं—जनता का भय, गाँव के अनेक नेताओं के चरित्रों का सकेत, उनका पारस्परिक विरोध, बालदेव के प्रति लोगों के बदलते भाव आदि अनेक बातें आपस मे लिपटी हुई उभर जाती हैं।

'मैला आंचल' की यह शक्ति प्रकारातर से उसकी सीमा भी बन जाती है। वस्तुसघटन का यह ढग ऐसा है कि कोई भी प्रसग, घटना या पात्र पाठक के सामने देर तक ठहरता नही— चित्रों पर चित्र आते हैं, चले जाते हैं, तमाम चित्रों की रेखाएँ आपस में उलझ कर नये चित्र बनाती हैं लेकिन इस त्वरा में कोई भी चित्र हमारे मन में गहरी लकीर नही बना पाता। अलग-अलग अध्यायों में कुछ विशेष पात्रों और घटनाओंको प्रमुखता देकर बड़े इतमिनान से उन्हे उभारते चलते रहने का परिणाम यह होता था, कि वे पाठकों के चित्त पर अपने प्रभाव की गहरी लकीरें खीचते चलते थे किन्तु 'मैला आंचल' में किसी को एक ही समय में बहुत देर तक ठहरने का मौका ही नही मिलता। छाया-चित्र उडते रहते हैं। इस शैली में क्लासिक उपन्यास नही लिखा जा सकता। 'मैला आंचल' गोदान की तरह किसी क्लासिक पात्र को नही दे सका है, इसके पात्र मन को आत्मीयता मे सराबोर कर देते हैं लेकिन कोई होरी धनिया की भांति क्लासिक होने की शक्ति नही प्राप्त कर सका है। बावनदास मे इस शक्ति के संकेत मिलते हैं। किसी पात्र के क्लासिक न बन पाने का कारण यह भी है कि लेखक की दृष्टि मे विशिष्ट पात्र महत्त्व के नहीं है महत्त्व का है अचल का व्यक्तित्व जिसे मूर्तित करने के लिए ही इन सारे पात्रों का नियोजन हुआ हैं। मैला आंचल मे ऐसे भी पात्र हैं जो आदि से अन्त तक चलते हैं और रेखाएँ बनाते हैं कुछ ऐसे भी हैं, जो दो एक अवसरों पर आते हैं और अपना विशेष को अपने लघु अस्तित्व से सार्थक बनाकर विलीन हो जाते हैं, ये छोटे-छोटे बिन्दु हैं। चित्र बनाने के लिए सबका अपना-अपना महत्त्व है। कोई किसी के लिए नहीं है सभी अचल के लिए हैं, अत: किसी को विशेष महत्त्व देकर नायक बनाना या प्रमुख पात्र बनाना लेखक का उद्देश्य नहीं है। सभी अपनी-अपनी विशेषताओं को लिए हुए अचल के व्यक्तित्व की इकाइयाँ हैं। किन्तु वे प्रतीक पात्र नहीं हैं वे वास्तविक और ऊष्मामय जीवन जीने वाले सजीव और जीवंत व्यक्तित्व हैं।

डाक्टर 'मेरीगंज' में नई रोशनी के आने का मार्ग बनता है। कितनी विडंबना है कि उस गांव का नाम एक अंग्रेज नीलवर ने बहुत पहले 'मेरीगंज' रख दिया था। बहुत ही आधुनिक सा नाम, पश्चिमी रग का नाम। लेकिन पश्चिम की या आधुनिकता की कोई स्वस्थ किरण उस गांव को अब तक छू नही सकी है, गांव फटी

पुरानी जिन्दगी जीता हुआ अपने ही नाम का उपहास कर रहा है। लेकिन अस्पताल बनने के प्रारंभ से ही गाव मे एक नयी हलचल पैदा हो जाती है और डाक्टर आता है—*यहां वैज्ञानिक शोध करने, यहां की बीमारियों का निदान ढूंढने। मगर डाक्टर* यहां आकर डाक्टर की सी, वैज्ञानिक की सी अनासक्ति नही रख पाता, वह धीरे-धीरे वहां की जिन्दगी के रस मे घुलने लगता है। वहां की जिन्दगी उसे बहुत प्रिय लगती है। *वहां की जिन्दगी की प्रियता का प्रतीक है कमली...और* मोसी और गनेश और ..। 'डाक्टर' की जिन्दगी का एक नया अध्याय शुरू हुआ है। उसने प्रेम, प्यार और स्नेह को 'बायोलोजी के सिद्धान्तों' से ही हमेशा मापने की कोशिश की थी। वह हंस कर कहा करता—'दिल नाम की कोई चीज आदमी के शरीर मे 'हमें' नही मालूम। अब वह यह मानने को तैयार है कि आदमी को दिल होता है... जिसमे दर्द होता है। उस दर्द को मिटा दो, आदमी जानवर हो जायगा।'...वह वहां की जनता के दुख दर्द से अनासक्त नही रह पाता, अपने को खपा कर उनकी सेवा करता है, वहां के लोगों की जिन्दगी के असुन्दर और कूर पक्ष उभरते हैं, उसे सालते है, किन्तु वह इसीलिए वहां की जमीन से और भी लिपटता है क्योंकि इस सारी असुन्दरता और क्रूरता के मूल मे कोई रोग दिखाई पड़ता है, वह उसके कीटाणुओं की खोज मे है जो सारी जिन्दगी की सुन्दरता को चाल रहे हैं और उसका रिसर्च पूरा होता है, वह बड़ा डाक्टर हो गया है (यानी बड़ी मानवीय संवेदना से युक्त डाक्टर)। उसने रोग की जड़ पकड़ ली है—गरीबी और जेहालत इस रोग के दो कीटाणु है। *ऐनोफिल्स से भी ज्यादा खतरनाक, सैण्डफ्लाई से भी ज्यादा जहरीले।* डॉक्टर की यह खोज स्वयं लेखक की खोज है। उस जीवन को देखने की उसकी अपनी दृष्टि है पूर्ण मानवीय दृष्टि, ममतामयी यथार्थवादी दृष्टि...। बड़ा ही प्रिय *पात्र है डॉक्टर और वैसी ही प्रिय कमली है किन्तु डॉक्टर जैसी निखर वह नहीं है।* वह भावुकतापूर्ण प्रिय लडकी है, डॉक्टर की पगली मरीज और उसकी डॉक्टर भी। बालदेव, कालीचरन, वासुदेव आदि पात्र एक ओर तो गाव की परिधि मे उभरने वाली राजनीति के विकृत अधकचरे रूपो को उजागर करने वाले पात्र हैं दूसरी ओर अपने निजी दुख-दर्दों से स्पंदित सजीव व्यक्तित्व भी हैं। शहरो से परिचालित होने वाली परमुखापेक्षी गाव की राजनीति किस प्रकार अविवेकपूर्ण ढंग से चलती है और किस प्रकार शहरो मे बैठे हुए विभिन्न दलों के राजनीतिक नेता उनका दुरुपयोग करके अपना उल्लू सीधा करते हैं और मुसीबत के समय इन गाव वालों को पूछते भी नही हैं ये सारी बातें बहुत ही जीवन्त और संश्लिष्ट ढंग से उभरी हैं लेकिन एक बात निश्चित है कि भले रूप मे हो या बुरे रूप मे आज के गाँव भी राजनीति से अछूते नहीं रह सकते। रेणु ने इस सत्य को बड़ी गहराई से परखा है। इन समस्त राजनीतिक मूल्यों के बिखराव और पराजयता के बीच भी लेखक की दृष्टि उसके सुन्दर पक्ष को अदृष्ट नहीं छोड़ देती। बालदेव की परिणति बड़ी ही निर्जीव और *परिपाटीवादी होती है। कालीं, वासुदेव आदि अपनी-अपनी सीमित परिधि में घिरे* हुए अपनी अपनी आग लिये हुए डकैती औ खून के केस मे सम्बद्ध करार दिये जाकर

बुझा दिये जाते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की परिणति भी बहुत ही साम्प्रदायिक होती है। इन सारी चीजों के बीच बावनदास गाव की अपूर्व निष्ठा त्याग और ईमानदारी लेकर अपना बलिदान देता है और राजनीति को एक उच्च मूल्य प्रदान करता है, लेकिन विडंबना या सामाजिक विसंगति के परिप्रेक्ष्य से जोड़कर लेखक इस घटना को भी एक अजब दर्द से भर देता है। बावनदास की झोली का कीना मिथरिया पीर को चढाया गया चिथड़ा मान लिया जाता है और फिर चिथड़े ही चिथड़े..। मौसी का चरित्र भी बहुत ही प्रभावशाली है। सामाजिक विसंगति में अपनी करुणा और त्याग से उभरता हुआ एक प्यारा पर उपेक्षित व्यक्तित्व। लेखक ने सभी पात्रों को उस अंचल की मिट्टी से गढ़ा है परन्तु उनके उभारने वाली संवेदनाएँ समस्त मानवता को छूती हैं। लेखक की ममता समस्त अंचल जीवन के प्रति उसकी सारी कुरूपता और पिछड़ेपन के बावजूद हमें अनुरक्त करती है, उसकी यह मानवीय दृष्टि बहुत ही सुन्दर है किन्तु उसकी एक सीमा भी है और वह यह कि कभी-कभी वह आवश्यक स्थलों या पात्र-प्रसंगों में स्पष्ट या विरक्त होने से बचा कर प्रकारान्तर से रूढ़ अभिजात संस्कारों का समर्थन करती है। ऐसा लगता है कि लेखक के मन में कहीं न कहीं आभिजात्य के प्रति मोह है इसीलिए 'मैला आंचल' में मद्धिम रूप में सारे कुकृत्य करते हुए तहसीलदार साहब के प्रति पाठकों को कोई रोष पैदा नहीं होता और अंत में तो तहसीलदार साहब अपने त्यागपूर्ण व्यवहार से अत्यधिक मोहक बन गये हैं जब कि गाव के छोटे वर्गों के नेता यातनाओं की आंधी में बहते हुए दृश्य से ही ओझल हो गये हैं। इसी प्रकार 'परती परिकथा' में जमींदार जित्तू के माध्यम से गाँव की जागृति को स्वर दिया गया है। वह अपनी असामान्यता और आभिजात्य से अत्यंत आकर्षक बन गया है। यह ठीक है कि स्पष्ट तौर पर वर्ग संघर्ष खड़ा करना और किसी का पक्षधर बनना यथार्थवादी लेखक के लिए श्रेयस्कर और श्रेयस्कर नहीं होता लेकिन तहसीलदार और जित्तू जैसे चुके हुए वर्गों के प्रतिनिधियों को मोहक बना कर पेश करना भी वास्तविक और वांछित नहीं है। लेखक का समस्त वस्तु-संघटन और पात्र-विन्यास में तटस्थ रहना तो श्रेयस्कर है परन्तु निरीह रहना नहीं। मैं मानता हूँ कि लेखक कुछ स्थलों या पात्रों के प्रति अनुरक्त रहते हुए भी समग्र भाव से निराह नहीं रह सका है। उसके भीतर मानवीय और दानवीय अधिकारों का संघर्ष रहा है और वह अपनी कलात्मक ईमानदारी का निर्वाह करता हुआ इस संघर्ष में सदा मानवीय पक्ष की ओर खड़ा दीखता है। भूमि के लिए मेरीगंज के लोगों और भूमिहीन संथालों का संघर्ष आज का एक प्रमुख संघर्ष है। लेखक ने इस संघर्ष को उसकी समस्त संगति-विसंगति के साथ चित्रित किया है और वह डाक्टर के रूप में संथालों के साथ है—बड़े ही मानवीय रूप में, वर्ग-संघर्ष के नेता के रूप में नहीं। यह सत्य है कि इस संघर्ष में संथाल बहुत अत्याचार सह कर जमीन हार जाते हैं किन्तु यह सत्य नहीं है कि भूमि की समस्या तहसीलदार साहब की एक झक से प्रसूत दानवृत्ति से सुलझेगी।

"मैला आँचल" के सौन्दर्य और शक्ति का एक बड़ा रहस्य है उसकी सांकेतिक सूक्ष्म व्यंग्यात्मक शैली। लेखक ने वर्णनात्मक शैली या विवेचनात्मक शैलियों मात्र से काम न लेकर कई प्रकार की शैलियों का संयोग कर दिया है। कई-कई प्रसंग बिना वर्णन के आरम्भ में गुंथने चले जाते हैं। पाठक प्रसंग से ही समझ लेता है कौन कह रहा है, किसके बारे में कह रहा है। कभी कोई पात्र अपने से ही बात करता हुआ पक्ष प्रतिपक्ष को स्पष्ट करता है, कभी कभी पूरे जन समूह या उसके एक वर्ग की भावना को व्यक्त करता हुआ यों ही चित्र उड़ता रहता है। इस शैली की तीव्रता और प्रभावोत्पादकता में बहुत अधिक योग है लोक गीतों और प्रकृति का। आंचलिक उपन्यासों में लोकगीतों और प्रकृति चित्रों के प्रचुर प्रयोग का आरोप लगाने वालों को समझना चाहिए कि वे अंचल जीवन के अभिन्न अंग हैं और लेखक उनका नियोजन बाहरी चमत्कार के लिए नहीं, वहाँ के जीवन के आंतरिक रस को उद्घाटित करने के लिए करता है। रेणु ने 'मैला आँचल' में लोकगीतों और प्रकृति-चित्रों को नियोजित कर पात्रों की गूढ़ मनःस्थितियों को उभारा है, एक बहुत बड़े अंतराल को एक गीत में भर कर सांकेतिक रूप से जीवन के एक बड़े सत्य को आंक दिया है जैसे अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' में कविताओं द्वारा मन के बीच अवकाशों को भरा है। अनेक स्थलों पर लेखक की व्यंग्य-विधायिनी शक्ति ने एक चित्र या प्रसंग के साथ विरोधी चित्र या प्रसंग रख कर उस चित्र या प्रसंग के अंतरतम में मौन व्यथा को स्वर दे दिया है या दोनों की पारस्परिक विषमता से एक नया ही प्रभाव पैदा कर दिया है।

'ना···ना। पी लो बाबू। राजा। सोना—मानिक। नीलू रोओ मत! ··· अब रोने की क्या बात है प्यारे।' ममता हँसती है।

और तभी लेखक एक दूसरा चित्र पेश कर देता है—

—कली मुद्दीपुर घाट पर 'पैयरिया पीर' में किसी ने मानता करके एक चिथड़ा और लटका दिया—

'मैला आंचल' तथा अन्य आंचलिक उपन्यासों के भाषा-प्रयोग को लेकर काफी विवाद उठ खड़े हुए। इन उपन्यासों में अंचल की भाषा के प्रयोग की काफी छूट ली गई है। प्रश्न है कि भाषा का यह आंचलिक रूप क्या चमत्कार दिखाने के लिए है या सर्जन की अपरिहार्य अनिवार्यता की उपज है। 'मैला आंचल' में सर्वत्र सर्जनात्मकता दीखती है। भाषा के क्षेत्र में भी लेखक शिष्ट खड़ी बोली में 'मैला आंचल' को वाणी नहीं दे सकता था। वहाँ के जीवन के अनेक बिम्बों को उभारने के लिए वहाँ की मिट्टी से संपृक्त भाषा ही सक्षम हो सकती थी। सर्जनात्मक स्तर पर ही आंचलिक उपन्यासकार इस अनिवार्यता का अनुभव करता है, मैंने स्वयं 'पानी के प्राचीर' में रग्घू बाबा को भोजपुरी भाषा के माध्यम से उभारा है, वे खड़ी बोली से व्यक्त नहीं हो सकते थे। किन्तु इसका भी ध्यान रखना होता है कि उपन्यास हिन्दी खड़ी बोली में लिखा जा रहा है इसलिए लेखक को सर्जनात्मक स्तर पर ही

संतुलन बनाये रखना होता है। मुझे लगता है कि रेणु संतुलन बनाये रखने में समर्थ नहीं हुए हैं। सर्जनात्मक अनिवार्यता से निकल कर वे चमत्कार की कोटि तक पहुँच गये हैं इसलिए वे शब्दों को वहाँ की बोली के अनुकरण पर अपनी ओर से भी तोड़ते नजर आते हैं, जिन्हें वे आसानी से बिना किसी सर्जनात्मक क्षति से बचा सकते थे। अनेक प्रकार की ध्वनियों का अजायबखाना भी रेणु को बुरी तरह आकर्षित करता है। अपने नये उपन्यास 'जुलूस' में तो उन्होंने धड़ल्ले से बंगला संवादों का प्रयोग किया है इससे उपन्यास का प्रवाह काफी क्षत हो उठा है। सर्जनात्मक स्तर पर खड़ी बोली में आंचलिक-भाषा के प्रयोग का इस रूप में सूत्रपात करने वाले रेणु को अभी सोचना शेष है कि वे किस बिन्दु पर ठहरें।

प्रेम एक माध्यम[1]

●

रणधीर सिनहा

डॉ० धर्मवीर भारती का उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आकार में छोटा है किन्तु अपने प्रयास मे विस्तृत और व्यंजनात्मक। आज के परिप्रेक्ष्य में देखने पर इसके मूल्यांकन के सिलसिले में कई नयी बातें उभरकर सामने आती हैं। 'गुनाहों के देवता' के बाद भी प्रेम की निरन्तर गवेषणा में डॉ. भारती प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। इस गवेषणा के मार्ग पर उन्हें कहीं तृप्ति नहीं मिल पाती। कभी-कभी उनकी इस प्यास को देख कर आश्चर्य भी होता है। निस्सन्देह भारती के लिए प्रेम एक माध्यम है जिसके द्वारा वे मानव-जीवन की गहराइयों में उतर कर नये मूल्यों की खोज करते हैं—उन मूल्यों की खोज जो जीवन को समझने के लिए सही दृष्टि का निर्माण करते हैं। सही परिवेश के सन्दर्भ मे जीवन को समझना और समझाना, उसके उचित मूल्यों की स्थापना करना और उसके विकासमान चरित्र को सचाई का ठोस धरातल प्रदान करना ही उपन्यासकार का लक्ष्य है। भारती ने इस लक्ष्य को सहजता के साथ स्वीकार किया है।

प्रेम–निम्नमध्यवर्गीय प्रेम के सहारे जीवन की सचाई का चित्रण इस उपन्यास मे किया गया है। निम्नमध्यवर्ग की विवशताओं से पूर्ण इस कृति मे ज़िन्दगी, समाज, मानवमूल्य, स्वतन्त्र दृष्टि और आत्मा की ईमानदारी के कई ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं जिन्हें एक साथ पाना कठिन ही मालूम पड़ता है। आदर्शवादी और यथार्थवादी दृष्टियों के बाद, सच्ची दृष्टि का सूत्रपात भारती के इस उपन्यास मे होता है। यह सच्ची दृष्टि किंचित् विवेकजन्य भी है। एक अर्थ में वर्तमान कविता और कहानी में, या इनसे भी आगे आकर कहें तो वर्तमान जीवन मे व्याप्त निराशा, अनास्था, कुण्ठा या टूटन के चित्रण की परम्परा का आरम्भ इस उपन्यास से ही होता है। इस तरह यह उपन्यास अपनी एक परम्परा की भी स्थापना करता है विशेषकर चिन्तन और भावभूमि के क्षेत्र मे।

---

१. सूरज का सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती

विषयवस्तु के सम्बन्ध मे विचार करने पर एक पुरानी कहावत याद आ जाती है—"पुरानी बोतल मे नयी शराब।" प्रेम की चर्चा आदि से अन्त तक है। माणिक मुल्ला ने कम-से-कम तीन लडकियो से प्रेम किया है—जमुना, लिली और सत्ती से—सभी प्रेम असफल हैं। माणिक मुल्ला की ये प्रेम कहानियाँ हैं तो पुरानी लेकिन उनके अर्थ नये भी हैं और व्यापक भी। अर्थ की इस व्यापकता ने उपन्यास के सम्पूर्ण प्रभाव को बदल दिया है। उपन्यास की कथा ढाली तो पुरानी चाक पर ही गयी है मगर हाथ की कला ने उसके रूप को, सौन्दर्य को सर्वथा भिन्न बना दिया है। इसलिए उपन्यास उल्लेखनीय बन गया है। उपन्यास को उल्लेखनीय बनाने मे महत्वपूर्ण योग रहा है—सचाई का। जीवन की एक गहरी सचाई इसमे द्रष्टव्य है। निम्नमध्यवर्ग की सचाई इतनी सजीवता से चित्रित की गयी है कि उसका ऐसा चित्रण कम ही उपन्यासो मे देखने को मिलता है। बाहरी और भीतरी दोनो ही जीवनो का सच्चा रूप मूर्त हो उठा है। निम्नमध्यवर्गीय समाज की बाहरी झाँकी का एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

"तन्ना की बडी बहन घर का काम-काज, झाड़-बुहारू, चौका-बरतन किया करती थी, मँझली बहन जिसके दोनो पाँवो की हड्डियाँ बचपन से खराब हो गयी थी, या तो कोने मे बैठी रहती थी या आँगन-भर मे घिसल-घिसल कर सभी भाई-बहनो को गालियाँ देती रहती थी, सबसे छोटी बहन पंचम बनिया के यहाँ से तम्बाकू, चीनी, हल्दी, मिट्टी का तेल और मण्डी से अदरक, नीबू, हरी मिर्चे, आलू और मूली वगैरह लाने मे व्यस्त रहती थी। तन्ना सुबह उठकर पानी से सारा घर धोते थे, बाँस में झाड़ू बाँध कर घर भर का जाला पोछते थे, हुक्का भरते थे, इतने में स्कूल का वक्त हो जाता था। लेकिन खाना इतनी जल्दी कहाँ से बन सकता था, अतः बिना खाये ही स्कूल चले जाते थे।" बिना खाये स्कूल चले जाना शायद सम्पूर्ण निम्नमध्यवर्ग की सचाई का निष्कर्ष है। सामाजिक दायबोध से भी इन पंक्तियों का सम्बन्ध है। इनमे सामाजिक चेतना की सम्पूक्ति अनवती होती है। व्यक्ति और समाज को अलग-अलग रखकर नही सोचा जा सकता। इस उपन्यास मे व्यक्ति और समाज एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। भारती ने व्यक्ति और समाज की अपनी परिभाषा गढ़ी है। व्यक्ति अपने आप में स्वतन्त्र होते हुए भी समाज की इकाई है और इन दोनो को अलग-अलग मानकर चलना असंगत है। हम व्यक्ति को उसके रूप मे सही-सही देखते हैं उसके सामाजिक पक्ष को स्वस्थ बनाने के लिए। इस उपन्यास के लेखनकाल के समय व्यक्ति और समाज को अलग-अलग रख कर सोचा जाता था। भारती ने प्रचलित परम्परा को छोड़कर एक नयी परम्परा का एक पथ में नियोजन किया है जिसमे व्यक्ति समाज से बाहर नही। इन दोनो के संघर्ष का प्रश्न इस उपन्यास में अभिव्यक्त हुआ है। भारती सदैव एक तीसरी राह को अपनाते हुए दिखाई देते हैं। वैसी सचाई की राह को जो प्रगतिवाद से भिन्न है तथाकथित प्रति-क्रियावाद से तो भिन्न है ही।

इसी सच्चाई के सन्दर्भ मे निम्नमध्यवर्ग की बौद्धिक या भीतरी विवशता अपना पृथक् अस्तित्व रखन है। *यह वर्ग विचारो से उलझा हुआ, खयाली, मिथ्यादर्शी* और कमजोर सपनो पर विश्वास जमाये हुए है। माणिक मुल्ला के ये शब्द गौर करने लायक हैं : "देखो ये कहानियाँ वास्तव मे प्रेम नही वरन् उस जिन्दगी का चित्रण करती है जिसे आज का निम्नमध्यवर्ग जी रहा है। उसमे प्रेम से कहीं ज्यादा *महत्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष*, नैतिक विशृंखलता इसीलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अँधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। पर कोई-न-कोई ऐसी चीज है जिसने हमे हमेशा अँधेरा चीर कर आगे बढने, समाज-व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यो को पुन.स्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी है। चाहे उसे आत्मा कह लो चाहे कुछ और।" माणिक मुल्ला सिद्धान्त छाँटते है, उस पर अमल नही करते, इसीलिए जमुना, लिली और सत्ती को भुलाने की चेष्टा कर भी उन्हे वे भुला नही पाते। प्रेम के हर मोर्चे पर वे ठहर कर हार जाते है अपनी कायरता के कारण। वे विचार बनाते हैं अपनी हारो से *प्रेरणा ग्रहण कर*, फलस्वरूप उनके विचारों मे अन्तर्विरोध, ढोंग, खयाली बहकावे और मिथ्यादर्शन दिखलाई पडते हैं। ठीक ही है निम्नमध्यवर्ग आर्थिक दवाव मे तो पिसता ही है, हृदय और मस्तिष्क से भी टूट कर बिखरता हुआ मालूम पडता है। इस तरह इस *सचाई मे इस वर्ग को चारो ओर से टूटता हुआ दिखलाया गया है। यह सच है* और यही सच इस उपन्यास की आत्मा है। इसी सचाई की करुणा पाठक को आदि से अन्त तक खीचती रहती है।

उपन्यास की प्रेम कहानियों से सम्बद्ध समस्याओ पर लेखक ने जहाँ तहाँ विवेकमूलक दृष्टिकोण से विचार किया है। पुस्तक के चार अनध्याय पाठक को उपन्यास पढने के क्रम मे एक बौद्धिक दृष्टि अपनाने मे सहायक सिद्ध होते है। पाठक कहीं भावुक न हो जाए या फिर उत्तेजित न हो जाए इसलिए ये अनध्याय उसे सहारा देते हैं—इससे भी अधिक कथा के घिसे-पिटे रूप को या पिष्टपेषण को काट-छाँट कर सँवारते रहते हैं कभी भाव से, कभी दृष्टि से। जमुना की कथा अर्थात् माणिक मुल्ला की पहली प्रेम-कथा समाप्त होती है जमुना के वैधव्य से। फिर उसके बाद अनध्याय आता है जिसमे कथा सुननेवालो के वाद-विवाद का चित्रण हुआ है। इस वाद-विवाद को पढ लेने पर पाठक अधिक ताजा हो जाता है। वह जमुना के *वैधव्य पर रोता नही, उदास नही होता* वरन् उसका ध्यान विवाद के इन शब्दों पर ज्यादा आ जाता है : "भई, मेरे तो यही समझ मे नही आया कि माणिक मुल्ला ने जमुना ऐसी नायिका की कहानी क्यो कही ? *शकुन्तला जैसी भोली-भाली या राधा-* जैसी पवित्र नायिका उठाते या अगर बडे आधुनिक हैं तो सुनीता जैसी साहसी *नायिका उठाते या देवसेना, शेखर की शशी-वशी* तमाम टाइप मिल सकते थे।" विवाद के ये शब्द पाठक को विचारने का अवसर देते है तब वह यह नही सोचता है जमुना पति के मरने पर ताँगेवाले के साथ क्यो रहने लगती है वरन् वह सोचता

है जमुना निम्नमध्यवर्ग की एक विवशता है—एक सचाई है। आज का यह वर्ग साहसी नहीं है, आदर्शप्रेमी नहीं है फिर जमुना सही है, वास्तविक है—बनावटी नहीं। और पाठक के इस निर्णय से उपन्यास और भी अधिक प्रभावशाली मालूम पड़ता है। इस विवेकजन्य दृष्टिकोण के चलते व्यंग्य के अनेक धरातल उभरने लगते हैं। व्यंग्य के साथ-साथ समझने के संकेत, निर्देश और उपन्यास की आत्मा तक पहुँचने के आयाम भी झलकने लगते हैं। इसी विवाद में, जमुना की कथा के प्रसंग में ही, एक उल्लेखनीय व्यंग्य द्रष्टव्य है। "देखिए असल में इसकी मार्क्सवादी व्याख्या इस तरह हो सकती है। जमुना मानवता का प्रतीक है, मध्यवर्ग (माणिक मुल्ला) तथा सामन्त वर्ग (जमींदार) उसका उद्धार करने में असफल रहे, अन्त में श्रमिक वर्ग (रामधन) ने उसको नयी दिशा सुझायी।" जमुना को माणिक मुल्ला न अपना सके, उसने दूसरे से विवाह किया और विधवा होने पर रामधन ताँगेवाले के साथ रहने लगी। वह (श्रमिक वर्ग) ताँगेवाले के साथ ही क्यों रह सकती थी? मध्यवर्ग के किसी और के साथ भी रह सकती थी। जमुना जैसी विधवाएँ मध्यवर्ग क्या उच्चवर्ग में भी चली जाती हैं मगर मार्क्सवादी व्याख्या के द्वारा उपन्यासकार ने व्याख्याकारों पर गहरा व्यंग्य किया है। प्रगतिवादी विचारकों की कमजोरियों पर, भारती ने इस व्यंग्य के माध्यम से, बड़ी तटस्थता से दृष्टिपात किया है। व्यंग्य की मार्मिकता जल्दी भूल नहीं पाती है।

उपन्यास का शिल्प जोरदार है। इतना जोरदार कि इसे शिल्पप्रधान उपन्यास भी माना जा सकता है। उपन्यास की कथा इस ढंग से कही गयी है कि उसमें प्रवाह, आकर्षण, जिज्ञासा, मानसिक आघात-प्रतिघात स्वत: आ गये हैं। माणिक मुल्ला सात दोपहर तक कहानियाँ सुनाते हैं। मुख्यत: जमुना, लिली और सत्ती की कहानियाँ। आखिर तक आते-आते ये सभी कहानियाँ माणिक मुल्ला से जुड़कर, उपन्यास के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। राहें एक ही मंजिल तक पहुँचाती हैं मगर इन राहों पर भटकने में एक खास मजा पाठक को मिलता है। इन राहों को गढ़ने में भारती ने परिश्रम किया है—ये उनकी सूझ-बूझ और शिल्प-रचना की सफलता का परिचय देती हैं। कहने का लहजा आकर्षक है—अनावश्यक विस्तार से बचा हुआ। सकेतात्मक शैली के प्रयोग से उपन्यास में बारीकी आई है—सत्य और भी पैना बन गया है। वर्णन, विवरण या विस्तार का अभाव खटकता नहीं, संकेत इतने व्यंजक हैं कि पाठक सब कुछ देख लेता है—माणिक मुल्ला, जमुना, लिली, सत्ती, तन्ना, महेसर दयाल, चमन ठाकुर—सभी के जीवन को अलग-अलग विस्तृत परिवेश में देख लेता है—कहीं अँधेरे में उसे भटकना नहीं पड़ता। ये चरित्र उदात्त हो जाते हैं और सत्ती का चरित्र भुलाये नहीं भूलता। कहने के लहजे को बोलचाल की भाषा ज्यादा साफ़ बनाती है—किस्सागोई का आनंद भी मिलता है। उपन्यास में अनेक खूबियाँ हैं। खामियों की चर्चा जरूरी नहीं कारण उपन्यास को समझना-समझाना ज्यादा जरूरी है क्योंकि भारती ने एक नयेपन को पुराने आवर्त्तों के बीच में बड़ी बारीकी से काढ़ा

है। ऐसा काम खतरे से खाली नहीं। और भारती ऐसा जोखिम उठाते हैं—यह कम नहीं।

एक बात उपन्यास के नयेपन के बारे में बता देनी उचित है। इसके लेखन-काल में हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में दो ही शैलियों की प्रधानता थी। एक 'गोदान' की शैली और दूसरी 'शेखर-एक जीवनी' की शैली। अधिकांशतः अच्छे उपन्यासकार जब इन्हीं शैलियों का अनुकरण कर रहे थे तब भारती ने इनसे भिन्न एक नयेपन की खोज की। यह नयापन उपन्यास के शिल्प और लक्ष्य में साफ-साफ दृष्टिगोचर होता है। प्रेम के माध्यम से एक वर्ग (निम्नमध्यवर्ग) का पूरा चित्र जिस प्रकार यह उपन्यास हमारे सामने प्रस्तुत करता है वैसा चित्र शेखर का प्रेम नहीं प्रस्तुत करता। शेखर का प्रेम समाज या वर्ग को नहीं केवल व्यक्ति को स्पष्ट करता है। इस तरह व्यक्ति को समाज से, मार्मिक न्यास को बौद्धिकता से, शारीरिकता को मन:स्थितियों से सम्पृक्त कर यह उपन्यास एक तीसरे माध्यम का अन्वेषण करने में सफल रहा है। इसमें जीवन का अपना खासा रंग है। वास्तविकता का दर्द है।

यथार्थ की ज़मीन पर नये संतुलन की खोज[1]

अरविन्द पाण्डेय

बलचनमा की राह से गुजरने पर मिला—एक मासूम, अशिक्षित, लाचार, गरीब और बेसहारा, विवश बालक जो पिता की मृत्यु के पश्चात् पेट की पीड़ा का सहारा ढूँढने निकल पड़ा है। उसके साथ उसकी दो वैसाखियाँ भी हैं—दादी तथा माँ। बलचनमा के "कैमरे" में जो पहला चित्र उभरा है वह है—"मालिक के दरवाजे पर मेरे बाप को एक खंभे के सहारे कस कर बांध दिया गया है। जाँघ, चूतड़, पीठ और बांह—सभी पर बाँस की हरी कैली के निशान उभर आए हैं। चोट से कहीं-कहीं खाल उधड़ गई है और आँखों से बहते आँसुओं के टघार गाल और छाती पर से सूखते नीचे चले गए हैं......चेहरा काला पड़ गया है। होंठ सूख रहे हैं।"

यह प्रथम चित्र कितना भयावह, वीभत्स, तल्ख, तिक्त और कड़ुवा है। इसका अनुभव पाठक बलचनमा की आप-बीती सुनते ही करने लगता है। सहृदय की संवेदना उभर कर बलचनमा की साथिन बन जाती है। अर्थ के बल पर खड़े इस सामाजिक ढाँचे की अमानुषिकता का पर्दाफाश हो जाता है। भूख और लालच जो अभाव की सगी बहनें हैं, मानव स्वभाव की अलंकरण हैं, वे ही यहां अभिशाप हो गई हैं और बलचनमा का बाप 'किमुनभोग' मोड़ते हुए देखा जाता है तथा उसकी चमड़ी उधेड़ ली जाती है।

यह एक घटना जमींदार चौधरी घराने की काली करतूतों के प्रति मन में इतनी घृणा उत्पन्न कर देती है कि मन इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने को उद्यत हो उठता है और इस व्यवस्था को बनाए रखने वाले फूलबाबू जैसे उदार, मंदिर-मस्जिद एवं सभी प्रकार की सामाजिक तथा आदर्शोन्मुख मान्यताओं अथवा आस्थाओं के प्रति मन अविश्वस्त हो उठता है। यहीं जागता है दरभंगा का भूगोल—जहाँ आबादी के दबाव तथा जमींदारी प्रथा के अत्याचार के बावजूद भी धरती का छोटा टुकड़ा किसान के छोटे परिवार का भरण-पोषण करने में समर्थ है।

---

१. बलचनमा : नागार्जुन

दादी की अयथार्थ दृष्टि—'अभी खाने-खेलने के दिन हैं,—इसी समय जोत होगी तो कलेजा सूख जायगा" बलचनमा के प्रति न्याय का स्वर तो इसमें बुलन्द हुआ ही है साथ ही दादी की वाणी में माँ का हृदय भी बोलता है, पर यह कह सकने का अधिकार चौधरी घराने की किसी नारी को तो हो सकता है, किन्तु दरिद्र नारी का यह कथन शोभाप्रद कहाँ समझा जाता है ? माँ का यह कथन अधिक यथार्थ है कि—'अभी पेट की फिकर नहीं करेगा तो आगे बहतरा हो जाएगा······।" उस स्थिति के साधारण लोग स्वाभाविक रूप से यही सोचते हैं। उनकी मजबूरियों का नाजायज फायदा उठा कर समाज के एक वर्ग ने उन्हें जानवर बना दिया है तथा उनका सबसे बड़ा पुरुषार्थ रोटी हो गई है जो जमींदारों की मुट्ठी में कैद है। रोटी की कैद आदमी को कैद करती है। मार्जोरकार बलचनमा का मासूम, अछूता पुरुषार्थ बिक गया—'खाना-पीना, लत्ता कपड़ा और ऊपर से दो आना महीना। इसके साथ मिली उपाधि—बखारों को खुक्ख करने-वाला, पेट मानो बखिया हो और न जाने क्या क्या ? बुढ़िया दादी के स्वर की गिड़गिड़ाहट स्थिति की वीभत्सता को और भी उभार देती है—"आप ही का तो आसरा है, नहीं तो हम गरीब जनमते ही बच्चों को नोन चटा दें। अरे, अपना जूठन खिलाकर, अपना फेरन-फारन पहना कर आप ही तो हमारा पर्तपाल करती हैं।" पुरुष का पुरुषार्थ जो धरती का दूसरा विधाता है झुक गया, जूठन और फेरन-फारन पर, यह है परिस्थिति की विवशता।

चौदह वर्षीय बलचनमा भैंस का चरवाहा तो बन ही गया था, इसी के साथ बच्चे को खिलाना पानी भरना, बाहर बैठक में झाड़ मारना, दूकान से नून, तेल, मसाला लाना और छोटी मलिकाइन के पैर भी दबाना था। चरवाहा का चरवाहा और बहिया भी। कैसी सामाजिक विडम्बना है ? आदमी-आदमी का जोंक हो गया है। अर्थ ने समाज में मत्स्य-न्याय को प्रतिष्ठित किया है, फिर भी हम आदर्शों एवं नैतिकता की दुहाई दिए जा रहे हैं। सचमुच बलचनमा बिका हुआ दास था, जिसे काम के पश्चात्—कोड़िया, मुँभीसा और झाड़ुओं की वर्षा का पुरस्कार मिलता था, कभी-कभार सूखा या बासी पकवान, सड़ा आम, फटे दूध का बदबूदार छेना या जूठन की बची हुई कड़वी तरकारी। जिस पर तुर्रा यह कि—"ऐसी चीज तेरे बाप दादे ने भी कभी नहीं खाई होगी।"

बादलों की लाख बाधाओं के बावजूद भी उगते सूरज में प्रकाश के प्रति आस्था थी। बलचनमा कर्म के प्रति ईमानदारी देख कर सत्नूरी मंडल के प्रति श्रद्धावान हो उठा और उसे गुरु का स्थान दे डाला। कर्म के प्रति ईमानदार होते हुए भी मूल्यांकन के अभाव के प्रति उसमें क्षोभ है—"मन करता है कि उन पैसों को वहीं प्लेटफारम पर ही छोड़ कर चल दूँ।"

जहाँ शक्ति भर श्रम करने के बाद भी तन ढकने को वस्त्र और पेट भरने को रोटी न मिले उस समाज से न्याय और व्यवस्था की कहाँ तक आशा की जा सकती है ? ऐसे समाज का अस्तित्व क्या कन्धे पर लादे रहना औचित्यपूर्ण होगा ?

बलचनमा कहता है—"जाड़े की एक रात हमारे लिए पर्लय की डुगडुगी बजाती आती थी।·· ···गुदड़ी-कथड़ी भी ओढ़ने को अगर काफी न हो तो पूस-माघ की ठंडी रात यमराज की बहन साबित होती है।" इस तरह की जिन्दगी जिसमें जीने का कोई आकर्षण शेष नहीं था, बलचनमा को जीनी पड़ रही थी, फिर भी वह हताश नहीं था, लाचार अवश्य था।

धर्म और भगवान का निर्णय देते हुए पंडित जी ने कहा था—"जो बहिया (गुलाम) महतो (स्वामी) को प्रसन्न रखता है उसके लिए स्वर्ग में अमृत की धार बहती है।·· मिट्टी का ठहरा शरीर, गिरता है तो खाक हो जाता है। परन्तु समझदार वह है जो इस चोले को पाकर कुछ कर जाते हैं।"···पंडित का यह निर्णय केवल बहिया के लिए है, महतो जो कुछ करता है वह धर्म और भगवान की मर्जी हो जाता है। इसीलिए तो बलचनमा सोचता है कि—"अच्छा तो भगवान करते ही हैं? चार परानी का परिवार छोड़ कर मेरा बाप मर गया, यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और माँ गुठलियों का गूदा चूर-चूर कर फाँकती हैं, यह भी भगवान ठीक ही करते हैं। और, सरकार आप कनकजीर और तुलसी फूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही, चटनी, खाते हैं, सो, यह भी भगवान की ही लीला है। चौकोर कलम बाग के लिए आपको हमारा दो कट्ठा खेत चाहिए और हमें चाहिए अपने चौकोर पेट के लिए मुट्ठी भर दाना।" उसका यह क्षोभ केवल उसका अकेले का नहीं है, बल्कि लगभग समस्त भारत के उन किसानों का है जो जमीन के अभाव में गुलाम हो गए हैं। बलचनमा का क्षोभ युगों से सोए उस प्रशान्त का है जो 'अपनी छाती पर सिर धरे हैं,' जिसकी बेबसी को देख कर पाबन्दियों ने आ घेरा है।

'अमृत भी अगर दुरकार कर मिला तो क्या मिला? उस मिलने से न मिलना लाख गुना अच्छा है।' यही दुत्कार, फटकार, गाली और घृणा की जिन्दगी बलचनमा को दाय में मिली थी। इस जिन्दगी के जहर को घुटरगूं करके पीने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था, इस पर भी वह इनसे उत्पन्न बुराइयों का शिकार नहीं हो पाया था, उनके प्रति घृणा की मशाल उसके हृदय में घोर तेजी से धधकने लगी थी। बुराइयों के बदले उसमें आती थी, काम करने की हविस—'मेरा भी मन मचलता है कि मजदूरों के साथ जाकर धान रोपूँ मगर नहीं।" और बुराई—"रास्ते में बड़े मालिक की हवेली के पिछवाड़े सवासिन ने दो बाहों में मुझे कस लिया। चूमती हुई बोली—अगर तू मेरी बातों में 'ना' कभी न करे तो···।" इसकी प्रतिक्रिया यह हुई थी—"धत चुड़ैल कहीं की! छिटक कर मैंने अपने को उसकी बाहों से छुड़ा लिया।"···दूसरी ओर होकर मैंने थूका और बोला—"बेहया कहीं की! लाज शरम सब धोकर पी गई!···लेकिन पिटवाना अपने को मंजूर था, उसके पाँव मेरे भारी मुँह से अपने मुँह को चटाना मंजूर नहीं था।" बलचनमा का कर्मठ पुरुष जाग चुका था, जो बुराई को स्वीकारना नहीं जानता था। बुराइयों के बीच जिन्दा

रहते हुए भी उनमें उनसे छूटने की अकुलाहट, कशमकश और छटपटाहट है। यही नकार ही उसकी.........जिन्दगी है, जिसके सहारे वह जीने की कसम ली है।

चरवाहे की जिन्दगी से मुक्ति पाने के दिन आए। फूल बाबू जो छोटी मलिकाइन के भतीजे थे, पटना मे एल एल० बी० के छात्र थे, उन्हें एक खवास (परिचारक) की जरूरत थी। उनके आग्रह से बलचनमा खवास बनने की स्वीकृति दे दी। प्रसंग इस प्रकार है कि फूल बाबू अपनी बुआ के यहाँ आये थे और उन्हें नसें दुहवाना बहुत पसन्द था। बलचनमा उनकी सेवा मे लगा था। इसी अवसर की एक घटना बलचनमा इस प्रकार सुनाता है—"बाबू करवट बदलकर उस ओर तकिया मे मुँह गोत देते और कुछ देर तक हु हु हु हु करते रहते। सारी देह थिर मगर एड़ियाँ दोनो डोलतीं रहती......एक रोज ऐसे ही लच्छन के बाद बिजली की फुर्ती से मुँह उठाकर मेरे ओर वह टकर-टकर ताकने लगे। थोड़ी देर ताकते रहे। फिर पूछा—बलचनमा, रहेगा मेरे साथ ? चलेगा पटना ?......न हाँ न हूँ—मुझसे कुछ कहते नही बना, उन्होंने कई बार पूछा। आखिर मुहँ मुझे खोलना ही पड़ा। निगाह नीचे की ओर गर्दन भारी।" बलचनमा—परिचारक तो हो गया, पर यहाँ उसने एक बुराई को संभवत उम्र के तकाजे, अभाव और परिस्थिति के दबाव से छूटने के खातिर ही स्वीकारी। परिस्थिति से दबकर बुराइयों को स्वीकारना तो बुरा नही है, पर उनसे घृणा और क्षोभ न होना जागृत आत्मा की पराजय या मृत्यु अवश्य है। यहाँ बलचनमा के जीवन से सबद्ध हो जाता समलिंगी रति का चित्रण। यह एक अखरने वाली बात होते हुए भी अभाव की भूमि मे अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती है। इससे कृति की संज्ञा भजित होती हुई नही प्रतीत होती है।

पटना मे रहते हुए बलचनमा को अपना कसूर छिपाने के लिए झूठ बोलना पड़ा था, पर उसे अफसोस हुआ और कान पकड़ा—"फिर कभी मालिक के सामने झूठ नहीं बोलूँगा।" एक दिन जब नमक बनाते वक्त फूलबाबू पकड़े गए तब बलचनमा को महेन बाबू के घर जाना पड़ा था। वहाँ वह महेन बाबू का खास परिचारक हो कर रहा और वही एक दिन अनीता (महेन बाबू की छोटी बहन) ने उलाहना देकर उससे कहा—"दादा (महेन बाबू) के पास रहते हो। वहाँ इतना बड़ा शीशा रक्खा है कभी-कभी उसमे अपना चेहरा तो देख लिया करो।" ......"मेरे कान मे फुस-फुस कर उसने कहा—दुपहर मे वहाँ कोई नहीं रहता है। और नाचने समय घुँघुरू नही पहनेंगे। न भुनुर-भुनुर की आवाज उठेगी, न किसी को पता चलेगा—।" बलचनमा को अनीता की बात माननी पड़ी थी। यह भी उम्र की स्वाभाविकता ही है। फूल बाबू के लौटने पर बलचनमा फिर उनके साथ आ गया, किन्तु अब उसकी आवश्यकता फूल बाबू को नही रह गई थी। वह अपने गाँव लौट आया।

बलचनमा की छोटी बहन रेवनी जो पन्द्रहवें मे पैर रख चुकी थी, उसकी मान्यता के अनुसार जवान हो गई थी। रेवनी का गवना देना उसने आवश्यक समझा। माँ से उसने सलाह की। माँ राजी नही हुई, दादी मर ही चुकी थी। इसी समय एक

दुर्घटना हो गई। एक दिन जब माँ छोटे मालिक के यहाँ घर का काम करने गई थी तो रेवनी भी उसके साथ थी। छोटी मलिकाइन अपने पीहर (पिता के घर) गई थी। रेवनी को देखकर मालिक की नियत खराब हो गई। किसी तरह दाँत से काट कर जान बचाकर रेवनी तो भाग आई, पर माँ पर बड़ी मार पड़ी। बलचनमा उस दिन महपुरा कुश्ती का दंगल देखने गया था। लौटने पर चुन्नी से समाचार जानकर उसका खून खौल उठा, उसने सोचा—"हँसु लेकर दोपहर रात में जाऊँ और छोटे मालिक का गला काट आऊँ।" किन्तु चुन्नी की सलाह से रात भर वह छिपा रहा और प्रातःकाल फूल बाबू से मिलने के लिए 'बरहमपुरा' आश्रम के लिए प्रस्थान कर दिया। आश्रम पहुँचकर उसने फूल बाबू से निवेदन किया, पर उनसे उत्तर मिला "मुझे तो अब गाँव घर से भी कोई तालुक नहीं रहा। फूफा से मुलाकात किए तीन बरस हो गए हैं। बालचन, अब तू ही बता कि ऐसी हालत में मेरी किसी बात का तुम्हारे मालिक पर कितना असर पड़ेगा?" इससे बलचनमा बड़ा निराश हुआ और सोचा—'सोराजी हो गए थे तो क्या, ये आखिर बाबू भैया ही न! गरीब-गुरबा का दुख ये लोग क्या जाने?"

मालिक, मलिकाइन के दुर्व्यवहार ने तो जमींदारों के प्रति बलचनमा को सतर्क किया ही था और समाज के प्रति उसकी दृष्टि बदली ही थी, पर फूल बाबू की बातों से उसका रहा-सहा मोह भी भंग हो गया। उसने इस कड़वे सत्य को आधुनिकता के समष्टिवादी धरातल पर स्वीकार किया। क्योंकि वह स्वीकार करता है कि—"अंगरेज बहादुर से सोराज लेने के लिए बाबू भैया लोग एक हो रहे हैं, हल्ला-गुल्ला और झंझट मचा रहे हैं उसी तरह बन बनिहार, कुली-मजूर और बहिया-खवास लोगों को अपने हक के लिए बाबू भैया से लड़ना पड़ेगा।" बलचनमा के जीवन में यह नया मोड़ आया था। जहाँ से उभरते टूटते-जुड़ते सम्बन्धों को भोगकर पहचाना था। यही कथात्मक प्रामाणिकता है जो जीवन-वीथियों में भटककर-टकराकर, भोगकर पाई जाती है।

आश्रम के कर्ता-धर्ता राधा बाबू से बलचनमा की जान-पहचान यहीं हुई। उनके कहने से उसने आश्रम में नौकरी कर ली और उन्होंने ही बलचनमा को छोटी मालिक की गिरह से मुक्ति दिलाई। यहीं रहकर जो कमाई हुई उसी में रेवनी का गौना भी दे दिया और उस घटना में माँ ने भी बलचनमा की बात स्वीकार लिया था। बेटी को विदा कर माँ अकेली हो गई थी। इसलिए वह बहू लाने के लिए चिन्तित हो उठी। माँ ने अपना यह प्रस्ताव बेटे के सामने भी रख दिया। थोड़ा ना-नू करने के बाद माँ की बात बेटे ने मान ली।

बलचनमा आश्रम में पुनः लौट गया। पूर्ववत् परिश्रम और ईमानदारी से अपना काम करता रहा। इसी के साथ बाबू भैया लोग जो आश्रम में आते रहे उनके व्यवहार से भी परिचित होता रहा। उनमें से कुछ एक तो राधे बाबू की तरह बड़े सरल और ईमानदार थे, पर अधिकतर वही जमींदार थे जो बलचनमा के सरकार

और मालिक कहने पर फूलकर कुप्पा हो जाते रहे। आश्रम में रहकर बलचनमा थोड़ा बहुत पढ़-लिख भी गया। एक दिन राधे बाबू की पत्नी को यह कहते सुना,—"पढ़ लिखकर नौकर तुम्हारी बटलोई रगड़ने को बैठा नहीं रह जायेगा," उसे बड़ा अफसोस हुआ। उसका पुन. मोहभग हुआ और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि—"चोला जितनी आसानी से बदलना है उतनी आसानी से आदमी का ख्याल नही बदला करता।"

बलचनमा गौना लाने से पहले गाँव पर आकर कटाई करके साल-भर के खाने के लिए अनाज इकट्ठा करना चाहता था। कटाई शुरू होने वाली थी और गौने के दिन भी करीब थे—इसलिए राधाबाबू से छुट्टी लेकर वह अपने गाँव आया। चलते समय राधेबाबू ने उसे गौने के लिए पर्याप्त सहायता भी कर दी। गाँव आकर वह रेवनी को लाया और तीनो माँ, बेटे और बहन कटाई में सम्मिलित न हो सके पर रेवनी और बलचनमा ने बड़े परिश्रम से कटाई की। इस कटाई से बलचनमा के श्रम की गाँव में धाक जम गई। कटाई के पश्चात् बलचनमा का गौना राजी खुशी आ गया। सुगनी (बलचनमा की पत्नी) को सुशील और सुन्दर पाकर बलचनमा बड़ा खुश हुआ और उसने तय किया कि अब वह घर पर ही रहेगा।

बलचनमा, सुगनी और उसकी माँ खेत पर बड़े परिश्रम से काम करते। जमीदारों की धान रोपाई, कटाई में हिस्सा लेते और जो थोड़ा बहुत था अपना खेत उसमे भी अच्छी फसल उगा लेते। बलचनमा के परिश्रम और ईमानदारी से काम कराने वाले खुश रहते, क्योंकि वह दो मजदूर के बराबर अकेले ही काम करता था। मजदूरी में खराब अनाज नही स्वीकारता था। मालिक की गाली उसे बर्दाश्त न होती और न ही किसी की जी हुजूरी ही उसे पसन्द थी। परिश्रम के बल पर वह सतुष्ट था। वह स्वयं स्वीकारता है—"भात-रोटी-चबेना……निबाह एक तरह से हो ही रहा था। माँ भी खुश थी सुगनी भी मस्त रहती थी और मैं भी मगन रहता था।" स्वाभिमान की रक्षा होते हुए यदि श्रम करने से आवश्यक आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ तो आदमी को और चाहिए ही क्या ? बलचनमा अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर प्रसन्न था।

१९३७ ई० का भयानक भूकंप इसी समय हुआ। सारा बिहार तबाह हो गया। कांग्रेस ने रिलीफ फंड की स्थापना की और बलचनमा के गाव में फूलबाबू रुपया बांटने आए। अपने फूफा के यहाँ ठहरे और जिसको रुपया दिया गया उनमे सही तो चालीस रुपए पर कराई गई पर दिया गया बीस रुपया। यहाँ तक कि कुछ लोगों को लिखी गई रकम का सिर्फ पंचमाश ही मिला। इसका कारण था छोटे मालिक का बीच में आना। फूलबाबू पर रही-सही आस्था भी बलचनमा की भग हो गई और एक घृणा उत्पन्न हुई। बलचनमा के स्वाभिमान ने उसे झुक कर सहायता लेने की इजाजत नही दी, क्योंकि उसका कोई नुकसान नही हुआ था। इधर उसने पूदन मिसर की विधवा जानकी की चार कठ्ठा उपजाऊ जमीन बटाई पर ले ली

थी। पांच कट्ठा दामो ठाकुर का बटाई पर ले रखा था। इस प्रकार बलचनमा अपने श्रम के बल पर चरवाहे से बहिया, बहिया से स्वयसेवक, स्वयसेवक से किसान-मजदूर और अब किसान बन गया था। उजड़ा हुआ कृषक बिना किसी के सबल के अपने बल बूते पर संघर्ष करता हुआ अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था।

इसी समय महपुरा के जमीदार और किसान, जो जमीदार के आसामी थे, उनमें लड़ाई प्रारम्भ हो गई। इसका कारण यह था कि—किसान को ज़मीदार खेत से बेदखल करना चाहता था। सोशलिस्टों ने इस आन्दोलन की रहनुमाई की। महपुरा के डॉ० रहमान खेतिहरों के नेता थे और बाहर से राधेबाबू आए थे। इस आन्दोलन का नेतृत्व करने एक स्वामी जी भी आ पहुँचे। परिणाम यह हुआ कि खेतिहरों की विजय हुई और जमीदार, पुलिस और हाकिमों की धांधली न चल सकी। यद्यपि ऐसे अवसर पर मार-पीट होना स्वाभाविक था ही। इस आन्दोलन के समय राधाबाबू ने बलचनमा को भी महपुरा बुलाकर वालन्टियर बनवा दिया था। बलचनमा की नज़रों के सामने यह आन्दोलन हुआ था। बलचनमा का नेता करवट बदलने लगा था।

महपुरा का प्रभाव बलचनमा के गाँव पर भी पड़ा। उसके गाँव के ज़मीदार और खेतिहरों में भी तनाव पैदा हुआ। जमीदारों ने गुण्डे ठीक करके खेतिहरों के सरदारों को पिटवाने की व्यवस्था की। इसी व्यवस्था के अन्तर्गत एक दिन बलचनमा गुण्डों द्वारा पिटा भी और अन्त में जेल भी गया। उसे पूर्णबोध हो गया था कि जो खेत जोतेगा खेत उसका होगा। जो कमाएगा वह खाएगा। जेल से लौटकर तो वह किसानों का साथी किसान नेता ही हो गया। यह आपबीती वह जेल से लौटकर ही सुनाता है। इस प्रकार उजड़ा हुआ किसान बलचनमा के रूप में श्रम, स्वाभिमान का दामन थाम, उमंग और आशा से भर कर प्रत्येक अत्याचार दमन और शोषण के विरुद्ध अपने को तनकर खड़ा कर दिया है। यह किसान जो अपने अस्तित्व के लिए संघर्षशील है एक आधुनिक दृष्टिकोण भी रखता है जिसकी कसौटी समष्टि है। इस प्रकार बलचनमा का सृजन आशा, उत्साह और कर्मठता की ज्योति से हुआ है। बलचनमा आधुनिक सामूहिक चेतना को, जो जाग रही है, नई वाणी देता है। सारा जीवन रस यथार्थ के धरातल पर ही छनता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस कृति के दो मूल स्वर हैं—खेतिहर अपने अस्तित्व को पाने के लिए दृढ़ संकल्प लें संघर्षशील है और सामन्ती मृत्यु के द्वार पर बुझने से पहले भभकती हुई प्रतीत होती है। इसीलिए उसके दामन में छिपी हुई सारी बुराइयाँ उभड़ कर अपनी पूरी तीव्रता और निर्ममता के साथ निखर आई हैं। लेखक नागार्जुन इस सारी आधुनिकता की चुनौती को समष्टिवादी यथार्थ के धरातल पर स्वीकारता है। यही बलचनमा की सृष्टि का मूल उद्देश्य है।

सामन्तों के प्रति घृणा जगाने के अनेक स्थल हैं—मझले मालिक का निर्दयता

पूर्वक बलचनमा के बाप को पीटना, छोटी मलिकाइन का काइयां तथा क्रूर स्वभाव, उनकी खवासिन की दुश्चरित्रता, फूलबाबू के पिता का व्यवहार, छोटे मालिक की राक्षसवृत्ति, कामेन्द्र बाबू का व्यवहार, फूल बाबू का चोला बदलना, राधा बाबू की पत्नी के ख्यालात, ग्राश्रम में ग्राने वाले 'सोराजी' बाबुग्रों की शान-शौकत ग्रौर मालिकों की गंध, जमींदारों का खेतिहरों के प्रति षड्यंत्र ग्रौर ग्रंत में गुण्डों द्वारा तथा पुलिस ग्रौर हुक्कामों की सहायता से बलचनमा को पिटवाना ग्रौर जेलखाने भेजना ऐसी घटनाएँ है, जो नवचेतन के पट पर उभडकर इन नर-राक्षसों के प्रति पर्याप्त घृणा उत्पन्न कर देती हैं साथ ही इनके ग्रत्याचार के सामने दीवाल बनकर टकराने की तमन्ना को भी उभाड़ती है।

वर्षों पहले होरी, जो ध्वंस की राह पर शहीद हो चुका था, उसकी समाधि मुस्कराई। कोई ग्राशा नहीं थी कि होरी की समाधि पर एक बिरवा उगेगा, झांकेगा उसकी सुन्दर दो-दो पत्तियां लहराएँगी ग्रौर समाधि शीतल छाया की महक से गमकेगी, नागार्जुन की सृष्टि 'बलचनमा' होरी की समाधि का बिरवा है। जहाँ होरी की यात्रा समाप्त हो गई थी, वहीं से बलचनमा की यात्रा का प्रारम्भ होता है। बलचनमा पूर्ण ग्राशा, विश्वास ग्रौर उमंग के साथ ग्रपने खोये हुए ग्रस्तित्व को प्राप्त करने का ग्रभियान करता है। संघर्ष से जूझने का धैर्य, साहस ग्रौर श्रम करने की महत्-ग्राकांक्षा उसके जीवन-पथ के संबल है। यही कारण है कि मिट्टी का ग्रन्धकार चेतना के बीज को हजम न कर पाया।

जीवन के संश्लिष्ट चित्रों के ग्रभाव के इस युग में ग्रश्लिष्ट चित्रों को झुठलाने का प्रयास ग्रपने ग्राप को प्रवंचित करने के समान है। ग्राज के इस मशीनी युग में कहाँ कौन कारखाना किसी मशीन के ग्रंगांगों का निर्माण कर रहा है? ग्राज तो ग्रंग बनते हैं ग्रन्यत्र ग्रौर जुड़ते हैं ग्रन्यत्र। इतना होने पर भी मशीन के स्वरूप का दर्शन हमें होता ही है। इसी तरह ग्राज के उपन्यास जीवन की समग्रता को तो ग्रवश्य नहीं प्रस्तुत कर पा रहे हैं, क्योंकि जीवन बड़ा जटिल हो गया है फिर भी जीवन के खण्डांशों का प्रस्तुतीकरण निश्चित रूप से बड़ी सफलता से हुग्रा है। बलचनमा उन तमाम मार्मिक खण्डांशों में से एक है। वस्तुतः यह तो युग ही बिखराव टकराव का है। इस बिखराव-टकराव में ही नए ग्रंग भांकेंगे, निखरेंगे, टूटेंगे ग्रौर जुड़ेंगे। इन्हीं की जान-पहचान सार्थकता से करना हमारा सत्कार्य है। ग्रछूते, ग्रजाने, ग्रनुद्घाटित सत्यों की गहरी संवेदनात्मक पकड़ की पहचान ही हमारी ग्रपनी उपलब्धि है। भीतरी बिखराव में बाहरी संश्लेषण ग्रौर बाहरी बिखराव में भीतरी संश्लेषण ग्राज के उपन्यासों की एक विशेष प्रवृत्ति के रूप में उभरा है। बलचनमा भी इन्हीं उपन्यासों में एक है। विद्यार्थी एवं ग्रध्यापक के नाते जब कभी उपन्यास के मूल्यांकन का प्रश्न मन में उठता है तो संस्कारवश एक बार पुराना शास्त्रीय मानदण्ड बुद्धि-कक्ष में प्रवेश पा लेता है। ऐसे ग्रवसर पर संस्कारों के प्रति ग्रजीब झुंझलाहट होती है—क्योंकि वे मानदण्ड संदर्भ ग्रौर परिवेश से कृति एवं

कृतिकार को काटकर एक अलग एकाकी शल्य-कक्ष का निर्माण करते है और मात्र अस्थि, चर्म और मांस को काट-काट कर परीक्षण और मूल्यांकन किया जाता है। इस प्रकार जीवन-सचेतना तथा प्राण पकड़ से छिटक कर दूर जा पड़ते हैं। मन खीझ कर रह जाता है। उपन्यास के मूल्यांकन के अवसर पर किसी को साझीदार बनाना अखरने लगता है। वास्तविकता तो यह है कि उपन्यास में उपन्यास के समार को पाया जाए। यदि ज्वायस, कामू और सार्त्र को मानदण्ड के रूप में स्वीकारा गया तो यह आरोपित सत्य और साझीदारी की बात होगी। यह सत्य है कि किसी उपन्यास का निश्चित उद्देश्य बता सकना कठिन कार्य है फिर भी उद्देश्य की दिशा में अभियान सम्भव है।

नागार्जुन 'बलचनमा' में जीवन की जटिलता एवं संकुलता को अभिव्यक्ति देने के लिए जीवन के पुराने रूप को खोकर नए रूप को अपनाने के लिए अधीर हो उठे हैं। इससे पुराने चौखटे टूटे हैं और जीवन लचीला हो उठा है। यदि इस उपन्यास के सत्य की शोध की जाए तो यह प्राप्ति होगी कि इसमें नागार्जुन जीवन तथा जगत का चित्रण एवं मूल्यांकन समष्टि-सत्य, समष्टि-यथार्थ तथा समष्टि-मंगल के धरातल पर स्वीकारते हैं। उपन्यास की समस्या समष्टिगत् है, पर बलचनमा व्यष्टिगत रूप से इसे झेलता है यही समष्टि और व्यष्टि का समन्वय एवं संतुलन है। इस प्रकार नागार्जुन ने बलचनमा के व्यष्टि में नए संतुलन की खोज तथा आत्मसत्य और वस्तु सत्य में नए सामंजस्य को परखनेका प्रयास किया है। यही कारण है कि नए सदर्भ, नए स्वर, नए धरातल और नए मूल्य की पहचान संभव हो पाई है। यद्यपि इस उपन्यास में समग्रजीवन की अकुलाहट, छटपटाहट, और कसमसाहट नहीं व्यक्त हो पाई है फिर भी आंशिक रूप से इनके स्वरूपों का अभाव भी नहीं है। नागार्जुन की दृष्टि समाजवादी—यथार्थ से प्रेरित है। इसलिए बलचनमा का किसान भावी संस्कृति के सृजन की सूचना देता है। बलचनमा के संघर्ष में कृतिकार नई चेतना का सदैव संकेत देता हुआ चलता है। किसानों का संगठन इसका उद्दाम स्वरूप है।

"बलचनमा" में कृतिकार ने देहाती जीवन की साधारण घटनाओं को बड़ी मार्मिकता से सूचित किया है। छोटे-छोटे गुणों का सूक्ष्म निरीक्षण तथा सजीव चित्रण भी इसमें वर्तमान है। समस्तीपुरी स्टेशन पर के एक दृश्य को देखिए—"मैं तो गाड़ी के भीतर ही अपनी सीट पर बैठे-बैठे चूड़ा फांक रहा था। बीच-बीच में तोड़ तोड़ कर टकुआ के टुकड़े मुँह में डाल देता। करेला और परवल का आचार। क्या पूछना है, कैसा लग रहा था।" और फूल बाबू के—"हाँ-कुली नहीं था", कहने पर बलचनमा की यह दशा हुई, उसी के मुँह सुनिए—"लाज से मेरी गरदन झुक गई। मुँह चलना बन्द कर मैं अपने पैरों की ओर ताकता रहा।" बलचनमा की इस शर्मिन्दगी को जानकर फूल बाबू ने जब यह कहा कि—"हजूर नहीं निकाल लिया" तब बलचनमा के हृदय की कली पुनः खिल उठी। और उसका मुँह फिर से चलने लगा और दाँत—चबर-चबर बोलने लगे। एक अभावग्रस्त गरीब के जीवन

को गहरी संवेदना से पकड़ा गया है और नागार्जुन ने बलचनमा का बड़ा ही सहज, अर्थपूर्ण, स्वाभाविक और संवेद्य बिम्ब प्रेषित करने मे इस स्थल पर सफलता पायी है।

"पुआल की सेजावट पर बोरी बिछी हुई थी। दुलहिन दुबक कर एक ओर हो गई थी और सोने का बहाना किए हुए थी।···बेचारी पर दया आ गई—फसाकर लाई गई चिड़िया ही तो है। पराए घर मे क्या छुए, क्या न छुए। किससे क्या कहे किधर कैसे देखे।···ठिकिया कर उसे बाहों मे कस लिया तो मेरा मुंह उसकी कनपटी पर पड़ा।···अँधेरे मे अनुभव हुआ कि बेचारी लजाकर काठ हो गई।··· ··· है सोलह-सत्रह की उमर, मेहरारु की जात और ससुराल की पहली रात लाज डर का भला क्या पूछना।···सूगा तो तुम हो ही—ठोडी उठाकर उसके मुँह को अपनी तरफ करते हुए मैं बोला—बड़ा अच्छा नाम है।" इस प्रकार के अनेक छोटे-छोटे देहाती सुखों का सजीव चित्रण 'बलचनमा' मे भरे पड़े हैं। जिनमे कृतिकार के सूक्ष्म निरीक्षण की प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

जमीनदारी के निरंकुश व्यवहार तथा उत्पीडन के भी अनेक मार्मिक दृश्य इसमें उपलब्ध है। "मेरे बाप को एक खभेली के सहारे कस कर बांध दिया गया है। जाँघ चूतर, पीठ और बाँह—सभी पर बांस की हरी कैली के निशान उभर आए हैं। चोट से कही-कही लाल उभर आयी है।" करीमबक्स के साथ मलिकाइन के एक सवाद का नमूना लीजिए—"सुगरखोका, लाज-धरम मुझे छू तक न गई लेकिन मुझे तो भगवान का डर है···वही बटखरा वही तराजू।" मलिकाइन का दूसरा सवाद फूदन मिसर की विधवा के साथ प्रस्तुत है। "दुहाई गंगा मइया की। छटांक—आधा छटांक के लिए जो मैंने बटखरा बदला हो तो मेरा सत्यानाश हो नही तो झूठ-मूठ का कलक लगाने वाली इस रांड का सीघ अगले जनम मे भी खाली का खाली रहे।" जमीदारी के एक पिशाची दृश्य का और मुलाहिजा फरमाइए—"रेवनी को जमीन पर गिरा दिया और खुद उसके वदन पर काबू पाने की कोशिश करने लगे।··· मालिक ने गुर्राकर कहा—बोल साली, अपनी बेटी को यहां ले आएगी कि नही बोल।···बबुआ—बलचनमा मर जाना लाख गुना अच्छा है मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नही।" जमीदारी के निरंकुशता और उत्पीडन के ऐसे जीते-जागते अनेक चित्र बलचनमा में उमड़कर जीवन की अकुलाहट और कसमसाहट को व्यक्त करते हैं।

अंचल विशेष के मुहावरों की गहरी पकड़ और तद्भव शब्दों के प्रयोग के कारण पग-पग पर परिवेश की गन्ध महक्ती है। एक दो उदाहरणो से यह बात अधिक स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है—"हां कुत्ती कही का, सारा का सारा आज ही भकोस लेगा।···इस वाक्य मे, हां कुत्ती, और भकोस, तदभव शब्द हैं जो मैथिली अंचल में बोले जाते है इस प्रकार ये तद्भव शब्द आंचलिक परिवेश को प्रस्तुत करने मे बड़े सफल हैं। इसी प्रकार का दूसरा वाक्य देखिए—"कही घवट्टा कुइुर कहीं चलाके कौआ, कही दतनिपोड़ा कल्लर···।" इन सभी शब्दों द्वारा अंचल

की गमक प्रसारित होती है। ऐसे तद्भव शब्दों से पूरा उपन्यास भरा पड़ा है। अंचल के आनन्द, उल्लास और महोत्सव की भी भीनी-भीनी महक इसमें मटमहानी है—

"सखि हे मजरल आमक बाग।
कुहू-कुहू विकरए कोइलिया
झींगुर गावें फाग।
कत हमार परदेश बसइ छवि
बिसरि राग-अनुराग।
विधि भेल बाम, मील भेल बैरी
फूटि गेला ई भाग।
सखि हे मजरल आमक बाग।..."

मैथिल अचल (दरभंगा) के जन-जीवन को प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता इस लोक गीत में है। इस प्रकार जीवित चित्रों से सारा परिवेश उभरकर पाठक के समक्ष उपस्थित हो जाता है। सारा उपन्यास परिवेश की गमक के ताने बाने में बुना गया है। 'बलचनमा' नागार्जुन की और हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठ कृति का स्थान अपने लिए सुरक्षित कर लेता है। फिर भी इसमें कुछ ऐसी बातें भी हैं जो अखरती हैं। उन्हें हम या तो सिद्धान्त प्रचार की बात कहकर उपेक्षा कर सकते हैं या कि मनुष्य स्वभाव की कमजोरी घोषित करके अपने को सन्तुष्ट कर सकते हैं। इस पर भी बहुधा वे बातें पाठक के गले के नीचे नहीं उतरती हैं।

समलिंगी रति की बात को जमींदारी की विकृति चाहे तो हम कह लें या १६-१७ की उम्र का मनोवैज्ञानिक सत्य कह लें। किन्तु इसे समाजवादी विस्फोट कहने में तो शर्म अवश्य लगती है। सदर्भ के आधार पर इस तथ्य को जमींदारी की विकृति कहने में भी संकोच होता है। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर स्वाभाविकता में अधिक जब बलचनमा समाजवादी सिद्धान्तों की दुहाई देता है तो सामाजवादी तोता प्रतीत होने लगता है। परिवेश और सन्दर्भ के आयाम में स्वाभाविक रूप से समाजवाद की बात अपने आप उलग्न भोग का अंश है, जिसे जन साधारण भोग रहा है। इसे नकारना सत्य से कतराना है, पर इससे आगे बढ़कर साझेदारीवाली बात प्रतीत होने लगती है, जो दूसरे का जिया हुआ सत्य है और अप्रामाणिक है। अन्त में कुल मिलाकर उपन्यास का उद्देश्य यह है कि नई उभरती सामूहिक चेतना को स्थापित किया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति में कृति सक्षम है और कृतिकार जिस सहज स्वाभाविक शैली में जीवन रस के लिए आकुल-व्याकुल प्राणों के मन्त्रान्तरों को अभिव्यक्त करता है वह प्रशंसनीय है।

सामयिक यथार्थ का अधूरा साक्षी[1]

•

विजयमोहन सिंह

'झूठा सच' पहली बार तब पढ़ा था जब वह धारावाहिक रूप से 'धर्मयुग' में प्रकाशित हो रहा था। धारावाहिक उपन्यास, पढ़ने की एक विशेष दृष्टि की मांग करते है। गम्भीर पाठक भी उन्हें पढ़ते समय अपनी मनःस्थिति को सामान्य रखने के लिए बाध्य होता है। इसके अतिरिक्त मेरी अपनी धारणा है, कि धारावाहिक प्रकाशन से गम्भीर उपन्यास की 'सम्पूर्णता' खंडित होती है। उपन्यासों के धारावाहिक प्रकाशन का सीधा सम्बन्ध व्यावसायिकता से है। अतः उन्हें पढ़ने तथा ग्रहण करने के बीच ये सारी प्रक्रियाएँ संयुक्त हो जाती हैं और इनका सम्बन्ध उपन्यास के प्रभाव तथा मूल्यांकन से भी स्वतः जुड़ जाता है। अधिकांश धारावाहिक उपन्यास इस विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक नियति के शिकार होते हैं, जबकि दूसरी ओर उनको इसका अनुकूल लाभ भी प्राप्त हो जाता है।

मेरे सन्दर्भ में 'झूठा-सच' के साथ यही हुआ। मैंने उसे गंभीर उपन्यास के रूप में पढ़ना प्रारम्भ नहीं किया और जब तक वह 'धर्मयुग' में प्रकाशित होता रहा, मैं उसके चटपटे यथार्थपूर्ण प्रसंगों का मज़ा ही ले सका। इसके काफी दिनों बाद 'दूसरा भाग' पुस्तक रूप में पढ़ा और उसके भी कई वर्ष बाद 'दोनों भाग' साथ-साथ पढ़ सका हूँ। पढ़ने के 'अंतराल' (खास तौर पर जब वे 'झूठा-सच' जैसे उपन्यास की विशालता के सन्दर्भ में काफी अनियमित हों) रचना के प्रभाव को परिवर्तित करते चलते हैं; क्योंकि उसमें पाठक के 'बोध-विकास' का क्रम भी शामिल होता है।

'झूठा-सच' के सम्बन्ध में मेरी प्रतिक्रियायें इन्हीं सन्दर्भों में स्थित हैं। इसके अतिरिक्त इन प्रतिक्रियाओं और 'झूठा-सच' के बीच एक दशक से अधिक का ऐतिहासिक अंतराल भी वर्तमान है जिससे बचा नहीं जा सकता।

प्रेमचन्द की परम्परा में हिन्दी उपन्यासकारों का एक समूह या तो स्वयं अपने को गिनता रहा है या आलोचकों ने उन्हें प्रेमचन्द के साथ नत्थी कर दिया है। इस तरह प्रेमचन्द की परम्परा के दावेदार उपन्यासकारों की संख्या आज भी हिन्दी

---

१. झूठा-सच : यशपाल

में कम नहीं है। लेकिन यह प्रेमचन्द की परम्परा है क्या, जिसका दावा आज तक गौरव पूर्वक किया जा रहा है? भाषा-शैली की बात जानें दें यहाँ तक कि विषय वस्तु की बात भी (इस आधार पर समानता या समान्तरता की चर्चा करना प्रायः स्कूली या सतही चर्चा की शुरुआत करना ही है) तो फिर वह कौन सी प्रवृत्ति है जिसे हम प्रेमचन्द की परम्परा के रूप में जान सकते हैं? मेरे ख्याल से यह आधार मूल्यगत-संस्कारों का है। समाज की स्वीकृति या स्थापित-नैतिक, राजनैतिक और आर्थिक मूल्य-रेखा के समानान्तर व्यक्ति का संघर्ष। लेकिन यह 'संघर्ष' उस मूल्य रेखा के विरुद्ध नहीं बल्कि उसके अनुरूप होने का संघर्ष। अपने भीतर और बाहर के उन तत्वों का विनाश, जो उस मूल्य-रेखा के अनुरूप होने से रोक रहे हों। इसके विपरीत प्रेमचन्द की परम्परा वहाँ खण्डित होती है जहाँ व्यक्ति उस स्वीकृत मूल्य-रेखा के विरुद्ध ही लड़ने लगता है। इस रूप में केवल यशपाल ही प्रेमचन्द की परम्परा को सर्वाधिक यथातथ्यता से वहन करते हुए दिखाई देते हैं या फिर कुछ हद तक अमृत लाल नागर। प्रेमचन्द जो कार्य अपने अनेक उपन्यासों में गाँधीवादी मूल्य-रेखा की कसौटी पर करते रहे वही कार्य यशपाल ने मार्क्सवादी मूल्य-रेखा की कसौटी अपनाकर किया। अतः अन्तर केवल गाँधी और मार्क्स का हुआ। मूल दृष्टि वही रही।

'झूठा-सच' में यशपाल उतने मार्क्सवादी नहीं दिखाई देते। ठीक उसी तरह जैसे 'गोदान' में प्रेमचन्द उतने गाँधीवादी नहीं दिखाई देते लेकिन 'झूठा-सच' में यशपाल भी उतने ही 'मोहग्रस्त' रहते हैं जितने प्रेमचन्द 'गोदान' में रह गये थे। इस 'मोह' का स्थानान्तरण जरूर हुआ पर वह टूटा नहीं। स्वीकृत मूल्य-रेखा के अनुकूल होने की चेष्टा झूठा-सच में भी (यह स्वीकृत मूल्य-रेखा अवश्य थोड़ी बदल गयी है) अंत तक बनी रहती है। लेकिन इन संदर्भों का विश्लेषण अलग-अलग प्रसंगों में आगे किया जायेगा।

'झूठा-सच' एक अनिवार्य [illegible] महत्वाकांक्षापूर्ण प्रयास है। ऐसा प्रयास जो प्रत्येक समर्थ लेखक केवल एक बार करना [illegible] है। यशपाल की यह महत्वाकांक्षा सबसे पहले इस बात से व्यक्त होती है कि उन्होंने [illegible] 'झूठा-सच' के लिए भारत के जिस काल खंड विशेष को चुना है वह वर्तमान शताब्दी [illegible] का सबसे महत्वपूर्ण और जटिल युग है। राजनैतिक सत्ता का हस्तान्तरण, देश का वि[illegible]भाजन एक व्यापक सांस्कृतिक संकट और इन सबके निर्मोक से देश के निकलने की [illegible]यक प्रक्रिया। रचनात्मक दृष्टि से यह अपार सम्भावनाओं का युग था जिसका यशपाल [illegible]ने बड़े कौशल से (बल्कि कहें तो थोड़ी चतुराई से भी) उपयोग किया है। देश के [illegible] [illegible]वल सघठित तथ्य संग्रह के का यह विस्तृत दस्तावेज केवल अपने 'साक्षी' होने या [illegible] है, जो 'झूठा-सच' को कारण भी महत्वपूर्ण हो गया है। लेकिन यह वह अनुकूलता [illegible] अपनी औपन्यासिक या रचनात्मक उपलब्धि से अलग केवल [illegible] अपनी व्यापक और स्वाभाविक उपस्थिति से ही प्राप्त हो जाती है। 'झूठा-सच' की [illegible] अनेक समीक्षायें केवल पूर्व पीठिका के रूप में स्थित इस धारणा के कारण ही उसकी र[illegible] रचनात्मकता के

बारे में अलग से सोचने की आवश्यकता नहीं समझती। झूठा-सच के सम्बन्ध में अधिकांश घोषणात्मक समीक्षायें इसी एकपक्षीयता से ग्रस्त हैं।

'झूठा-सच' के रचना-संसार में प्रवेश करने पर सबसे पहले जिस विशेषता की ओर ध्यान जाता है, वह है लेखक की ओर से अपने निर्मित परिवेश के प्रति धैर्यपूर्ण तटस्थता जो इस उपन्यास की महायात्रा में कहीं भी टूटती नहीं। 'झूठा-सच' की सामग्री के प्रसंग में यह बात इसलिए भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, कि वह अपने घटनात्मक आवेग के कारण बड़ी आसानी से अपने लेखक को भावुक सम्पृक्ति की भूमि पर गिराने के प्रलोभन से युक्त है। इससे पहले के (या बाद में भी) कथाकार (रामानन्द सागर, कृष्ण चन्द्र, बलवन्त सिंह आदि) इस भूमि के भावुकता पूर्ण आवेग के शिकार हो चुके हैं। सामान्य तरीके से इस वस्तु का उपयोग ऐसी मध्युपूरित भावनाओं को उभगाने के लिए ही किया जा सकता है और यशपाल आसानी से और इन्सान मर गया या पेशावर एक्सप्रेस की लीक पर आ सकते थे। 'झूठा-सच' में सबसे पहले इसी प्रौढ़ तथा अप्रचलित संयम की ओर दृष्टि जाती है। निश्चित रूप से कथाव-स्तु के प्रति यह प्रौढ़ तटस्थता प्रेमचन्द के बाद यशपाल में ही मिलती है। वे इस कोण पर भी प्रेमचन्द की परम्परा के विशेष वाहक सिद्ध होते हैं।

इस तटस्थता का तात्पर्य यह भी है, कि लेखक पात्रों, घटनाओं और दृष्टि-कोणों की भीड़ में अपने को अनुपस्थित ही रखता है। यहाँ तक कि यशपाल का प्रिय मार्क्सवाद भी किसी पक्ष विशेष से संयुक्त होकर नहीं बोलता और उसका उपयोग अन्य दृष्टिकोणों के अनुपात में ही किया गया है। विभाजन से पूर्व और विभाजन के पश्चात् दोनों तरफ की स्थितियों को यशपाल ने न केवल संतुलन में रखा है बल्कि एक 'स्थिति' से दूसरी 'स्थिति' तक के परिवर्तन क्रम को भी तथ्यपरक सूक्ष्मता से (काल्पनिक या आरोपित सूक्ष्मता नहीं) अंकित करते गये हैं। वस्तुत: 'झूठा-सच' की रचना तथ्यों की एक बहुत बड़ी पूँजी लेकर की गयी है। यह उसका सबसे बड़ा सम्बल है।

विभाजन से पूर्व के पंजाब का जो वर्णन लाहौर के भोला पांधे की गली को केन्द्र बनाकर किया गया है वह निश्चित रूप से हिन्दी के उपन्यास के सबसे प्रभाव-शाली वर्णनों में से एक है। भोला पांधे की गली में कुलबुलाती निम्नमध्यम वर्गीय ज़िन्दगी यशपाल ने यहाँ से वहाँ तक फोटोग्राफिक क्लोज़-अप में चित्रित किया है जिसकी संत्रासकता पाठक को हमेशा के लिए मिल जाती है। भोला पांधे की गली की यह रिसती हुई निम्नमध्यमवर्गीय अतृप्ति धीरे-धीरे सारे देश में फैल जाती है जो एक ओर विभाजन का विस्फोट करती है और दूसरी ओर विभाजन के बाद व्यापक असन्तोष के ज्वालामुखी के लिए उपकरण एकत्र करती है। अतः भोला पांधे की गली के सभी चित्रों को यदि एक क्रम में पढ़ा जाये तो वे जिस कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में सामने आते हैं उसकी कोई सुखकर या प्रीतिकर अनुभूति नहीं होती। यह गली एक दुर्गन्धयुक्त करुण सच्चाई को उघाड़ कर रख देती है जिसे

स्वतन्त्रता के लच्छेदार नारों में दबा रखने की कोशिश की जाती रही है।

पर यशपाल की तटस्थता यहाँ भी खंडित नहीं होती। वे स्थितियों को पूरी तरह सम्पन्न बनाकर हमारे सामने बोलने के लिए उपस्थित कर देते हैं—बिना स्वयं उपस्थित हुए। आगे चलकर यही गली जब फूटकर बहती हुई सारे पंजाब को समेट कर दिल्ली तक एक खौलते हुए काफिले में बदल जाती है तब भी यशपाल की धैर्यपूर्ण तटस्थता अखंडित ही रहती है। 'झूठा-सच' का पाठक इसके बाद जैसे एक भयानक दुःस्वप्न देखकर जागता है, लेकिन लेखक की ओर से किसी अतिरिक्त तनाव या आरोपित आवेग उत्पन्न करने का प्रयास नहीं दीखता। 'झूठा-सच' की सफलता का यह सबसे जीवन्त बिन्दु है। यह इस बात का भी सबूत है, कि लेखक जब अनुभव और तथ्यों की दृष्टि से (निश्चित रूप से दोनों का संयुक्त रूप ही) समृद्ध होता है तो वह किसी सतही शिल्प या कौशल का मोहताज नहीं होता।

लेकिन लेखक की यह 'अनुपस्थिति' तनावपूर्ण चरम स्थितियों के समाप्त होते ही एक लेखकीय अनमनेपन में बदल जाती है। सूचनाओं और विवरणों को मूल सामग्री में सग्रथित करने के प्रयास में इस गतिशील इतिहास गाथा के प्रति उसकी रुचि एक 'डाक्यूमेंटरी रुचि' तक सीमित रह जाती है जो उपन्यास के अनेक स्थलों को बेस्वाद बना देती है। एक प्रकार जीवन-तनाव जो लेखक और उसके कथा संसार के बीच होता है, 'झूठा-सच' में नहीं रहता। अतः यशपाल के सामान्य निष्कर्ष यद्यपि प्रायः सही हैं और उनके पात्र विवेकपूर्ण भाषा में जो तर्क देते हैं वे भी अपने परिवेश के प्रति काफी ठीक प्रतिक्रियाओं पर आधारित होते हैं परन्तु 'जीवन-तनाव' के अभाव में वे औपन्यासिक रचाव का अंग नहीं बन पाते और न ही पाठक की संवेदना के साझीदार बन पाते हैं।

'झूठा-सच' मूलतः 'संकट' (क्राइसिस) का उपन्यास है। वह जिन समय का साक्षी है वह और लेखक उसे जिन परिणतियों तक पहुँचा पाता है वे सभी एक व्यापक संकट का गहरा संकेत देते हैं। लेकिन यशपाल की विवशता यह है, कि वे 'संकट' के नहीं 'सरल विश्वासों' के लेखक हैं। यह विरोधाभास उपन्यास में अनेक विसंगतियों को जन्म देता है। 'संकटबोध' से मेरा तात्पर्य किसी स्थूल राजनैतिक या आर्थिक संकट से ही नहीं है बल्कि अस्तित्व के उस आन्तरिक संकटबोध से है जिसका अनुभव प्रत्येक आधुनिक संवेदनशील व्यक्ति को होता है। विशिष्ट ऐतिहासिक विश्लेषण सम्भवतः कभी यह सिद्ध कर सके कि आधुनिक भारतीय व्यक्ति के 'संकट-बोध' का कितना हिस्सा इतिहास के उस अन्तरस्थित युग से सम्बन्धित है जो 'झूठा सच' में वर्णित है—लेकिन इतना निश्चित है, कि 'झूठा सच' का वह युग काफी दूर तक इसके लिए उत्तरदायी प्रमाणित होगा। अत यह अपेक्षा अस्वाभाविक नहीं है, कि यशपाल को इस 'संकट' का बोध उससे अधिक गंभीरता से होना चाहिए था, जितनी गंभीरता से वे उसे 'झूठा-सच' में व्यक्त कर सके हैं। यह 'संकटबोध' स्थूल परिवर्तनों या सामाजिक-राजनैतिक धरातल पर होने वाले आन्दोलनों से निरपेक्ष हो, यह भी नहीं, बल्कि यह

प्राय. उन्हीं परिवर्तनों और व्यक्ति की आन्तरिकता के टकराहट से उत्पन्न होता है लेकिन महान कृति या महत्त्वपूर्ण कृति मे इस टकराहट का एहसास इतना तीखा और कौंध भरा होता है कि परिवेश का 'बाह्य' बाह्य न रहकर व्यक्तित्व की विस्फोटक आन्तरिकता का अंग बन जाता है। 'झूठा-सच' मे 'संकटबोध' के अभाव का पहला प्रभाव यही पडा है, कि उसमे परिवेशगत बाह्य समस्याओं तथा व्यक्ति के आतरिक प्रतिघातो की एकता उस कलात्मक रचाव (आर्टिस्टिक इन्टीग्रेटी) के साथ प्रस्तुत नहीं हो सकी है जो उसे किसी विशेष महत्त्वपूर्ण कृति के समानान्तर रख सके।

'झूठा-सच' की इस कमज़ोरी को उसी के एक उदाहरण के द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। जयदेव पुरी और कनक 'झूठा-सच' के 'झूठ' और 'सच' दोनों के केन्द्रस्थ वाहक हैं। पुरी के रूप मे यशपाल ने आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवी युवक का सबसे प्रामाणिक चरित्र प्रस्तुत किया है। पुरी का एक क्रियाशील, प्रतिभाशील ईमानदार महत्त्वाकांक्षी युवक के रूप मे विकास और फिर राजनैतिक-आर्थिक समझौतों की बाढ़ मे बह जाने वाला बेईमान व्यक्तित्व पुरी का ही नहीं स्वतन्त्रता के बाद के अधिकांश बुद्धिजीवियो का औसत-चरित्र-चित्र है। सारा स्वातन्त्र्योत्तर भारत बुद्धिजीवियों के पतन की इन दुःखद परिणतियो को भोग रहा है। अनेक संघर्षों और दबावों के बीच पुरी का अविचलित वरण करने वाली कनक के सामने पुरी के ये दोनो चेहरे हैं और उसे अपनी आतरिक नैतिकता तथा अपनी पुत्री के पिता 'स्थापित' पुरी के बीच किसी एक को ही चुनना है। कनक के लिए चरम आन्तरिक संकट की स्थिति है। सच तो यह है कि कनक का यह 'संकट' स्वतन्त्रता के बाद प्रत्येक ईमानदार भारतीय का 'संकट' है। उपन्यास की घटनात्मक स्थितियों से अलग कला की दृष्टि से यह उसकी सबसे सामर्थ्यवान स्थिति है—एक तरह से अपने रचनाकार के लिए चुनौती। लेकिन यशपाल ने इस सम्भावनापूर्ण चुनौती को यों ही गुजर जाने दिया है—उसके 'संकट' के स्वरूप को बिना समझे ही। यद्यपि यहाँ भी अपने सामान्य निष्कर्ष मे वे सही हैं। कनक का चुनाव समझौतो को पछाड़ने का नैतिक साहस ही है। परन्तु यशपाल ने पूरी समस्या का बुरी तरह 'सरलीकरण' कर दिया है। उन्होंने पुरी-कनक के द्वन्द्व को शुद्ध वैवाहिक असन्तुलन बल्कि स्थूल यौन असन्तुलन का रूप दे दिया है अतः जब मैं कहता हूँ कि यशपाल व्यक्ति और परिवेश की समस्याओं को सगठित कर किसी 'व्यापक संकट' का संकेत नहीं दे पाते, तो मेरा संकेत उनकी ऐसी ही दुर्बलताओं की ओर होता है। मेरा ख्याल है, कि इस रूप मे वे रचनात्मक प्रक्रिया की जटिलताओं मे भी परिचित नहीं होते और उनमे गुजरे बिना ही कुछ सरलीकृत निष्कर्षों तक पहुँच जाते हैं। कुछ स्वीकृत मूल्यों के प्रति उनका सहज विश्वास ही उन्हें ये दोनों गलतियाँ करने के लिए बाध्य करता है; उन्हें अपने ही निर्मित समाज के व्यापक सन्दर्भों से बेखबर रखता है और अपने विश्वास के पूर्व निश्चित आधारों तक कुछ सरल नुस्खों द्वारा पहुँचने के लिए प्रेरित करता है। इसी कारण यशपाल उन रूढ़िबद्ध औपन्यासिक फार्मूलों का सहारा भी

लेते हैं जो उन्हें उनके 'विश्वासो' तक किसी 'शार्ट-कट' से पहुँचा सके। मसलन वे मानकर चलते हैं, कि सीता, शीलो और उर्मिला को तथाकथित अर्थों में 'अच्छी औरतें' बनना है और विवाह कर व्यवस्थित जीवन बिताना है। तारा को नाथ से और नरोत्तम को कचन से विवाह करना है (तारा नरोत्तम से विवाह नहीं कर सकती थी क्योंकि वह उसके सामने बच्चा है, उन्हें भाई-बहन बनकर रहना है—यह एक स्वीकृत मूल्य है) कनक गिल को एक चुम्बन भी नहीं दे सकती क्योंकि उसे पुरी से अपने विच्छेद की प्रतीक्षा करनी है (यह भी एक स्वीकृत मूल्य का स्वीकार ही है) परिणाम है कि यशपाल को अपने 'विश्वासो' तक पहुँचने के लिए कृत्रिम परिस्थितियाँ रचनी पड़ी हैं और उन सभी औपन्यासिक लटको की सहायता लेनी जो किसी साधारण हिन्दी उपन्यास या साधारण हिन्दी फिल्म में दिखाये जाते हैं। 'झूठा-सच' का अन्त इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है: एक सस्ते 'सस्पेंस' के सहारे नाथ और तारा की नौकरी तथा कनक-पुरी के विच्छेद सम्बन्धी निर्णयो को रोक रखा जाता है और उन्हें सूद जी की पराजय में जोड़कर तिलस्मी तरीके से सबका समाधान ढूँढ निकाला जाता है। 'स्वीकृत मूल्यों' में सहज विश्वास यशपाल को औपन्यासिक विधान तथा दृष्टिकोण दोनों धरातलों पर रचनाकार के स्तर से च्युत करता है। वे उस रूढ मूल्य परम्परा में ही विश्वास करते हैं जिसके अन्तर्गत 'काला' और 'सफेद' दो रंग होते हैं सूद जी जैसे बुरे व्यक्तियों की पराजय ही होती है, पुरी पश्चाताप ही करता है तथा कनक, तारा, नाथ आदि स्वीकृत नियमों का पालन कर सुखी जीवन ही बिताते हैं। इसका कारण यह भी है कि यशपाल की दृष्टि 'राजनैतिक' अधिक है, ऐतिहासिक कम। वैसे उनकी गणना हिन्दी के उन थोड़े से लेखकों में होनी चाहिए जो पहली बार सामान्य व्यक्ति के जीवन में राजनीति की अपरिहार्यता का एहसास कराते हैं। आधुनिक जीवन में सामान्य व्यक्ति के लिए भी राजनीति किस प्रकार नियति बन गयी है, इसे यशपाल से बढ़कर कम ही लेखकों ने समझा होगा परन्तु यहाँ मेरा तात्पर्य दूसरा है। ऐतिहासिक दृष्टि का अर्थ यह भी है कि उसमें तात्कालिक इतिहास या सामयिक घटनाओं से निर्मित इतिहास का अतिक्रमण करने की क्षमता होती है। यशपाल में इस ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव है। उनके पात्र एक विशेष घटना चक्र में 'नियत' तो हैं किन्तु उनकी दृष्टि केवल उन घटनाओं से उत्पन्न समस्याओं के तात्कालिक समाधान तक ही जाती है—उससे आगे वे नहीं देख पाते। उनकी समस्याएँ भी एक औसत आदमी की समस्याएँ हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनका औसत होना गुनाह है। वे उस रूप में सही तथा न्यायोचित तो हैं लेकिन उनमें—औसत व्यक्ति में भी जो विशिष्ट आतरिक जटिलता होती है, उसका अभाव है। वे कथा के सीधे कार्य-कारण सम्बन्ध से ही जुड़ी रहती हैं।

यशपाल इस 'ऐतिहासिक' दृष्टि से पलायन 'शाश्वत' में जाकर नहीं करते जैसा कि कुछ लेखक करते हैं, परन्तु वे इतिहास को घटनात्मक ऐतिहासिकता तक सीमित कर देते हैं। उनके पात्र 'इतिहास' में जीते तो हैं, उसका पूरी विभीषिका और भासमता के साथ साक्षात्कार भी करते हैं परन्तु वे इतिहास को उसकी पूरी

जटिल-अन्तरंगता के साथ निर्मित करने मे योगदान नही करते। वे इतिहास का सामना एक सरलीकृत नुस्खा लेकर करते हैं और यही वे स्वीकृत मूल्य-रेखा के सम्मुख पंगु हो जाते हैं।

ऐसा भी प्रतीत होता है कि यशपाल के लिए उनके पात्र कम से कम अस्तित्व रखते हैं यानी वे पात्रो मे अधिक उस घटनात्मक गतिशीलता का ध्यान रखते है जो उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण भी होती है। ज्यादा सम्भावना इस बात की है कि यशपाल को जीवन को मौलिक जटिलता का पता ही नही चलता। वे आसान विश्वासो के लेखक हैं जिन्हें कुछ साधारण तर्कों के द्वारा उनके पात्र प्राप्त कर लेते है जब कि न तो चीजो मे परिवर्तन इतनी आसानी से होता है और न मानवीय स्थितियो मे। यशपाल के पात्र कभी जटिलतर मन स्थितियो मे प्रवेश नही करते—वे या तो अपने निर्णयो को स्थगित कर देते हैं या निर्णयो पर पहुँचने की प्रक्रिया को दिखलाने के बजाय उनके निर्णयों की केवल सूचना दी जाती है। तारा-नाथ प्रसंग मे निर्णय संकेतित तो हो जाता है लेकिन पुरी-कनक के विच्छेद-प्रसग में कनक और पुरी के क्रमश. असह्य होते जाते सम्बन्धो को प्रक्रियात्मक ऋणता से प्रस्तुत करने के बजाय उनके निर्णयो की सूचना मात्र दी जाती है। लेकिन ऐसा मानवीय सम्बन्धों के सन्दर्भ मे ही होता है। बाह्य घटनाओं और स्थिति वर्णनो मे यशपाल आवश्यक प्रगाढता और शक्ति का परिचय देते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि मानवीय अन्तरंगता उनकी रुचि के दायरे मे ही नही आती। इन्ही कारणो से उपन्यास का इतना बडा आकार और सन्दर्भ पाठक के लिए सामान्य पठयीयता मे बदल जाता है।

व्यक्ति को तनावपूर्ण स्थितियो मे एक मामूली निर्णय लेने के लिए भी मानसिक यंत्रणा के किन-किन अग्नि-कुण्डों से गुजरना पड़ता है, इसे यशपाल ने समझा होता तो 'झूठा-सच' तत्कालीन इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साक्षी बना होता। इस बात को स्पष्ट करने के लिए सीमोन दी बोउआ के विशाल फ्रेंच उपन्यास 'मैंड्रिंस' का उल्लेख किया जा सकता है. 'मैंड्रिंस' का एक प्रमुख पात्र कम्युनिस्ट है। वह एक प्रमुख कम्युनिस्ट अखबार का सम्पादक भी है। कम्युनिस्ट होना उसके लिए महज एक सामान्य चुनाव नही है बल्कि अपने अस्तित्व की अनिवार्यता है। हर शाम दफ्तर से घर लौटते हुए गलियो के नुक्कड पर सैकड़ो की तादाद में मजदूरो को वह कालिख सने हाथो से अपना अखबार पढते हुए देखता है; गिरोह बाँधकर खड़े उत्तेजना से हाँफते मजदूरों की तनी हुई मुखाकृतियाँ सच्चे आवेश से आंदोलित होती हैं। वह महसूस करता है कि केवल एक इस दृश्य के लिए ही जिन्दा रहा जा सकता है। लेकिन इसी समय उसे पता चलता है कि हिटलर के जिन यंत्रणा-शिविरों का पर्दाफाश वह अपने अखबार मे करता है, वैसे यंत्रणा-शिविर सोवियत रूस में भी मौजूद हैं। यह सूचना उसके लिए भीषण मानसिक यंत्रणा और द्वन्द्व का स्रोत बन जाती है। वह जान जाता है कि इस सूचना के बाद भी अखबार में रूस की

प्रशस्ति लिखना अपने व्यक्तित्व की आन्तरिकता और विवेक के साथ बलात्कार करना है। लेकिन दूसरी ओर वह यह भी जानता है कि रूस के इस दुहरे चेहरे को अनावृत करना भी अपने को और अखबार को अमेरिकी दलालों के हाथ बेच देना है। हजारों मजदूरों की तनी हुई वे मुखाकृतियाँ तब उसके विरुद्ध भर्त्सनायें उगलेंगी—जो असह्य होगा। इस उबलते हुए द्वन्द्व के बीच उस पात्र की मानसिक स्थिति का जो चित्र सीमॉन दी बोउआ ने अंकित किया है वह केवल उस पात्र को ही नहीं, पूरे उपन्यास को अद्भुत गौरवपूर्ण शक्ति से भर देता है। उसका मानसिक तनाव केवल राजनैतिक अर्थों तक सीमित नहीं रहता है न केवल फ्रान्स की भूमि का होता है बल्कि पूरे युग के स्तर पर उत्पन्न आज के व्यक्ति के आंतरिक-संकट का अपूर्व साक्षी बन जाता है। राजनैतिक-संकट किस प्रकार अस्तित्व का संकट बन जाता है और किस प्रकार वह आज के युग की मूलभूत समस्या की ओर संकेत करता है–यह सब उस पात्र से जुड़ा हुआ हमारे सामने साकार हो गया है। 'झूठा-सच' के जयदेव पुरी की परिणति यद्यपि इस फ्रेन्च पात्र के विपरीत है लेकिन किसी भी पात्र का केवल विकासोन्मुख निर्णय या विकास ही महत्त्वपूर्ण नहीं होता, इन्हीं परिस्थितियों में उसका पतन भी उतना ही प्रभावशाली हो सकता है जो जयदेव पुरी के प्रसंग में घटित नहीं होता। परिणाम-स्वरूप 'झूठा-सच' के सभी पात्र एक परिवर्तन से दूसरे परिवर्तन तक बिना किसी हलचल के गुजर जाते हैं। बात केवल भावुकता की नहीं है उस वास्तविकता की है जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। पात्रों का सामान्य स्थितियों में भी दारुण-दृश्य उपस्थित करना भावुकता है। यशपाल दंगों या विभाजन पर लिखने वाले अन्य लेखकों की भावुकतापूर्ण अति नाटकीयता से बचे हैं। यह उनकी प्रौढ़ता का सूचक है लेकिन जहाँ उसका प्रभाव उपन्यास की आन्तरिक रचनात्मकता पर पड़ा है वहाँ केवल उसकी दुर्बलता ही उभर कर आती है।

इन्हीं सब कारणों से 'झूठा-सच' पढ़ते समय बराबर यह अनुभव होता रहता है, कि हम मात्र दर्शक हैं। यशपाल अपनी तटस्थता से पाठक को भी तटस्थ बना देते हैं। इस तटस्थता की दुर्बलता यही है। उपन्यास की घटनायें पाठक के सामने घटित होती हैं। उसके भीतर घटित नहीं होतीं। इस रूप में वह केवल लेखक के 'संतुलन' और तथ्य संग्रह की प्रशंसा कर पाता है या पूरी सामग्री को ग्रहण करने तथा व्यक्त करने में लेखक की ओर से जो विश्वासपूर्ण इतमिनान (ईज़) दिखाई पड़ता है वह उसे आकृष्ट करता है लेकिन कुल मिला कर वह उपन्यास के 'बाहर' ही बना रहता है।

जैसा मैंने पहले भी लिखा है, यशपाल के सामान्य निष्कर्ष ज्यादातर ठीक हैं। विसंगति को पहचानने की उनमें सहज विवेक बुद्धि है। मसलन स्वतन्त्रता के बाद की विसंगतियों को उन्होंने निर्ममता से पहचाना है। स्वतन्त्रता से और उससे उत्पन्न कल्पना से जो साधारण 'मोह' जुड़ा हुआ है उसे यशपाल स्वतन्त्रता के बाद

के गलियारों में घुमाते हुए क्रूरता से खंडित करते हैं। 'झूठा-सच' जिस मोह को सबसे पहले खंडित करता है वह वीर-पूजा (हीरो वरशिप) का भाव है। इस रूप में भारतीय जनता जिन मध्ययुगीन संस्कारों में जकड़ी हुई है, यशपाल उन्हें क्रमशः तोड़ने की चेष्टा करते हैं। इस क्रम में गांधी सबसे पहले आते हैं। गांधी जी के साथ अलौकिकता की जो रहस्यपूर्ण भावना जुड़ी हुई है उसमें यशपाल बिल्कुल प्रभावित नहीं दीखते बल्कि उसमें वे 'कैरेक्टर कल्ट' की असंगतियां देखते हैं। वे स्पष्टता से उन स्थितियों को अकेला करके सामने ले आते हैं, जो गांधी जी से जुड़कर तो व्यक्तित्व की सात्विकता व्यक्त करती है लेकिन आगे चल कर सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के नाम पर 'घेराव' की अराजकता को जन्म देती है। 'गांधी जी की मृत्यु हो जाती तो निश्चय ही बहुत बुरा होता लेकिन इस प्रकार सरकार का निर्णय बदल जाना राष्ट्रीय हानि है। यह राष्ट्र को एक व्यक्ति की तुलना में नीचे गिरा देना है। इसके परिणाम बहुत बुरे होंगे।' (झूठा-सच पृ०, २१०) 'गांधी जी महापुरुष हैं, यह मैं मानता हूँ। महापुरुष का अनुकरण करना सभी उचित मानते हैं। अब सरकार के किसी भी निर्णय से लोगों को असंतोष होगा तो लोग अनशन करने बैठ जाया करेंगे।'—(झूठा-सच, भाग दो, पृष्ठ २१५) यहाँ तक कि गांधी हत्याकाण्ड के तरल क्षणों में भी यशपाल की दृष्टि उस विडम्बना की ओर ही रही है जो गांधी जी के महात्मा रूप और प्रजातन्त्र की सादगी के बाद ढोंग और पाखण्ड के रूप में विकसित हो रही। महात्मा गांधी की शव यात्रा के समय जब सम्पूर्ण समुदाय भाव विह्वल हो रहा है यशपाल ने अपनी स्वाभाविक निर्मम तटस्थता सुरक्षित रखी है। उनका एक अनाम पात्र इस भावुकता और राजकीय पाखण्ड पर व्यंग करते हुए कहता है: 'गांधी जी के विचारों के अनुसार यह उनका आदर नहीं है। यह उनके सिद्धान्तों का अपमान है। गांधी जी अपनी अनुयायी सरकार से शान और शक्ति के प्रदर्शन की नहीं विनय और सेवा की आशा रखते थे। सरकार उस सन्त के बहाने अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रही है।'—(झूठा-सच, भाग दो पृष्ठ २२७)

उपन्यास में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ यशपाल ने अपने सहज विवेक से विसंगतियों को पहचानने की क्षमता प्रदर्शित की है। नेहरू के सम्बन्ध में भी उन्होंने वीर पूजा के 'मोह' को भंग करने का प्रयास किया है। गांधी-नेहरू जैसे चरित्र-नायक भी उपन्यास के अन्य पात्रों के बीच उन्हीं के कद के दिखलाई पड़ते हैं और यशपाल ने उनके प्रभा-मंडल के आतंक से मुक्त होकर उनका चित्रण किया है। वीर पूजा के प्रति यह विरक्ति ही उपन्यास के अन्य पात्रों को भी रूढ़ नायकत्व से मुक्त रखती है। अनेक पात्रों को समान धरातल पर ही स्थित रखा गया है।

'झूठा-सच' महत्वाकांक्षापूर्ण प्रयास होकर भी यदि अधिक महत्वपूर्ण उपन्यास नहीं बन सका है तो इसका कारण लेखक के औपन्यासिक संस्कार हैं: यशपाल अपने सरल विश्वासों के द्वारा वैचारिक स्तर पर अपेक्षाकृत परिवर्तन (ये

परिवर्तन अपेक्षाकृत ही हैं और विश्वासों की सरलता के कारण 'मोहग्रस्त' ही हैं) तो उपस्थित करते हैं लेकिन उपन्यासों की रूढ रूप परम्परा (फार्म) में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझते। फलतः यह रूढ रूप उनके वस्तु विकास को भी प्रभावित करता है और 'झूठा-सच' को केवल उसकी विशाल और सन्तुलित-यथातथ्यता के कारण ही स्मरण किया जा सकता है।

आधुनिकीकरण का औपन्यासिक दस्तावेज़[1]

धनञ्जय वर्मा

इधर किसी कृति की समीक्षा, उससे ध्वनित होने वाले आशय और अर्थ, उसकी निहित मनोभावना—ओवर इम्पोर्ट—के धरातल पर तो होती ही नहीं या कम होती है; कुछ आग्रहों की फिक्र और उनकी औचित्य-सिद्धि अधिक। कुछ नहीं तो कृतिकार की मृत्यु या उसके प्रति आसक्ति ही उसे या उसकी रचना को चर्चित बना देती है अथवा उसके मूल्यांकन को एक खास रंग दे देती है।

अब इसमें क्या फर्क (याने रचना के रूप में श्रेष्ठता में फर्क) पड़ता है कि कोई उपन्यास आंचलिक है अथवा नागरिक, अस्तित्ववादी है। अथवा मार्क्सवादी; कथानक आग्रही है अथवा चरित्राग्रही जैसे कथानक, पात्र, देशकाल, कथोपकथन और उद्देश्य के पंचमहाभूतों का वर्गीकरण कर, किसी रचना का मूल्यांकन बेमानी है उसी तरह आग्रह के ये बिन्दु भी निरर्थक हैं। फिर बात जब पुनर्मूल्यांकन की हो तब तो समीक्षा का दायित्व और बढ़ जाता है। समय का अन्तराल या नए प्रतिमानों का अन्वेषण न सही, आग्रही और ध्रुवीय आलोचनाओं के कुहासे में लिपटे कृति के गर्भितार्थ को साफ करने की दृष्टि से भी पुनर्मूल्यांकन की जरूरत पड़ती है। जो रचनाएँ चर्चित हो चुकी हों, कुछ संस्थापित हो गयी हों उनको इस तरह से फिर-फिर कर पलट लेने से हमें नए-पुराने प्रतिमानों का खरा-खोटापन भी मालूम हो जाता है। अस्तु।

× × ×

उदयशंकर भट्ट की प्रसिद्ध कृति 'सागर, लहरें और मनुष्य' काफी चर्चित रही है। अभी आज तक उस पर लिखा जाता रहा है—कई और भिन्न कोणों से! इस कृति के प्रसंग में मैं उनको कुछ बुनियादी सवालों से उठाना चाहूँगा!

कोई भी उपन्यास क्या है?……क्या कुछ कहानियों का संकलन? एक नायक-नायिका की केन्द्रीय कथा के आस-पास घूमती कई कथाओं का समूह? बहुत

---

१. सागर लहरें और मनुष्य : उदयशंकर भट्ट

में पात्रों का जमघट ? किसी एक या विभिन्न स्थानों के वातावरण का चित्रण ? किसी एक या कई चरित्रों का काल-क्रमानुसार ऐतिहासिक विवरण ? देशकाल को फलाँगती, पूरी अधूरी घटनाओं का एक अवधिगत आलेख ?······क्या ?······मेरा विश्वास है कि उपन्यास इनमें से कुछ भी नहीं है, यों कि ये सब उसके उपकरण और आनुषंग हो सकते हैं।···वह एक सम्पूर्ण-स्वतन्त्र-जीवन-रचना है और किसी भी जीवित आंगिक रचना की तरह उसका अपना एक जीवन्त-विधान होता है। वह एक अनुभूति का व्यापक विजन में प्रसरण है। वह सम्पूर्ण 'जीवन' है उसका 'जीवित' होना ही काफी नहीं है। वह आंशिक जीवन का अतिक्रमण कर व्यापकता और पूर्णता की ओर स्पन्दित गति है। उसका प्रत्येक अध्याय, स्थिति और चरित्र··· यहाँ तक कि प्रत्येक अनुच्छेद—'जीवित-सेल्स' की तरह पूरी जीवन्त-रचना का स्पन्दित अंग होता है। वह पुनर्रचना मात्र नहीं है, स्वयं लेखक के द्वारा भोगा—जाता जीवन है। जीवन की सारी स्वतन्त्रता और व्यापकता तो उसमें होती है फिर भी वह केवल 'छाया' या 'प्रतिबिम्ब' नहीं होता वह एक नयी जीवन-परिकल्पना भी है।······इस अर्थ में कहानी, उपन्यास और नाटक का लेखक प्रजापति की कोटि का है—स्वतन्त्र जीवन रचना की दृष्टि से·····। प्रजापति की यह जीवन-रचना भले निरर्थक और एब्सर्ड हो लेकिन लेखक की रचना सार्थक और संगत होती है—कम-से-कम अपेक्षा यही की जाती है। कोई प्रजापति से 'क्यों ?' और 'किसलिए ?' पूछने नहीं जाता लेकिन लेखक को इन सवालों से खुद ही दो-चार होना पड़ता है। और उसकी रचना इन्हीं दिशाओं में एक स्वतन्त्र खोज होती है।

× × ×

'सागर, लहरें और मनुष्य' क्या एक स्वतन्त्र जीवन रचना है ? मैं कहना चाहूँगा ······नहीं······अपने सारे औपन्यासिक उपकरणों के बावजूद······नहीं। वह स्वतन्त्र जीवन रचना नहीं है। वह एक जीवन की दिलचस्प और रंगीन छाया है।··· फिल्म रील है। वह एक जीवन यात्रा का इतिहास है···स्वयं जीवन-यात्रा नहीं। वहाँ लेखक प्रजापति की तरह नहीं, एक इतिहास लेखक की तरह मौजूद है (अधिक-से-अधिक वह एक रचनात्मक-इतिहास-लेखन है)—चरित्रों और घटनाओं को एक खास ढंग से उभारने, उन्हें खास रंग और कोण देने के लिए; और यह हस्तक्षेप इतना प्रबल है कि स्थितियों और व्यक्तियों का अपना स्वतन्त्र-अस्तित्व, सत्ता और जीवन रह ही नहीं गया है। एक खास तर्ज और काट के गढ़े-गढ़ाए साँचे में सीमित और बँधे और उनकी यात्रा का बना बनाया प्लान······! ब्लू प्रिन्ट-नक्शा बनाया, नींव खोदी और इनी खम्भे गाड़कर स्लैब डाला या उभरे छाए और इमारत खड़ी हो गयी······! मगर इसका मतलब यह नहीं कि यह कोई गुनाह है, दरअसल यह उसकी प्रकृति है और प्रकृति के लिहाज से यह हिन्दी के और भी कई उपन्यासों से पृथक् नहीं है······उसी परम्परा में है। उपन्यास की कोई नयी जमीन उसने नहीं तोड़ी।

कोई कृति आंचलिक या नागरिक क्यों और कैसे होती है ? क्या क्षेत्रीय सीमा, किसी कृति की विशेषता हो सकती है ? 'सागर, लहरें और मनुष्य' कहाँ आंचलिक है ?·········मुझे लगता है कि एक क्षेत्र विशेष का वातावरण, उसकी लोक-रंगी भाषा और उसके पात्रों का उल्लेख-चित्रण ही किसी कृति को आंचलिक नहीं बना देता···। अंचल का चुनाव, सुविधा के लिए नहीं होता · जब तक उसमें अनिवार्यता का एहसास न हो अंचल सार्थक नहीं होता···। प्रश्न है कि कृति की निहित-मनोभावना और मूल आशय कहें कि उसकी समग्र अनुभूति के सम्प्रेषण के लिए क्या अंचल विशेष जरूरी था ? 'सागर, लहरें और मनुष्य' के पात्रों की सहयात्रा करके देखें·· रत्ना की पूरी यात्रा और उसकी मंजिल क्या है ? अपने जीवन से असन्तुष्ट और अपने परिवेश से निकल कर, उसकी रूढ़ियों से मुक्ति की आकांक्षा, एक वैयक्तिक विद्रोह दो संस्कारों और जीवन-पद्धतियों का द्वन्द्व और उसमें बँटा हुआ उसका व्यक्तित्व—याने रत्ना की पूरी मानसिकता के लिए यह क्षेत्रीयता क्या अनिवार्य थी ? क्या रत्ना किसी भी परम्परागत और रूढ़िग्रस्त संस्कारों वाले मध्यमवर्गीय परिवार की किसी भी औरत से विशेष और भिन्न है ? कोई क्षेत्रीय विशेषता लिए हुए है ? क्या उसकी मानसिकता क्षेत्रीय है ?···यशवन्त, माणिक वर्लीकर कहाँ क्षेत्रीय हैं ? यशवन्त की सम्भावना किसी भी शहरी पात्र से कहाँ अलग है ? माणिक और वर्लीकर का सारा चरित्र किन अर्थों में क्षेत्रीय, या आंचलिक है ?·· तब फिर इनकी क्षेत्रीयता या आंचलिकता क्या केवल 'लोकेशन' की सुविधा नहीं है ?···हाँ, विट्ठल, जागला, वशी हैं नाना हीरा है और माँगा गूँगी है, दुर्गा है, बाडला—सोमा है, जो अधिक क्षेत्रीय हैं, जिनकी मानसिकता आंचलिक है। बरसोवा, उसकी रातें, मछुआरों की जिन्दगी, उनके तीज-त्यौहार और उत्सव-नाच आदि हैं।···याने उपन्यास का लगभग दो तिहाई, एक विशेष परिवेश को लेकर चलता है और इसी सीमित अर्थ में वह आंचलिक कहा जा सके तो कहा जाए अन्यथा उसका मूल कथ्य और आशय तो कहीं भी उसे आंचलिकता की सीमा में नहीं बाँधता। यह परिवेश भी अपनी पूरी सजीवता में नहीं उभरता क्योंकि वहाँ निरीक्षण का समारोह भले हो, उस जीवन से तादात्म्य—अनुभूति और उसकी समग्र अभिव्यक्ति की गुँजाइश उसमें नहीं है। लेखक के पास कुछ प्रवासकालीन 'नोट्स' हैं, कुछ निरीक्षणात्मक विवरण और उन्हीं को उलट-पलट कर उसने उस जीवन को अपनी कूँची और रंगों से उभारने की कोशिश की है। दो गीत, एक उत्सव और मछली मारने और बेचने के कुछ चित्र बम्बईया-गुजराती-मराठी-हिन्दी-मिश्रित-भाषा की पूँजी पर ही क्या इसे आंचलिक कृति कहा जा सकता है ? इसमें आंचलिक पात्र व परिवेश पूरे उपन्यास के लिए एक अच्छी नींव या बाग्ड्राप्टिंग पृष्ठभूमि अथवा उम्दा कैनवास का काम करते हैं लेकिन क्या कैनवास ही समग्र चित्र होता है ? अंचल, जब परिवेश से हट-उठकर पूरी अनुभूति और उसके सम्प्रेषण के लिए अनिवार्य विवशता के रूप में गृहीत होता है तभी कृति आंचलिक कहला सकती है जैसे रेणु का 'मैला आंचल' या 'परती-परिकथा'।

दरअसल 'सागर, लहरें और मनुष्य' दो परिवेशों की, दो जीवन संस्कारों की पारस्परिक असंगति और उससे उपजे अन्तर्विरोध और अन्तर्द्वन्द्व की, संक्रांति की कहानी कहना चाहता है और शेष भी रहती है—वही असंगति और संक्रान्ति ! इस प्रसंग में संतुलन की कामना लेखक की रही अवश्य है पर संतुलन वहाँ रह नहीं पाया है। बोध और संवेदना के धरातल पर जिस परिवर्तन और व्यक्तित्व-रूपान्तरण की कोशिश लेखक ने की है, वह बरसोवा और बम्बई—ग्राम्य और नागरी जीवन—के बीच तनावों को व्यवस्थित करने के उपक्रम में खर्च हो गयी है। परिणाम हुआ है कि दोनों में से किसी के साथ न्याय नहीं हो पाया है ? कथात्मक और चारित्रिक दोनों धरातलों पर रह-रह कर कभी बरसोवा और कभी बम्बई की ओर आकर्षण बढ़ता है और अवसान और परिणति में नागरी-बम्बइया-जीवन शेष रह जाता है।

इसका प्रभाव कथानक और चरित्र-सृष्टि पर भी ज्यों का त्यों चला आता है, या यह प्रभाव स्वयं इनकी निष्पत्ति है। क्या उपन्यास की कोई केन्द्रीय कथा है ? यदि है, तो अवान्तर कथाओं की निष्पत्तियों से क्या वह जुड़ी है ? यदि केन्द्रीय कथा को स्वीकार करके चलते हैं, तो इतनी अधिक प्रासंगिक कथाओं की क्या सार्थकता और उपयोगिता है ? यदि इनकी आन्तरिक सत्ता सापेक्षिक नहीं है, तब क्या एक क्षीण से सूत्र के सहारे, संबधों-संयोगों की उँगली पकड़ कर स्वतंत्र कथाओं के पूरे सम्भार को उपन्यास कहा जा सकता है ? यह बिखराव क्या केवल कहानियाँ कहने और उपन्यास को रोचक बनाने का *उपक्रम नहीं है ?···बिल्कुल यही स्थिति चरित्र-*संयोजन की भी है। जीवन में, गौर करें, तो एक व्यक्ति सापेक्षिकता में ही उभरता है, लेकिन यहाँ रत्ना-सारिका, माणिक-यशवन्त ही नहीं, बल्कि मोगा-शृंगी से लेकर विट्ठल-वंशी तक सभी अपने ही गोलकों, केन्द्रों, परिधियों में घूमते से हैं। जरा देर को संयोग के झटकों से वे एक-दूसरे के पास आते हैं, लेकिन फिर अलग-अलग बिखर जाते हैं।···याने बिखराव और असंतुलन हर स्तर पर है। कथाएँ-चरित्र सब अपने-अपने बिन्दु पर टूट-बिखर जाते है—एक दूसरे से असम्पृक्त और असम्बद्ध ! एक ही परिवेश, एक ही जीवन को जीते हुए यह अलग-अलग टूटना, यह अंतर्विरोध और अन्तर्द्वन्द्व कहीं किसी स्तर पर सायास और सार्थक योजना तो नहीं है ?···एक *बहुत आमख़ क और सायास शिल्प का रूप···जिसमें से संवेदना और बोध, कथा* और 'टेक्सचर' के समानान्तर चलें, या उनसे ही उद्भूत हो ?

गौर करें, तो यह स्थिति, जो एक अन्तर्विरोध और अन्तर्द्वन्द्व, असमंजस और संक्रान्ति की है, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया है। बरसोवा से बम्बई—ग्राम्य जीवन से नागरी—की ओर यह संतरण-असंगति उस आधुनिकीकरण की पीड़ा और असंतुलन को भी ध्वनित करती है। उस 'शिफ्ट' और 'रूपान्तरण' को जो हर 'ग्राम्य' और 'ग्राम' की नियति है, जो रत्ना और उसकी पूरी चारित्रिक संश्लिष्टि; यशवन्त, माणिक और पूरे बरसोवा की भी नियति है। मैं समझता हूँ, अनुभव के धरातल पर, कृति में से गुजरने पर 'सागर, लहरें और मनुष्य' की मूल आत्मा यही मिलेगी।

उसकी जीवन्त धड़कन यही बसती है, उनकी सार्थकता का बिन्दु भी यही है।

इस बिन्दु को और भी स्पष्ट करने की जरूरत शायद है।……रत्ना के चरित्र के उतार-चढ़ाव, अपने परिवार-परिवेश से उसका असन्तोष, उसका नागरी-आकर्षण में बंध कर संक्रान्ति के प्रखर बिन्दु पर लटके रहना या पेंडुलम की तरह घूमना (वह न तो पूरी तरह अपने परिवेश की हो हो पाती और न नए परिवेश को अपना पाती—यशवन्त के प्रति मोहासक्त लेकिन माणिक के ऊपरी आकर्षण से निरर्थक भटकाव का वरण—दोनों सिरों के बीच उसका छिछला संतरण) और अन्त में दूसरे बिन्दु पर समर्पण, माणिक का ग्राम्य-संस्कारों से भाग कर नागरी-जीवन के उथले स्तर पर ही जीवन को तोलने की कोशिश, यशवन्त का प्रेम की असफलता के बाद वरसोवा को भी आधुनिक बनाने का गांधीवादी-आदर्शवादी अभियान (जो उधर के अधकचरे ग्राम-सुधारी नेताओं की याद दिलाता है) जो न तो ग्राम्यात्मा और न ही नागरी जीवन के केन्द्रीय स्वरों को पहचान पाता है; उसके प्रति वरसोवा के ग्राम्यत्व का शंका, प्रसन्नता और कौतूहल-मिश्रित 'एटीट्यूड' जो अपने पुरातन या यथास्थिति से चिपका रहना भी चाहता है और दूसरी ओर नागरी-आकर्षण के प्रति ललचाई नजरों से देखता भी है।……यही टूटने की प्रक्रिया है, और 'सागर, लहरें और मनुष्य' वरसोवा के टूटने की, उसके और बम्बई के बीच जो क्षीण सी विभाजक रेखा दिखती है उसे पार कर बम्बई में मिल जाने, पर पूरी तरह न मिल पाने की कहानी है। शायद इसीलिए ग्राम्य और नागरी जीवन के बीच की सीमान्त रेखा पर उसका 'लोकेशन' है। आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया को झेलते हुए एक सन्तुलन बनाए रखना आसान नहीं है, एक अर्से तक इस प्रक्रिया में 'रत्ना' और 'माणिक' ही जन्म लेते हैं, जो इस संतुलन को खो देते हैं और व्यवस्थित होने की अपनी कोशिश में अन्ततः आत्मसमर्पण कर देते हैं।

इस बिन्दु से देखें तो 'सागर, लहरें और मनुष्य' सम्भावनाओं का द्वार खोलने वाला ही नहीं, ऐतिहासिक-संदर्भ में एक नयी उपलब्धि भी लग सकता है। यह आधुनिकीकरण का औपन्यासिक दस्तावेज है।

सिद्धियों में भटकता मध्ययुग[1]

विश्वनाथ गौड़

पुराने खड़हरो, जनश्रुतियों किम्वदन्तियो और लेखबद्ध वाङ्मय की विविध वीथियो मे उपन्यस्त प्रसर-पक्तियो के रोचक और विस्मयकारी सन्दर्भो मे सोए हुए अतीत जीवन को प्रत्यक्ष करना एक विशिष्ट कारयित्री प्रतिभा की ही सामर्थ्य है। घटनाओ के सतत परिवर्तमान चक्र अतीत के दुर्भेद्य गर्भ मे समाते चले जाते हैं और वहाँ इतिहास की निधि बनते चले जाते हैं। स्थूल और पुस्तकीय इतिहास इन स्थूल घटनाओ को भौतिक प्रमाणो की रज्जुओ मे बाँध कर उद्धृत करता है। घटनाओ और उनसे सम्बद्ध विशिष्ट व्यक्तियो की नामावलि और जीवन-वृत्त का विवरण इस प्रकार कालक्रम से सजाया जाकर इतिहास-प्रणेताओ के कर्तव्य को परिपूर्ण कर देता है। पर साहित्यकार की विशद-दर्शी अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मेक्षिका और प्रतिभा का अजन आँज कर खडहर आदि प्रमाण-तत्वो मे अन्तर्निहित जीवन के वास्तविक रूप को देख लेती है। तब इतिहास और साहित्य का मणि-काचन योग घटित हो जाता है। आचार्य प० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'चारुचन्द्र लेख' इसी प्रकार की एक ऐतिहासिक कथाकृति है। इसमे लेखक ने भारत के मध्यकालीन राजनैतिक और सामाजिक जीवन का विशद दर्शन सिद्धो और नाथो की तान्त्रिक और यौगिक रहस्यमयी मन्त्रसाधना के परिप्रेक्ष्य मे किया है।

कृति को पढने का अवसर मिला। कथा और उसका विषय मुझे रुचिकर लगा। शिक्षा दीक्षा और संस्कारो के कारण साधनाक्षेत्र की ओर झाँकने-देखने और वहाँ के रहस्यों मे कौतुकमयी जिज्ञासावृत्ति को रमाने के अवसर आते रहे हैं। शिक्षा-क्षेत्र की वर्तमान उपाधियों से अपनी आस्था के छोटे से आयाम को विस्तार देने का लालच औरो की तरह मेरे मन मे भी जो छिपा बैठा रहा है और यदाकदा मुझे तदर्थ सक्रिय भी करता रहा है। उसके सन्दर्भ मे भी मुझे ऐसी ही वीथियों मे चलने का अवसर मिला है जहाँ साधना-जगत् मे चित्तवृत्ति रमी और अनुरजित भी हुई। जब किसी रचना को पढ़ कर उत्कृष्ट कोटि का साहित्यानन्द प्राप्त होता है तो

---

१. चारुचन्द्र लेख : हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्यों ने उसे ही रस-दशा कहा है, आचार्यों ने रस के आस्वाद को मानसिक दशा का वर्णन अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा किया है और उसके अनुभूति-प्रकार की कुछ बातें कह कर उस अनिर्वाच्य स्वरूप को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। आचार्यों ने परिष्कृत धरातल पर खड़े होकर सुरुचिपूर्ण और सुसंस्कृत रूप में जो बातें बताई हैं उनसे साहित्यशास्त्र की पुस्तकों के पृष्ठ के पृष्ठ भरे हुए हैं। पर एक अनुभूति इन सभी शास्त्रोक्त बातों से अलग है। वह यह है कि भाव-वाङ्मय से उत्पन्न आनन्दातिरेक की दशा में शतधा उल्लसित, द्रवित, क्षरित और स्रवित होने वाली चित्त-वृत्ति लेखक के प्रत्यक्ष सान्निध्य के लिए प्रबल रूप में उत्कंठित हो जाती है। कितने ही अर्वाचीन प्राचीन साहित्यकारों से मिलने के लिए हम लालायित होते रहते हैं। 'चारुचन्द्र लेख' के लेखक को लेकर मुझे भी कुछ इसी प्रकार की अनुभूति हुई और कभी लेखक से भेंट के स्वप्न मेरे मन में जमने लगे।

देश-दर्शन का मुझे शौक है, शीघ्र कुछ कार्य के प्रसंग से यात्रा का बानक बन गया। मैं अपने गन्तव्य से थोड़ा छिटक कर आचार्य जी के दर्शन करने उनके निवास-स्थान पर पहुँच गया। आचार्य जी ने अपने सहज सौजन्य का परिचय देते हुए समुचित स्वागत सत्कार किया। परिचय और कुशल के अनन्तर 'चारुचन्द्र लेख' वार्ता का विषय बन गया। प्रश्नोत्तर होते रहे। आचार्य जी अपनी सहज प्रसन्न और सौम्य मुद्रा में उत्तर देते रहे। साक्षात्कार के अन्त में प्रश्नोत्तरों को लिपिबद्ध कर देने की प्रेरणा भी हुई, उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

प्रश्न—आचार्य जी, मुझे प्रसन्नता हो रही है कि आपने हिन्दी के कथा-साहित्य को एक अपने ढंग की नवीन कृति दी है, इसके लिए मैं आपका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि इस रचना की प्रेरणा आपको किस प्रकार मिली?

उत्तर—(आचार्य जी ने शालीनता से संकोच का अनुभव करते हुए अभिनन्दन की स्वीकृति मुख-मुद्रा से प्रकट की और हँसते हुए बोले) फलों का आस्वादन लेना ही ठीक है, वृक्षावलि की गणना से क्या लाभ! (फिर सम्हलते हुए कहने लगे—मानो उपर्युक्त उत्तर से उन्हें स्वयं सन्तोष न हुआ हो अथवा मानो यह उत्तर उन्हें अपनी विद्वता, वाग्मिता और प्रत्युत्पन्न प्रतिभा के अनुरूप न लगा हो—बोले—)

मेरे सक्रिय जीवन का आरम्भिक भाग शान्ति-निकेतन में व्यतीत हुआ। वाग्देवी की कृपा से देव-वाणी में यत्किंचित् गति हुई। शान्ति-निकेतन में गुरुदेव के सान्निध्य से आध्यात्मिक जगत् की प्रकाशित रेखाएँ मिलीं। आचार्य क्षितिमोहन सेन जैसे भारतीय साधना के विश्रुत विद्वान् की प्रेरणा से साधना की प्रक्रिया और साहित्य की ओर मेरी प्रवृत्ति हुई। लिखने की रुचि मन में थी ही। लिखने के प्रयास से अधीत विषय मन में पक्का जम

जाता है। आप तो जानते ही हैं कि "निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलुवाचिकम्।"

मैं—'जी, जी, अवितथमाह भवान्।' तो कबीर का अध्ययन और तत्प्रसूतग्रन्थ इसी सम्पर्क का सत्फल है।

आचार्य जी—हां…हां, इस मान्यता से मुझे कोई विप्रतिपत्ति नहीं।

मैं—और… चारुचन्द्र लेख! इसमें आपने सिद्ध योगिनी चन्द्रलेखा के व्यक्तित्व का उद्धार और प्रकाशन बड़ा ही सुन्दर किया है। इससे साधनाक्षेत्र की एक विशिष्ट विभूति सामने आई है। यह तो विस्मृति और अज्ञान की कुहेलिका से आच्छन्न रही है। इसके सम्बन्ध में भी कुछ कहने की कृपा करें।

आचार्य जी—कहना क्या है, पुस्तक में स्पष्ट तो है ही। फिर भी वस्तुतः चन्द्रलेखा के व्यक्तित्व की गरिमा ने मेरी कल्पना को मुखर कर दिया। तान्त्रिकों और सिद्धों के बीच प्रचलित जनश्रुतियों और किम्वदन्तियों को मैंने परखा। पुराने ग्रन्थों जैसे प्रबन्ध चिन्तामणि में मुझे और सामग्री मिली। इन बातों ने मेरे मन में एक विचित्र आकुलकारी कौतूहल की सृष्टि की। मैं सोचता ही रहा। पर जैसे सिद्ध योगिनी स्वयं अपना आविष्कार चाहती हों—मुझे अघोरनाथ नामक औघड़ साधु से आगे की सामग्री प्राप्त हो गई। साथ ही श्री प० व्योमकेश शास्त्री का प्रोत्साहन। बस क्या था। गाड़ी आगे चल पड़ी।

मैं—जी हां, आपकी कारयित्री प्रतिभा का निदर्शन आपकी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और अनेक मौलिक तथा व्यक्ति-निष्ठ निबन्धों में देख ही चुके हैं। आपकी रचना-चातुरी को कथा के ताने बाने बुनने में देर नहीं लगी, साधु!! पर हां, आचार्य जी, क्षमा कीजिएगा, जनश्रुतियां और फिर प्रबन्ध चिन्तामणि के सन्दर्भ! और फिर चन्द्रगुप्त के पृष्ठभाग पर उट्टंकित और अघोरनाथ द्वारा उद्धृत लेख!!! और इनके आधार पर कल्पित ऐतिहासिक उपन्यास!!! कथा का विवरण महाराज सातवाहन के मुख से। पर इस सामग्री का प्रामाण्य ऐतिहासिक दृष्टि से कहां तक मान्य हो सकता है? फिर महाराज सातवाहन कोई इतिहास-सिद्ध सत्ता नहीं। इन सब शंकाओं का क्या समाधान है?

आचार्य जी—देखिए, एक तो स्थूल भौतिक इतिहास का भारतीय परम्परा में कोई विशेष महत्व नहीं रहा है। दूसरे, हमारे देश का तथा कथित वर्तमान इतिहास विशेष दृष्टि से निर्मित किया गया है। ये आधुनिक इतिहासकार तो विक्रम सम्वत् के प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य की सत्ता का ही अपलाप करते हैं। फिर आप भली प्रकार जानते ही हैं कि इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त वास्तविक सत्य कुछ नहीं होता है। कथा साहित्य की स्थिति

इससे ठीक विपरीत है। चन्द्रलेखा के वृत्त की आधारभूत सामग्री का प्रामाण्य सांस्कृतिक दृष्टि से अक्षुण्ण है। फिर आपने देखा ही होगा कि कथानक के प्रपंच मे विशाल तान्त्रिक साहित्य का उपयोग पदे-पदे हुआ है। महाराज सातवाहन के राजपुरोहित, आप जानते हैं, शास्त्रों का उद्धरण दिए बिना साधारण सी बात भी नहीं कहते। पाद-टिप्पणियों का परिशिष्ट, जिसमे तन्त्र-वाङ्मय के अनेक प्रमुख ग्रन्थ सद्ब्ध हैं, इसी प्रामाण्य का उद्घोष करता है। इसका सीधा अभिप्राय यही है कि कथा की रचना-प्रक्रिया का विकास इन ग्रन्थो आधार पर ही हुआ है। और भी···

मैं—(बीच मे ही टोक कर) क्षमा करें, अघोरनाथ के व्यक्तित्व में मुझे प्रच्छन्न भाव मे आप ही का दर्शन हो रहा है। शिल्प-विधान की दक्षता को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए इस प्रकार की योजनाएँ प्राय. कर ली जाती हैं। और भी, कथा सूत्रों का समर्थन करने वाले, उसके कथा-बन्ध को प्रोत्साहन देने वाले और पाद-टिप्पणियो के सकेत देने वाले श्री प० व्योमकेश शास्त्री से भी लेखक का अपृथग्भूत अद्वैत सम्बन्ध है। वस्तुत. शास्त्री जी के द्वारा कथानक की कथाबन्धोचित उपयुक्तता का स्पष्ट सकेत किया गया है। साथ ही कथा के कतिपय रहस्यमूत तत्वो की वैज्ञानिक व्याख्या ऐसी योग्यता से प्रतिपादित की गई है कि जो बौद्धिक जगत् को मान्य हो सकती है।

आचार्य जी मुस्कराते हुए बोले—

यदि आप ऐसा मानते हैं तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

मैं—और भी देखिये, *कुशल कथा-शिल्पन्। उपसंहार मे आपने अथवा शास्त्री जी ने लिखा है कि कथा के भिन्न-भिन्न अंशो की अन्योन्यासाकाक्ष अन्विति और* सगति के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर "अघोरनाथ बहुत असन्तुष्ट हो गए थे और ज्ञानी के लहजे में बोल उठे थे कि पत्थर पर खुदी हुई बात ही सत्य नही होती, समाधिस्थ चित्त मे प्रतिफलित बातें भी इतनी ही सत्य होती हैं।" इसके आगे का वाक्य, जो कि इस प्रकार है—"इसका मतलब यह हुआ कि कुछ बातें उनके समाधिस्थ चित्त मे भी प्रतिफलित हुई थीं।" प्रकट कर रहा है कि आपने उनकी इस बात को स्वीकार करते हुए प्रामाण्य माना है। हा, तो कथाओं के इस प्रतिफलन से मुझे कोई आपत्ति नही वस्तुनिष्ठ, स्थूलस्पृक् मौलिकवादियो को हो तो हो। परन्तु मैं तो इसे इस प्रकार लेता हूँ कि यह जो समाधिस्थ चित्त मे होने वाला प्रतिफलन है यह योगियों की पारिभाषिक वचन भगिमा है, कवि भी यही करता है इतिहास से उपलब्ध रिक्त रेखा चित्रों को तदनुरूप वर्णों की गरिमा से भर कर एक सप्राण, जीवन्त चित्र प्रस्तुत करता है। योगियों का प्रतिफलन कवियो की भाषा में उनका कल्पना-व्यापार है। जो कि कारयित्री प्रतिभा का ही नामान्तर है। अतः इसका

अर्थ यह हुआ कि कथानक के अनेक अंश ऐसे हैं जिनकी कल्पना आपने की है। क्यों न? पर, हाँ साथ ही यह भी है कि ऐसे कल्पना-प्रसूत अंश इतने वास्तविक और सुकल्पित हैं कि तत्कालीन वातावरण से तद्रूप होकर शेष तथाभूत ऐतिहासिक तथ्यों के साथ अविभाज्य होकर घुलमिल गए हैं। इसी शिल्प-कौशल की ओर नीचे का वाक्य स्पष्ट संकेत कर रहा है :—
"अघोरनाथ के लिए भी यह असम्भव ही जान पड़ता है कि इसमें से तथ्य और कल्पना को अलग-अलग करके दिखा दें।"

आचार्य जी—इंगितों से सहमति की व्यंजना करते हुए आचार्य जी ने कहा कि उपन्यासकार को इस प्रकार की कल्पना करने का औचित्यपूर्ण अधिकार है। मैंने भी अपने को सहज अधिकार के प्रयोग से वंचित नहीं किया।

मैं—जी, अधिकारों का परित्याग कथमपि विधेय नहीं। और मैं तो यह देख रहा हूँ कि पूरी कथावस्तु की योजना इस सुन्दरता से हुई है कि उसने एक अच्छे उपन्यास की सृष्टि की है। औपन्यासिक औत्सुक्य पर्याप्त मात्रा में है। कथा के विकसित होते हुए सूत्रों के साथ पाठक के रागतत्व का सामञ्जस्य अविच्छिन्न रूप से घटित होता रहता है। कथानक का नैराश्यपूर्ण दुखद और असफल अन्त रस परिपाक की दृष्टि से बड़ा मार्मिक है। और साथ ही अन्तिम दृश्य में सातवाहन, चन्द्रलेखा, बोधा मैना आदि प्रमुख पात्रों के व्यक्तिगत जीवन का जो असफल और नैराश्यजनक पर्यवसान दिखाया गया है वह भी बड़ा व्यंजक है। और यह प्रकट करता है, कि किस प्रकार मध्ययुगीन तान्त्रिक आन्दोलन व्यक्ति, समाज और देश उत्कर्ष प्रदान करने की अपनी मुग्ध कल्पनाओं और विवेकहीन प्रतिभाओं में असफल रहा है। आचार्य जी, आपका क्या मत है, कदाचित् मेरी यह धारणा अन्यथा हो।

आचार्य जी—मुझे सन्तोष और प्रसन्नता है कि आपको मेरी इस कृति में ये सब तत्व अधिगत हो रहे हैं। यदि वस्तुतः यह कृति साहित्य-मर्मज्ञों को आकृष्ट और अनुरक्त कर सकी है तो मेरा परिश्रम सफल है। कालिदास ने कहा भी है :—

"आ परितोषाद् विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग विज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥"

एक बात आपके विचार-मार्ग में चाहे और भी आई हो कि हिन्दी में 'मैं' शैली पर चलने वाले कथानकों का प्रचलन बहुत कम है। वस्तुतः यह उत्तम पुरुष एक वचन का प्रचलन पाश्चात्य है। भारतीय परम्परा से इसका सम्बन्ध नहीं है।

मैं—ऐसा क्यों, आचार्य प्रवर?

आचार्य जी—कारण की खोज में दूर जाना नहीं होगा। हमारे देश में प्रचलित समष्टिवादी दर्शनों के प्रभाव से हमारी दृष्टि 'अहम्' का प्रत्याख्यान करती

रही है। लोग अपने को उत्तम-पुरुष मे न बोल कर प्रथम पुरुष : हिन्दी में अन्य पुरुष मे 'अय जनः' मे कहते रहे हैं। इसी कारण साहित्य मे भी 'मैं' शैली का आगम नही हुआ। बाणभट्ट ने अपनी प्रसिद्ध कृति हर्षचरित में आत्मकथा का अंश भी इस शैली मे न कह कर अन्य पुरुष के रूप मे ही कहा है। पर इधर नवीन प्रभावो से हिन्दी मे भी नवीन शैलियो का पदार्पण हुआ है। हमे नए का स्वागत करना चाहिए। यह 'मैं' शैली भी ऐसी ही है। दूसरी एक दैनन्दिनी की विधा भी है। उसका रूप भी आपको इसमे मिला होगा।

मैं—जी, आपका यह कथन तो यथार्थ है। पर, हाँ, आचार्य जी, आपने बाणभट्ट का नाम लेकर मेरी विवक्षा को विषयान्तर दे दिया है। सचमुच बाणभट्ट आपके बड़े ही अभिमत और प्रिय लेखक जान-पड़ते हैं। क्या आपके शिल्प के आचार्य और आदर्श बाणभट्ट हैं ?

आचार्य जी—आप जानते है कि मैं प्रधान रूप से संस्कृत साहित्य का विद्यार्थी रहा हूँ। गद्य के माध्यम से काव्य प्रणयन करने वालो मे मैं बाण को मूर्धन्य स्थान देता हूँ। वे कवि-कल्पना के असम निधिपति थे। उनका अनुगत होना तो एक बड़े गौरव की बात है। परन्तु आप ऐसा क्यों समझते हैं ?

मैं—चारुचन्द्रलेख मे जिस भाषा और शैली का प्रयोग किया गया है वह हिन्दी मे अन्यत्र देखने मे नही आती। हिन्दी के भारतेन्दुकालीन लेखको में से दो एक लेखक इस प्रकार की शैली का उपयोग करते रहे हैं। स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट का लेख 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ' 'नैषधीय चरितम्' के चतुर्थ सर्ग पर आधारित होने के कारण ऐसा ही बन पड़ा है। स्व० पं० अम्बिकादत्त व्यास भी इसी शैली के कृती और समर्थ साहित्यकार थे। फिर स्व० पं० चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियो मे इसी प्रकार की अलकृत और तत्सम-पद-भरिता शैली दिखाई देती है। फिर तो बाणभट्ट की 'आत्मकथा' में ही इस शैली का पुनर्दर्शन हुआ है। इसी प्रकार इसमें भी संस्कृत के तत्सम शब्दो की सुप्रयुक्त छटा देखने को मिली है। कही-कही तो सस्कृत के ऐसे शब्द भी आ गए हैं जिनका प्रयोग हिन्दी मे प्रायः नही दिखाई देता। हिन्दी के सामान्य पाठक को उनमे अटकना और फिर कोशो में भटकना पड़ सकता है। सबसे बडी बात तो यह है कि किसी वर्णनीय विषय के—बल्कि ऐसे विषयो के वर्णन मे जो आपको अभिमत और रुचिर लगे हैं— वर्णन बार-बार भङ्ग्यन्तर से होता है। एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी कवि-कल्पनाएँ, उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि रहती हैं। अलंकरण के उपकरण संस्कृत-काव्य-परम्परा के ही हैं। प्रायः सौन्दर्य के वर्णनो मे ऐसा ही हुआ है। गम्भीर और भावुक कथाओ के लिए समुचित पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए किए गये प्रकृति के रूप-व्यापार वर्णनो मे यह शैली और भी स्पष्ट

और विशद होकर सामने आई है। ऐसा लगता है कि लेखक के मन में समस्त संस्कृत साहित्य के अध्ययन से उत्पन्न संस्कार जमे हैं। संस्कृत साहित्य में सहजलभ्य उपकरणों का विशाल भंडार लेखक के ज्ञान-कोष में है। इसी कारण मुझे इसमें बाण की छाया का आभास हुआ।

आचार्य जी—आपकी विचार-सरणि को अनुपपन्न और अयौक्तिक कैसे कहा जाय! पर क्या यह शैली आपको रुचिकर नहीं लगी?

मैं—जी, ऐसा नहीं है। वस्तुतः भारतेन्दु काल से ही हिन्दी-गद्य का विकसित होता हुआ रूप अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से बदलता रहा है। आचार्य द्विवेदी से पूर्व का गद्य भारतीय रहा है। उनके बाद गद्य को नवीन परिष्कार मिला है। छायावादी युग का गद्य-और उसके बाद का भी अंग्रेजी गद्य के ढाँचे में ढला। उसने योरोपीय लाक्षणिक वैभव को ग्रहण करना शुरू किया। वर्तमान गति-विधि की दृष्टि से दिखाई देता है कि हमारे आज के गद्य ने अभिव्यक्ति की सांकेतिकता और लाक्षणिकता के नए पटल आविष्कृत किए हैं। मेरा आशय यह है, कि इन बदलते हुए गद्य-रूपों में परम्परागत विशुद्ध भारतीय गद्य-शैली का आकर्षक सन्निवेश चारुचन्द्रलेख में है। इसमें जो भव्यता, विशदता, गरिमा और महिमा है उसे देखकर उल्लास होता है और बाणभट्ट के गद्य-बन्ध का स्मरण स्वयं हो आता है।

किंबहुना —

> स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
> रचिता पृथगर्थता गिरा न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥

आचार्य जी—"अलमुपचारेण।" पर यह तो बताइये कि इसकी विषय-वस्तु को लेकर आपमें क्या प्रतिक्रिया हुई?

मैं—आचार्य जी के इस सामयिक प्रश्न से जैसे सम्हलता हुआ और गम्भीरता का अभिनय करता हुआ मैं बोला—"आचार्य जी, मैं तो स्वयं ही अब इस विषय पर आने वाला था। रुचि की दृष्टि से मुझे इस कथा की विषय-वस्तु बड़ी अनुकूल और रोचक लगी। इसने वज्रयानी बौद्धों, तान्त्रिकों, कापालिकों, सिद्धों और नाथों की रहस्यमयी दुनिया में ही जैसे पहुँचा दिया हो। विषय मेरी रुचि का है और साथ ही मेरे अध्ययन का लक्ष्य भी। दशम् शतक के बाद का भारत का चित्र—राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक—इसमें खूब वैशद्य के साथ उभरा है। इस विशाल चित्र की महती पृष्ठभूमि में तान्त्रिक जगत् है। मध्ययुग में हमारे देश में सिद्धों और तान्त्रिकों की माया कितनी भारी आटोप के साथ फैली। लोग भारतीय थोथी सिद्धियों के पीछे किस तरह पागल हो रहे थे; समाज में कैसा विघटन प्रारम्भ हो गया था, ऐसी अव्यवस्थित दशा में किस तरह हम पराजित और पराधीन होते जा रहे थे इसका मार्मिक दर्शन चारुचन्द्रलेख में मिलता है।"

इस स्थिति पर पहुँचते-पहुँचते आचार्य जी विषय की गहराइयों में जैसे खो गए हों और तल्लीन भाव से वाग्धारा पर अधिकार करते हुए कहते लगे—

आचार्य जी—आप देखें कि अपने देश में मध्ययुग में तन्त्रों और आगमों का विकास किस द्रुतगति से और कितने रूपों में हुआ है। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ने बौद्धों को उच्छिन्न किया। उन्हें राजाश्रय देने वाली केन्द्रीय सुदृष्टि और विशाल राज-सत्ता, जिसके प्रतिष्ठापक सम्राट् हर्षवर्धन थे, विच्छिन्न हो चुकी थी। बौद्धों में तब तक अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ चुकी थीं। उनमें अनेक यान बन चुके थे। शंकराचार्य से परास्त होकर वे देश के बाहर चारों ओर छिटक गए। हिमालय को पार करके वे भोट और तिब्बत में चले गए। पराजय की चोट खाकर बहुत से बौद्धों ने विदेशी लुटेरों और आक्रमणकारियों से दुरभिसन्धि की। और आज हमारे वर्तमान बिहार प्रान्त में इनके संघारामों और विहारों में साधक जीवन के विडम्बनामय भद्दे विद्रूप चल पड़े थे। समाज पर इन सब का बड़ा अशुभ प्रभाव पड़ रहा था। फिर वज्रयानी साधु तो तान्त्रिकों और कापालिकों के साथ पारस्परिक आदान-प्रदान की दृष्टि से घुलने मिलने लगे थे। पितृ-काननवासी औघड़ों और बीभत्स कापालिकों के वर्धिष्णु अनुयायी दलों में सगठित हो रहे थे। सिद्धि के लिए उन्मत्त विक्षिप्त वामाचारी सिद्धों का प्रकाड-ताडव वृद्धि पर था। आचरण की शुद्धता पर बल देने वाले निरंजनवादी नाथ भी हठयोग, मन्त्र: साधना और तान्त्रिक सिद्धियों के पीछे लगे हुए थे। इनकी चमत्कार साधना से आकृष्ट होकर नेमिनाथी और पार्श्वनाथी जैन सम्प्रदाय भी इनमें आ गए थे। भगवान् शिव के बैजिक तेज पारद और भगवती आदि शक्ति के मौलिक तत्त्व अभ्रक के सयोग से रस-सिद्धि करके अखिल विश्व को जरा-मरण से निर्मुक्त करने के महनीय आदर्श का स्वप्न देखने वाले रसेश्वरों की दुनिया अलग बस रही थी। धुंडक साधु अपने पाशुपत मत को तिरस्करिणी लगाकर मनमाने स्वेच्छाचार का आचरण करके सचमुच पशु बने जा रहे थे।"

आचार्य जी की इस नीरन्ध्र, वाग्धारा में क्षणिक विराम आया कि मैं अनायास ही बोल उठा……

मैं—और फिर बौद्धों और तान्त्रिकों के मिश्रित रूपवाले कापालिक प्राय बीभत्स *साधना-सम्प्रदाय भोट, तिब्बत और मंगोलिया तक फैल गए जिनकी रहस्य-*मयी भयंकर साधना के रोमाञ्चकारी दृश्य सोदीमोला ने उपस्थित किए हैं। उत्तर भारत में प्रायः सर्वत्र नास्तिक विचार-भूमि पर पनपने वाले उग्रवादी सम्प्रदायों का साम्राज्य सा छा गया था। तान्त्रिकों की ग्रन्थ-रचनाएँ होने लगीं। साधना-पद्धतियों का प्रणयन होने लगा। हाँ दक्षिणापथ इन बातों से अवश्य बचा रहा। वहाँ आस्तिक दर्शनों के आधार पर भक्ति और योग

साधना का विकास होता रहा। आचार्यों ने वहीं प्रकट होकर वैष्णवमतों का प्रतिपादन किया।"

इतने में आचार्य जी बोलने लगे—

आचार्य जी—आप और भी देखें कि इन तान्त्रिक सम्प्रदायों ने अपना सिद्धान्त पक्ष भी स्थापित किया। तान्त्रिकों और शाक्तों के अक्षोभ्य-भैरव को अक्षोभ्यबुद्ध के रूप में ग्रहण किया। अपरिग्रही अमिताभ के अक्षोभ्यबुद्ध रूप के साथ उन्होंने उनके उभयपार्श्व में शक्ति के नारी विग्रह प्रतिष्ठित किए। शाक्तों की आदिशक्ति को बौद्धों ने उग्रतारा अथवा नीलतारा के रूप में ग्रहण किया।

मैं—इनके वैचारिक मतवादों की सुन्दर व्याख्या बाणभट्टलेख में है। साधना में भाव-जगत् के प्राधान्य की बात अपने पूर्वाप्त संस्कारों के आधार पर उपास्य की रूप-कल्पना, चमत्कारपूर्ण रहस्यमयी वैयक्तिक अनुभूतियों का विवेचन तथा इसी प्रकार की बहुत सी अन्य बातों के स्वरूप को तर्क बहुला एवं विचिकित्सा-प्रधान, आधुनिक बुद्धि के लिए सुग्राह्य बना कर रखा गया है। इसिमदा माँ की समाधि के समीप अघोरों को मिलने वाले अग्नि-बाणों की वैज्ञानिक व्याख्या भी अत्यन्त समीचीन है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सम्पूर्ण रचना में तान्त्रिक साधना के अनेक चित्र हैं। वे सब कात्स्न्येन गृहीत होकर तत्कालीन भारत का एक शब्द-चित्र प्रस्तुत करते हैं जो कि विशद् है और गोचर-प्रत्यक्षीकरण की योग्यता से सर्वथा-उपपन्न है। परन्तु आचार्य जी, साधना के इस साटोप व्यापक विस्तार का परिणाम भी आपके श्रीमुख से ही सुनने की उत्कण्ठा हो रही है।

आचार्य जी—अपने मुख-मण्डल श्मश्रुजाल के अंतराल से द्विज पंक्ति की स्वच्छ आभा का विकिरण करते हुए बोले—"सम्यक् पृष्टोऽस्मि भवता' सामाजिक परिणाम की दृष्टि से साधना प्रपंच का प्रभाव लोक के लिए कथमपि श्रेयस्कर नहीं हुआ। इन साधनाओं में सामाजिक दृष्टि अथवा लोक-संग्रह और लोक-रंजन भी कहिए—का एकान्त अभाव है। साधकों का लक्ष्य व्यक्तिगत चेतस् था या असमष्टि-प्रवण उन्नयन था। साथ ही वे नितान्त वासित भाव में आकाश में उड़ने, पानी पर चलने, वृक्ष की शाखा पर आरूढ़ होकर त्रैलोक्य भ्रमण करने की सिद्धियों के चक्कर में रहते थे। इनकी उपलब्धियाँ कौतुक और क्रीड़ा से अधिक मूल्यवान् नहीं सिद्ध हुईं। कुछ साधक ऐसे भी थे जो केवल कल्पना में लोक-मंगल की कामना को पोषित किए हुए थे। जैसे चन्द्रलेखा के द्वारा भाव-दर्शन में देखा हुआ छिन्न मस्ता और गोरक्षनाथ का हृदय, गोरक्षनाथ माया को वश में करने की बात कहते हैं. पर वस्तुतः यह रहना असाध्य ही है। सौदीमौला की किसी यौगिक उपलब्धि से लोक-मंगल सम्पन्न नहीं होता है। नागार्जुन अथवा नागनाथ की रस-सिद्धि का उपक्रम, सारे जगत् को जरा-मरण से मुक्त करने के आपात-रमणीय कल्पनिक अभि-

निवेश बुरी तरह असफलता में पर्यवसित हो जाता है और इतना ही नहीं, चन्द्रलेखा को अपने पूर्व संकल्पित लोक-कल्याण के मार्ग से च्युत करके सिद्ध अथवा सच पूछिए तो नितान्त असिद्ध अथवा अन्यथा सिद्ध—योगिनी बनाकर उनकी मानवोचित भूमि का परिहरण करा देता है। भदन्त अमोघवज्र और अक्षोभ्य-भैरव वार्ता में तो लोक-संग्रही प्रकट होते हैं और इस एकान्त साधना को विश्वजनीन भूमि देना चाहते हैं। परन्तु सोच कर भी वे उस मार्ग से हट नहीं पाते। सामान्य जनता इन सिद्धों और उनके उग्र और वीभत्स वामाचारों से आतंकित रहती थी। साधना के लिए निरीह कुमारियों का अपहरण होता था। पंच-मकार के अन्तर्गत मुद्रा के रूप में कार्य करने के लिए स्त्रियाँ अपहृत होती थीं। घुंडक जैसे साधु-समाज सेना संकलन किया करते थे;...परन्तु लोक-त्राण के लिए नहीं अपितु समाज-विरोधी पापाचार की सिद्धि के लिए। वे 'पशु' की पारिभाषिक संज्ञा को भूल कर पारमार्थिक रूप में पशु बन रहे थे। देश पर होने वाले विदेशियों के बर्बर आक्रमणों को लोग सैन्य-बल से नहीं सिद्धि-बल से रोकने का दुराशापूर्ण दिवा-स्वप्न देखते थे। नालन्दा, जालन्धरपीठ तथा अन्यान्य स्थानों के ध्वंस इसका साक्ष्य वहन करते हैं। इस मरुभूमि में अन्त सलिला की दुरन्वेय धारा की तरह भगवती विष्णु प्रिया एवं नादीमाता के भक्ति-प्रवाह की क्षीण सी धारा दिखाई देती है। साधना के गुह्य और रहस्यपूर्ण जगत् के विकारों का उपचार इस मार्ग में मिलता है। पर इस औषध का बल विकारों के महान् सैन्यजाल में अकिंचित्कर ही सिद्ध होता है। कहाँ तक कहा जाय, एक महान् सांस्कृतिक विप्लव समन्तात् छाया हुआ था जिसमें विदेशियों को पैर जमाने का अवसर निर्बाध रूप से मिल रहा था।

मैं—हाँ, और समसामयिक राजनैतिक परिस्थिति-चक्र का वर्णन भी अत्यन्त उपपन्न है। देश में हर्षवर्धन के बाद कोई सुदृढ केंद्रीय सत्ता स्थापित नहीं हो सकी। सातवाहन का व्यक्तित्व भले ही अनैतिहासिक हो, पर वह तत्कालीन राजन्य वर्ग का प्रतिनिधि है। उसका बल, वीर्य, शौर्य पराक्रम, कल्याणाभिनिवेश जैसे कीलित है। निरर्थक भाव-धारा में बहते हुए उसने कृत्यवर्त्म का कोई सदुपन्यास नहीं किया। चन्द्रलेखा के प्रति उसकी विवेकहीन आसक्ति ने उसे स्त्रैण बना दिया था। विद्याधर भट्ट जैसे सचिव सिद्धियों के स्थान पर अयथार्थ ग्रहचक्र में दिङ्मूढ रहे। जयित्र चन्द्र का दल पंगुर महासैन्य और अपरिमेय वाजिबल, कर्पूर-प्रचय की भाँति विलीन हो गया। पृथ्वीराज चौहान, चाचा कान्ह, कदम्बवास, अशोक चल्ल आदि सभी सामन्त अपने खंड अभिमानों, मूर्खतापूर्ण मूढ़ग्रहों में फँसे रह कर संहिति से बचते रहे और देश की स्वतन्त्रता के साथ विडम्बनापूर्ण उपहास करते रहे। इस दुर्भाग्यपूर्ण मौर्य

स्खलन का दुष्परिणाम हमारे देश को आज तक भुगतना पड़ रहा है। ऐसे स्थलों में आपकी राष्ट्रीय भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है।

आचार्य जी—"यह तो ठीक है, आपने देखा होगा कि देश की राजनैतिक अधोगति का विवेचन इसमें है। वस्तुतः हमारी संस्कृति, धर्म और नीति ने सामाजिक परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्यकारी परिवर्तनों को सदा स्वीकार किया है। पर इधर मध्ययुग में आकर हमारे विचारकों ने नवीन परिस्थियों से ताल-मेल बैठाना बन्द कर दिया था। पुराना राजतन्त्र और रणनीति अब संशोधन की माँग कर रहे थे। पर संशोधन की क्षमता के अभाव में असफलता, पतन और ह्रास ही हाथ लगा।

इतना कहते-कहते आचार्य जी की राष्ट्रीय भावना और देश गौरव की मान्यता को जैसे ठेस लगी हो और उनके प्रसन्न मुख मंडल पर म्लानता की छाया परिलक्षित हुई।

मैं—जी, आचार्य जी, आपने यथातथ्य निरूपण किया। आपकी पात्र योजना और चरित्र-चित्रण यद्यपि अपने स्थान पर ठीक है, परन्तु उनमें से अधिकांश को भावात्मक साहचर्य में लाकर एक प्रकार के मानसिक कष्ट का अनुभव ही होता है, मैं कह चुका हूँ सातवाहन और रानी चन्द्रलेखा की मार्गच्युति कष्टकारक है, कैसे भावुक पात्र हैं ये ! चन्द्रलेखा जैसे सदा भावावेश अथवा रहस्यात्मक आवेश में ही रहती है, सातवाहन अपने कर्तव्य को भूल कर भावों की आसक्तिपूर्ण और अवस्तुभूत सम्पत्ति में खोया रहता है। शोचनीय स्थिति है। पर हाँ जहाँ तक कथा-शिल्प का सम्बन्ध है इन पात्रों के रूपायन में शब्द—रेखाओं का उत्कीर्णन बड़ा ही कलापूर्ण, साफल्य-युक्त, यथार्थ अथ च जीवन्त है और आपकी मनोगत कल्पना को गोचर रूप में प्रत्यक्ष कर देता है। मैना और बोधा प्रधान पाठकों के लिए सर्वस्व हैं। इन दोनों की दुनिया, मानो अलग है। मैना साक्षात् क्रिया का अवतार है। पूरे निविड़ अन्धकार में वही नितान्त सक्रिय है, सीदीमौला जैसे साधुओं की सिद्धियों का दुर्भेद्य-पटल उसे आतंकित नहीं कर पाता और फिर अपने एक वाक्य-बाण से उनके सारे अवलेप को नष्ट करके उन्हें हिमालय की जन शून्य उपत्यकाओं में निर्वासित कर देती है। वह भीतर से नारी ऊपर से पुरुष, भावना से नारी परन्तु कर्म से पुरुष है, यह विचित्र संयोग है। रानी और महाराज से उसे सहज स्नेह है। पर वह सतर्क है कि कहीं रानी का स्थान न लेले। महाराज के प्रति उसमें पूर्ण आत्म-समर्पण है, पर, विकारों की नाव-भूमि को वह सजगता से देखती रहती है। अनाविल समर्पण में वह विग्रह को विघ्न मानती है। हृदय की इस परम स्वाभाविक प्रतिरति में वह कितना मार्मिक प्रतिरोध करती है। अत्यन्त सुन्दर और माधुर्य-मयी पंक्तियाँ हैं ये, जिनमें अमित व्यंजना भरी है—

"...मैं देती हूँ तो विग्रह भी ढरक जाना चाहता है। तुम्हारा अर्घ्य शुद्ध गंगाजल की धार है, मेरे गंगाजल में फूल भी तैरता है। देना चाहती हूँ गंगाजल की धार, आगे उतरा कर वह जाना चाहता है फूल। यही अन्तर है पर दान दान है। शपथपूर्वक कह सकती हूँ इसमें केवल सत्वोद्रेक है। फूल को रोकना चाहते हो तो रोक लो, हाथ लगाओ, मेरे दोनों हाथ फंसे हैं।"

वाह! धन्य है, मैना अथवा मैनसिंह! तुममें राग और क्रिया का अपार्थिव समन्वय है। क्रिया से तुम कठोर भूतल पर हो। राग में तुम विशुद्ध अधिकृत अनाविल मानस लोक में!

आचार्य जी—हँस कर—आप भी इन पात्रों की तरह भाव-लोक में पहुँच गये। अच्छा वोधा प्रधान आपको कैसे लगे?

मैं—जी, मैं वोधा को लेने ही जा रहा था, पर मैना के कंठ से निकली भाव-स्रोतस्विनी ने एक मधुर अन्तराय उपस्थित कर दिया था। हाँ, वोधा प्रधान के रूप में एक सच्चे राजसचिव का दर्शन होता है। वोधा में चाणक्य की सी गुण-गरिमा है। सदा मितभाषी, जड़वत् अविकारी, पर सदा जागरूक! दृष्टि अत्यन्त पैनी और दूरंगमा। चाणक्य की भाँति उसका मानस भी राग की भाव-मयी सृष्टि के लिए नितान्त अनुर्वर! मैना जैसा पुरुषोत्तम क्षेत्र का दिव्य प्रसाद जो स्वयं दैवेच्छा से उसके उत्संग में उपनत हुआ उसके लिए किसी प्रकार का भावात्मक आकर्षण नहीं रखता। मैना से उसे इसलिए अनुराग है कि वह राजनैतिक कार्य-क्षेत्र में एक अत्यन्त कुशल और कर्मठ सहयोगी की भाँति उसकी विश्वास-भूमि बन कर उसका दुष्प्राप्य विश्रम्भस्थान बन जाती है। मैना और वोधा दोनों की चेतना की अतल गहराइयों में पारस्परिक अनुराग की ग्रन्थियाँ भी निगूढ़ हैं। पर, दैव का दुर्विपाक! उन्हें बाहर आने का जब तक अवसर मिलता है तब तक कथानक का दुखद अन्त हो जाता है। फिर तो, सातवाहन, वोधा और मैना, तीनों पाठक की भावयित्री कल्पना या भावक-व्यापार में एक गहरा आघात करके अनुस्वान की मार्मिक व्यंजनापूर्ण एक लम्बी रेखा को उत्पन्न कर देते हैं। कला वहाँ साकार होकर पूर्णता का आभास देने लगती है।

आचार्य जी—इस कृति से यदि आपका अनुरंजन हुआ है तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक मानता हूँ। पर यह तो बताइये कि यदि कुछ आलोचक इस कृति की उपलब्धियों का अन्वेषण करते हुए आधुनिक जीवन के लिए इसकी उपयोगिता और उपादेयता पर प्रश्न-चिह्न लगाएँ और इसकी आधारभूत सामग्री की प्रामाणिकता को भी अप्रामाण्य ठहरावें तो...?

मैं—हो सकता है कि कुछ आलोचक ऐसा सोचते हों। पर मैं तो साहित्य को भौतिक स्थूल उपलब्धियों का साधन नहीं मानता। वह तो भावात्मक और कलागत

सौन्दर्य की अनुपम और अनिर्वचनीय सृष्टि करती है। इसी मे कला की पूर्णता है और फिर ऐतिहासिक रचनाओं मे तो किसी भौतिक उपलब्धि का अभाव रहेगा ही। उसका उद्देश्य तत्कालीन जीवन का सश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करना है। भारतीय काव्य-परम्परा प्रकारान्तर से साहित्य द्वारा लौकिक उपयोगिता की उपपत्ति को भी स्वीकार करती है। इस रचना मे सभी तत्त्व हैं। मुझे तो इससे निश्चित ज्ञान-वृद्धि भी हुई है और कलागत रामणीयक या सौन्दर्य भी प्रचुर मात्रा में मिला है। रही आधारभूत सामग्री की प्रामाणिकता की बात सो इतिहासगत स्थूल प्रामाणिकता ही एक मात्र सब कुछ नहीं है। आज की तथाकथित वैज्ञानिक पद्धति से, यद्यपि इतिहास का निर्माण बहुत अधिक हो चुका है, फिर भी हमारे इतिहास के कितने ही तथ्य आज भी अनुद्घाटित ही हैं। इस रचना में जिस सामग्री का उपयोग हुआ है वह यों ही तिरस्करणीय नहीं है। जनश्रुतियों के आवरण में सत्य का आविष्करण विशेष समझदारी की अपेक्षा करता है। गढ़हिया तालाब का प्रकरण इसी प्रकार है। कालिदास के कितने ही श्लोकों की सगति प्रस्तुत कथानक में बैठाई गई है। फिर किम्वदन्तियाँ नितान्त निराधार नहीं उठती हैं। अत. यदि ऐसे भौतिकैकचक्षुष्क, स्थूलमानी और भारतीय परम्परा से विरक्त आलोचक कुछ कहें तो कोई ऐसी हानि नहीं। भिन्न रुचिर्हिलोकः। कम से कम मुझे यह रचना बहुत पसन्द आई।

आचार्य जी—आपकी मान्यताओं से मुझे सन्तोष है।

वार्ता का प्रसग कुछ लम्बा हो गया था। अन्य आवश्यक कार्य आचार्य जी की प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे भी अपने इस आनुषंगिक पर्यावर्तन से हट कर अपने गन्तव्य पर जाने की जल्दी थी। मैंने आचार्य जी से विदा ली। प्रस्थान करते समय मेरे मन में प्रसन्नता, सन्तोष, उल्लास और साहित्यकार के दर्शन तथा वार्तालाप का रस-बोध और उसकी मधुर अनुभूति थी। इसे मैं अपनी साहित्यिक तीर्थ-यात्रा मानता हूँ।

प्रागैतिहासिक जीवन की सम्भावित कथा[1]

जयशंकर त्रिपाठी

'मुर्दों का टीला' उपन्यास की रचना १९४६ ई० में हुई। इस उपन्यास का आधार प्रागैतिहासिक 'मोग्रन-जोदडो' की संस्कृति, सम्यता और राजनीति है। डॉ० रांगेय राघव प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व के निष्ठावान् अन्वेषक और चिन्तक थे। उन्होंने अपने इस चिंतन को सामाजिक विसंगतियों की समस्या और समाधान की दृष्टि प्रदान की है। इस दृष्टिकोण में लिखी गई उनकी वृहदाकार कथाकृति है—'महायात्रा-गाथा', (अँधेरा रास्ता, रैन और चंदा) जो सन् १९६०, १९६४ में प्रकाशित हुई। 'मुर्दों का टीला' इसी क्रम में लेखक का इससे पूर्व का सोपान है। आज का मानव अपने समाज में रूढ़ियों का अभ्यस्त हो गया है अत: उसे सहन करना उसका स्वभाव बन गया है। प्रागैतिहास का मानव भी क्या ऐसा रहा होगा, जब कि रूढ़िगत-परम्परायें इससे अधिक दु:सह और जबर्दस्त थीं। लेखक की दृष्टि इससे भिन्न है अर्थात् तब का मानव अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए बहुत आकुल था और उसने पहाड़-सी विकराल बाधाओं के विपरीत भी अपने जयघोष का स्वर ऊँचा उठाया था। वह आज के रूढ़ि-अभ्यस्त मानव से कहीं अधिक पवित्र था। लेखक ने भूमिका में अपना यह निष्कर्ष प्रकट किया है—"लौह युग के पूर्व रहने वाले वे नागरिक जो अपने आपको सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी समझते थे, इस बात का प्रमाण हैं कि वे यदि मनुष्य की ही भाँति सुख-दुःख अनुभव करते थे, तो भी अपने समाज से कितने प्रभावित थे और हम जो आज नई भोर के सामने खड़े हैं, हम अभी भी कितने अंधकार में हैं।" (भूमिका पृ० ९) पूरे उपन्यास में लेखक ने ऐसे ही सामाजिक द्वन्द्व का चित्र, जो कभी प्रागैतिहासिक-शिलापट्ट पर खींचा गया है, और अब मिट चला है, पढ़ने में अपनी विविध कल्पनाएँ की हैं।

इन कल्पनाओं के आधार पुरातत्व की वे सामग्रियाँ हैं जो 'मोग्रन-जो-दड़ो' की खुदाई में प्राप्त हुई हैं। यह खुदाई १९२५-२६ में हुई थी। 'मोग्रन-जो-दड़ो' सिन्ध प्रदेश के लरकाना जिले में है। उसकी खुदाई में जो ध्वंसावशेष नगर मिला

१. मुर्दों का टीला : रांगेयराघव

है, उसके खंडहर जिस सतह से निकले हैं, उसके अनुसार पुरातत्वज्ञों ने उसकी सभ्यता को पाँच हजार वर्ष पुरानी स्वीकार किया है। 'मोअन-जो-दड़ो' की सभ्यता से मिलती-जुलती सभ्यता के अवशेष हड़प्पा, कलात तथा रोपड़ से भी मिले हैं और इनकी समानता सुमेर-अक्काद के अवशेषों से भी होती है। अतः इतिहासकारों के मत में पाँच हजार वर्ष पूर्व पश्चिम एशिया से पश्चिम भारत तक एक ही मानव-संस्कृति का प्रसार था। 'मोअन-जो-दड़ो' की खुदाई में जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें उस युग की सभ्यता का संक्षिप्त विवरण यह है—"उस स्थान पर एक सुन्दर नगरी थी जिसकी इमारतें ईंट और पत्थर की थी और जिसके मकान, नालियाँ, गलियाँ, और बाज़ार बड़े सिलसिले से बने थे। वहाँ के लोग गेहूँ की खेती, कपास के कपड़े बनाना और लिखना भी जानते थे। उस नगरी के खंडहरों में बाट भी पाये गये हैं, जो क्रमशः एक-दूसरे से दूने तोल के हैं जिससे सिद्ध होता है कि वहाँ के लोग गणित भी जानते थे और व्यापार विनिमय भी करते थे। वहाँ से जो रत्न मिले हैं उनसे सिद्ध होता है कि वहाँ के लोगों का गुजरात, कर्णाटक, बदख्शां और ईरान तक से वाणिज्य व्यापार था। वहाँ से जो हथियार निकले हैं वे सब पत्थर और तांबे के हैं, लोहे का पता वहाँ के लोगों को न था। अन्य कई जानवरों से परिचित होते हुए भी वे घोड़े को न जानते थे। कला की रुचि उनमें थी। लिंग-पूजा और योगाभ्यास उनके धर्म-कर्म में सम्मिलित थे।" (भारतीय इतिहास का उन्मीलन-श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, पृष्ठ ५५-५६)

प्रायः यह मान्यता है कि मोअन-जो-दड़ो और हड़प्पा की वह सभ्यता आक्रामक आर्यों द्वारा ध्वस्त की गई, ऋग्वेद के उल्लेख के अनुसार आर्यों ने कीकट, पणिय और किरात जानपदों को विजित किया था, उन्हीं में हड़प्पा और मोअन-जो-दड़ो भी रहे होंगे। डॉ॰ रांगेय राघव ऐसा नहीं स्वीकार करते—"१५०० ई॰ पूर्व ही लगभग आर्यों के आने का समय बताया जाता है। क्योंकि अभी तक मोअन-जो-दड़ो में आर्य-चिह्न नहीं मिले हैं; मैं समझता हूं कि वे यहाँ नहीं आये और जब वे आये तब मोअन-जो-दड़ो नहीं रहा। एक महानगर का मिट जाना आकस्मिक दुर्घटना ही रही होगी। यहाँ कोई ज्वालामुखी नहीं है, न था ही। फिर भी लगता है पृथ्वी में सब हठात् ही दब गया।" (भूमिका, ट-च) और उनका यही अनुमान उनके उपन्यास का भी आधार है। खुदाई में प्राप्त सामग्रियों का उपयोग कर उपन्यास का जो कलेवर खड़ा किया गया है उसकी समानता हम ५०० ई॰ पू॰ के वैशाली-गणतन्त्र की सभ्यता से कर सकते हैं तथा उपन्यास की परिणति सामन्त और दास वर्ग के जिस द्वन्द्व में की जाती है उन स्थितियों को आज के युग में भी रखा जा सकता है। यद्यपि डॉ॰ रांगेय राघव यह स्वीकार करते हैं कि वह सभ्यता लौह-युग के पूर्व की थी, पुरातत्वज्ञ भी यह मानते हैं कि उस सभ्यता को लोहे का पता नहीं था तो भी उपन्यास में तलवारों-भालों के प्रयोग का वर्णन है। इस प्रकार कथावस्तु प्राग् के इतिहास में नहा-धोकर प्रागैतिहासिक युग में खड़ी होती प्रतीत होती है। उपन्यास की कथा कुल २४ अनुच्छेदों में विभक्त है।

कथावस्तु का संक्षेप यह है—"मोग्रन-जो-दडो का श्रेष्ठि मणिबन्ध मिश्र से व्यापार कर अपने बहुत बड़े जलपोत के साथ लौटा है। उसका जलपोत रत्नों, मणियों, खरीदी गई सुन्दरी युवतियों दासियों तथा दासों से भरा पूरा है। मणिबन्ध जब यहाँ से निकला था तब खाली हाथ था। उसके जन्म का पता नहीं है। मल्लाहों को वह सिन्धु की लहरों के किनारे मिला था, उसका पुराना नाम सिन्धु-दत्त है। जिस जलपोत पर वह कर्मचारी बनकर गया था, उसके स्वामी को मारकर स्वयं ही मालिक बन बैठा और अतुल वैभव का स्वामी बन कर लौटा। जलपोत के साथ मणिबन्ध का घनिष्ठ मित्र मिश्रदेश वासी वृद्ध आमेन-रा अपना जलपोत लिए आ रहा है, वह मिश्र का व्यापारी है। जलपोत पर अन्य तीन विशिष्ट चरित्र हैं—१. नीलूफर (मिश्री युवती), जिसे मणिबन्ध ने दासी के रूप में खरीदा था पर जिसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर उसने अपनी गृहस्वामिनी बना लिया। २. हेका (दासी) और ३. अपाप (दास)—ये दोनों नीलूफर के बाल-जीवन के साथी हैं, नीलूफर के गृहस्वामिनी हो जाने के कारण मणिबन्ध के यहाँ ये अपना विशिष्ट स्थान रखते है। 'मोग्रन-जो-दडो' में पहुँचने पर मणिबन्ध का स्वागत हुआ और उसकी समृद्धि ने उसके यश का विस्तार किया।

थोड़े समय के बाद ही कीकट देश से एक गायक अपनी प्रेमिका एक नर्तकी के साथ मोग्रन-जो-दडो में आया। प्रेमिका को कीकटाधिपति चाहता था, पर वह गायक के प्रेम में उसके साथ अपने को बचा कर भाग आई। मोग्रन-जो-दडो के राजपथ पर वह नाचती थी और गायक जो कवि था, गाता था। उसका नृत्य एक दिन बैलों के रथ पर चढ़ कर जाते हुए मणिबन्ध की दृष्टि में धँस गया। मणिबन्ध अभी अविवाहित था, नीलूफर उसकी रखैल स्वामिनी थी। उसका मन नर्तकी के लिए, जिसका नाम वेणी था, लालायित हो उठा। नर्तकी स्वच्छन्द थी, जहाँ-तहाँ गा सकती थी। उसका प्रेमी गायक विल्लिभित्तूर इसमें आपत्ति नहीं करता था। अतः ऐसी स्थिति में जल-विहार तथा अन्य समारोहों में सम्मिलित होते-होते वेणी मणिबन्ध की प्रेयसी बन गई और उपन्यास की कथा ने नया मोड़ लिया।

वेणी और मणिबन्ध के इस प्रणय को नीलूफर सहन न कर सकी, यद्यपि मणिबन्ध की ओर से ऐसा कोई भी संकेत न हुआ कि अब नीलूफर उसके प्रासाद में न रहे अथवा स्वामिनी होने के नाते दास, दासी और रथ जो उसकी सेवा में रहते थे, अब नहीं रहेंगे। कथावस्तु का यह मोड़ ही समूचे उपन्यास की प्राणप्रतिष्ठा है। यहाँ लेखक ने उस नारी-मनोविज्ञान का निदर्शन किया है जो किसी भी प्रणय-उपेक्षिता प्रेमिका में सर्वोत्कृष्ट रूप में हो सकते हैं। प्रणय की इस उपेक्षा में नीलूफर के अपने दासीत्व की उपेक्षा भी दूने क्रोध के साथ भभक उठती है और वह उपेक्षिता नारी दास-स्वातन्त्र्य और नारी-स्वातन्त्र्य का नेतृत्व करती हुई आगे आती है। पहले उसने समझा था कि वेणी के माध्यम से गायक विल्लिभित्तूर मणिबन्ध की समृद्धि का उपभोग करना चाहता है लेकिन बाद में उसे ज्ञात हुआ कि यह तथ्य झूठा है

और विल्लिभितूर निर्दोष है। जब तक उसे यह तथ्य झूठा नहीं प्रतीत हुआ था वह गायक की हत्या करना चाहती थी। तथ्य झूठा साबित होने के बाद गायक को ही अपना प्रणय समर्पित कर देने के लिए उसकी इच्छा बलवती हो उठी। पर गायक अभी भी अपने पूर्व के वेणी के प्रणय पर रीझा हुआ था। मोअन-जो-दडो मे गणतंत्र शासन है। आगे की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी आती हैं, कि गायक का भ्रम दूर होता है। उधर नीलूफर मणिबन्ध के प्रासाद से निकल भागती है। प्रासाद में वह हेका के यहाँ छिपकर भी रहती है। गायक विल्लिभितूर और नीलूफर विश्वस्त होकर नये प्रणय सूत्र में बँधते हैं और श्रेष्ठि- (सामन्त) शाही के विरुद्ध नेतृत्व करने को अग्रसर होते है।

इसके समकाल ही नयी घटना घट जाती है। मोअन-जो-दडो से उत्तर में स्थित कीकट देश पर अश्वारोही आर्यों का आक्रमण होता है। अभी ये लोग अश्व से परिचित नही थे। अश्व पर चढ कर युद्ध करने वाले आर्यों से इनकी पराजय हो गई। कीकट का अधिपति पकड लिया गया, निवासी दास बना लिये गये या आग में झोंक दिये गये। जो किसी प्रकार से बच कर भाग निकले वे बहुत दूर का मार्ग पार कर अपने कितने साथियो को रास्ते मे भूख-प्यास से तडपता छोड कर मोअन-जो-दडो पहुंचे। उनमे कीकट की राजकुमारी चन्द्रा भी है। पर मोअन-जो-दडो मे इन निर्वासितो के प्रति सहानुभूति नही बरती गई। वहाँ के निवासियो को अश्वारोही आर्यों के आक्रमण का विश्वास ही नही हुआ। निवासियो मे विलास और मदिरापान का बोल-बाला था। नाचरग मे समस्त नगर डूबा था। किसी को भविष्य की चिन्ता न थी। चन्द्रा ने किसी प्रकार अपनी इज्जत की रक्षा की और विल्लिभितूर तथा नीलूफर की शरण मे गई और उनके नेतृत्व मे सहभागिनी बनी।

अब कथावस्तु की प्रगति केवल दो केन्द्रो मे होती है—मणिबन्ध और नीलूफर मे। नीलूफर को चिन्ता है, कि जब तक मणिबन्ध का नाश नहीं हो जाता या उसकी शक्ति क्षीण नही हो जाती, उसका जीवन सुरक्षित नही है, दासी हेका और दास अपाप उसके सहयोगी हैं, वह कीकट से आये भिखारियो और मोअन-जो-दडो के दासो का भी प्रतिनिधित्व करने की अगुवाई करती है। मणिबन्ध के पास अपार धन है। अपने इस विभव के कारण ही वह नगर-गणतन्त्र का उपगणपति है। वह नर्तकी वेणी को पाकर अपने विलास मे तृप्त-सा है।

इस बीच मिस्री व्यापारी आमेन-रा जो मणिबन्ध का बहुत निकटतम है, मणिबन्ध को सम्राट् बनाने का कुचक्र रचता है और इस कुचक्र के हेतु उसे पूरी तरह अपनी मुट्ठी मे कर लेता है। उसे सम्राट् बनाने की बात आमेन-रा को इसलिए सूझी कि मणिबन्ध के माध्यम से जब उसने मिस्री व्यापारियों के साथ मोअन-जो दड़ो का साझा व्यापार चाहा और इस सम्बन्ध का प्रस्ताव गण मे पारित कराने का प्रयास किया तो गण-सदस्य विशालाक्ष ने इसका विरोध किया और गणपति सहित सभी ने उसका साथ देकर प्रस्ताव को अमान्य कर दिया। महानगर (मोअन-जो-दड़ो) की

ऐसे साझा व्यापार से हानि होने की सम्भावना थी। इसी अन्तराल में एक नई घटना भी घटी, जिसने मणिबन्ध को सम्राट् बनाने की प्रेरणा में योगदान किया। गर्गमविणी नदी के उस पार मणिबन्ध के सार्थको को, बर्बर आर्यों ने जो घोड़े पर चढ़ कर आक्रमण करते थे, लूट लिया। मणिबन्ध ने उनका वर्णन अपने भाग कर बच निकले सार्थाध्यक्ष से जब सुना, उसे सहसा विश्वास न हुआ, पर भाग कर आये कीक्ट-निवासियों ने बर्बरों का जो वर्णन पहले किया था उससे इसकी समानता सत्य को प्रतिष्ठित कर रही थी। और मणिबन्ध अपने विभव की चिन्ता मे इन लुटेरो से आतंकित हो उठा।

अब आमेन-रा को अधिक उपयुक्त अवसर मिला। उसने कहा महाश्रेष्ठि! तुम सम्राट् बनो सम्राट्! बिना सम्राट् के न्याय नही होता। उत्तर मे बर्बरो का जो आक्रमण हो रहा है, बिना सम्राट् की शक्ति के वह रोका नही जा सकता। तुम अपने को मिश्र का फराऊन महान् बनाने की कल्पना करो। इसके लिए अभी मे तुमको अपनी एक सेना तैयार करनी होगी। उस सेना के बल पर तुम इस गणतंत्र को छिन्न-भिन्न कर दो और सारी शक्ति अपने हाथ मे ले लो और फिर एक कुल-कन्या से विवाह करो। सम्राट् की पत्नी बनने का अधिकार न तो दासी नीलूफर को ही था और न नर्तकी वेणी को है। महानगर मे शान्ति-रक्षको की जो सेना है उसे धन का लोभ देकर अपनी ओर मिला लो और तब जो भी विरोध मे उठे उसको कुचल दो।

ऐसा ही हुआ। शान्ति रक्षको की सेना को मणिबन्ध ने धन देकर मिला लिया। तब सेना ने मनमाना अत्याचार नगरवासियो पर करना आरम्भ कर दिया। मणिबन्ध ने मिश्री ढंग की अपनी अलग सेना भी सुसज्जित की। वह जब निकलता था, सेना के अग-रक्षको के साथ। जब जैसा चाहता था कर लेता था किसी की अपेक्षा नहीं रखता था। आमेन-रा ने किसी युक्ति से गणतंत्र के गणपति को ही पकड कर अपने यहाँ बन्दी बना लिया था और इसकी जानकारी भी किसी को न हुई। निदान इन अत्याचारो से पीड़ित होकर गण की एक सकटकालीन सभा बुलाई गई और उसमे विशालाक्ष के न चाहते हुए भी एक सदस्य वाराह के, जो मणिबन्ध से मिल गया था, जबर्दस्त अनुरोध पर सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सन्धि का प्रस्ताव लेकर बैलो के रथ पर दो लड़के और एक षोडसी कन्या जब मणिबन्ध के आवास की ओर चले तो आमेन-रा के सैनिकों ने उनको पकड कर आमेन-रा के यहाँ उपस्थित कर दिया। आमेन-रा ने लडकी को बन्दी बना लिया और लडको को उत्तर देकर वापिस किया, और यह कहा कि लडकी सम्राट् मणिबन्ध की पत्नी सम्राज्ञी बनेगी। लड़के जब तक रथ लेकर वापस आये कि मणिबन्ध की सेना ने विशालाक्ष के निवास पर आक्रमण कर दिया। उस समय जो भी वहाँ थे सब समाप्त कर दिये गये। महानगर का राजपथ सम्राट् मणिबन्ध की जयकारो से गूँज उठा। गणतन्त्र समाप्त हो गया।

पर अब जिसकी कल्पना आमेन-रा को नहीं थी, मणिबन्ध के विरोध में जनता उठ खड़ी हुई, यद्यपि जन-सेना के पास सुसज्जित अस्त्र-शस्त्र नहीं थे तो भी उसने तुमुल युद्ध किया। उसके नेता थे विल्लिभित्तूर, नीलूफर, राजकुमारी चन्द्रा, दासी ट्रेका, दास अपाप और श्रेष्ठ विश्वजित्। श्रेष्ठ विश्वजित् का प्रवेश उपन्यास के आरम्भ से ही होता है और अन्त तक रहता है। मणिबन्ध के पहले वह महानगर का सबसे बड़ा धनपति था, उसका जलपोत समुद्री तूफान में नष्ट हो गया तब से वह भिखारी बन गया। वह बहुत ही दर्शन और चिन्तन की बातें करता है। वृद्ध, नंगा तथा भिखारी है। वह मणिबन्ध के अत्याचारों के विरुद्ध है और जन-सेना में सैनिक की भाँति मणिबन्ध के विरुद्ध युद्ध कर रहा है। युद्ध तो घनघोर हुआ परन्तु जनता की सेना हारने लगी। विल्लिभित्तूर अदम्य साहस से लड़ रहा है, नीलूफर को यह विश्वास हो गया कि अब हम हार जायेंगे, उस समय वह अपाप को साथ लेकर वेणी का वध करने के लिए मणिबन्ध के प्रासाद में उद्यान के मार्ग से घुस जाती है। वेणी के कक्ष में पहुँच कर वह उसे समझाती है कि अब तुम सम्राज्ञी नहीं बनोगी, सम्राज्ञी कोई दूसरी बनेगी। आओ, चलो मेरे साथ, जनता का नेतृत्व करो, अपने गायक विल्लि-भित्तूर की रक्षा करो। वेणी ने उसे स्वीकार नहीं किया और न ही नीलूफर ने उसकी हत्या की। बातों में बहुत कटुता नहीं आई, परस्पर घृणा प्रकट की गई। पर जब नीलूफर लौटने लगी, परदे से निकल कर आमेन-रा ने तलवार से उसकी गर्दन काट दी। और तभी तत्काल सम्राट् के महामन्त्री आमेन-रा की गर्दन वहीं छिपे हुए अपाप दास ने ऐसी दबाई कि वह मर गया। प्रासाद में तब शोर मचा जब अपाप को अपने लौटने का रास्ता न मिला, वह भूल गया। वह अपने को बचाता हुआ अन्त में मणिबन्ध के बाण से मारा गया।

युद्ध में जन-सेना की हार हो गई। विद्रोही बन्दी हुए, उनमें विल्लिभित्तूर भी था। जनता के समक्ष, खुले समारोह में सम्राट् के आसन पर बैठे मणिबन्ध ने विद्रोहियों का वध करने की आज्ञा दी। वेणी बगल में बैठी थी। विल्लिभित्तूर भी आया, जनता ने बड़ा शोर किया, करुणा से रो पड़ी, पर वेणी शान्त थी, विल्लिभित्तूर वही था जिसके प्रेमपाश में बँधकर वेणी कीकट से भागी थी, जिसके प्रेम के वशीभूत होकर गायक को कीकट छोड़ना पड़ा था। द्रविड़ कवि का यह विषम अन्त उपन्यास की कथावस्तु का एक महत्त्वपूर्ण संघटन है।

मणिबन्ध अब सम्राट् बन गया। उसने आमेन-रा के यहाँ बन्दी गणपति और श्रेष्ठि चन्द्रहास की षोडशी कन्या को भी, जो आमेन-रा के विचार से उसकी भावी सम्राज्ञी थी, वध करने की आज्ञा दे दी। रात की निर्भर शान्ति में प्रासाद के कक्ष में वेणी के साथ बैठकर वह मदिरापान करने लगा। गूढ़ प्रसन्न था। उसने अपने जीवन की उपेक्षित कहानी सुनाना आरम्भ किया, कि किस प्रकार लघु से महान् हुआ। उसी समय जनता के रोष से दीप्त वृद्ध विश्वजित् उसकी हत्या के लिए प्रासाद में घुस आया था और परदे के पीछे खड़ा होकर उसकी कहानी सुनने लगा था।

कहानी सुन कर विश्वजित् को आभास हो गया, यह मणिबन्ध तो उसी का पुत्र है जो उसके जहाज के नष्ट हो जाने के साथ स्त्री के डूब जाने पर तूफान में बहकर समुद्र के किनारे लगा, कितना भाग्यशाली है वह कि उसका पुत्र सम्राट् है। उसमें पिता का प्यार उमड़ पड़ा। तभी वेणी अनमनी हो गई। उसे विल्लिभित्तूर की याद ने सताया। उसके वध का स्मरण कर वह स्तब्ध हो गई और प्रासाद से निकल कर भाग चली। उसके पीछे मणिबन्ध उसे पुकारता हुआ भागा। मणिबन्ध के पीछे खड्गहस्त विश्वजीत् दौड़ रहा था किन्तु पिता के प्यार में। उसने पुत्र कह कर पुकारा भी। पर मणिबन्ध समझ रहा था, यह मुझे मारने आ रहा है और मणिबन्ध ने वार कर विश्वजित् को घायल कर दिया। वह घायल होकर गिरा और पुत्र कहकर पुकारता रहा, अब मणिबन्ध को विश्वास हुआ, यह मेरा पिता है, पर उधर वेणी भागी जा रही थी। वेणी अब दूर निकल गई थी। पिता के प्रति मणिबन्ध आकर्षित हुआ। पर अब वह पिता की हत्या कर चुका था।

तभी दिशायें फटने लगी। तुमुल निनाद हुआ। भूकम्प से धरती फट गई। मणिबन्ध भागने लगा। पर किधर जाये। मकान गिरने लगे, धरती से जल और आग के फव्वारे फूट निकले। सब कुछ वहीं समाप्त हो गया। महानगर ध्वस्त हो गया। सम्राट् और साम्राज्य की कल्पना धूल हो गई। उपन्यास के सभी प्रमुख चरित्रों की हत्या के बाद मणिबन्ध भी मृत्यु के मुँह में समा गया।"

यह समस्त कथावस्तु आकर्षक और अत्यन्त पेचीदी है। अनेक घटनाओं और मोड़ों से समाकुल है। पर अन्त में यह केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं के द्वन्द्व, मिलन, विरास और घृणा का कल्पना-विलास मात्र रह जाती है, सत्य कम है। जो कुछ उपन्यासकार ने लिखा है, घटनाओं को चित्रित किया है उनमें इतिहास के तथ्यों को छोड़कर सभी कल्पना की सम्भावना है, जिनको इतिहास की रेखाओं पर कहीं त्रिभुज, कहीं चतुर्भुज सा और कहीं लम्बमात्र उद्भावित कर लिया है। कथावस्तु की सजीवता आमेन-रा के इस षड्यन्त्र से आरम्भ होती है जिसमें वह महानगर के व्यापार में मिश्र का साझा स्वीकार करा कर लाभ उठाना चाहता है और मणिबन्ध को सम्राट् बनने का प्रलोभन तथा सुझाव देता है। यह षड्यन्त्र भी सफल हो गया था। मणिबन्ध गणतन्त्र को कुचल कर सम्राट् बन चुका था, जनता अप्रसन्न अवश्य थी पर वह विरोध करने को समर्थ नहीं थी। उसमें सामर्थ्य तब आयी जब नीलूफर और विल्लिभित्तूर का सहयोग एवं नेतृत्व उसे मिला। अर्थात् प्रणय-व्यापार ही क्रान्ति की परकाया में प्रवेश कर गया। क्या इसके स्थान पर गण के सदस्य विशालाक्ष का नेतृत्व नहीं दिखाया जा सकता था, सम्भवतः लेखक का दृष्टिकोण है कि धनपतियों में क्रान्ति की क्षमता नहीं होती, क्योंकि मणिबन्ध को भी सम्राट् बनने की बात स्वयं नहीं सूझती, उसकी चेतना का मूलमन्त्र आमेन-रा है, एक विदेशी मिश्रवासी। उसी के इंगित पर वह नाचता है। मणिबन्ध मिश्र में व्यापार कर अतुल सम्पत्ति कमा कर आया है। उसने वहाँ महान् फराऊन का यश देखा-सुना है। उसमें बुद्धि और साहस है तभी तो जलपोत

के स्वामी को मार कर वह स्वयं स्वामी बन बैठा, परन्तु महान् फराऊन की भांति महानगर का सम्राट् बनने की इच्छा स्वत: उसमे क्यो न जागी। ग्रामेन-रा ही उसे क्यो जगाता ग्रौर उकसाता है। यही नही दूसरी ग्रोर नीलूफर भी, जो विल्लिभित्तूर का प्रणय प्राप्त कर लेती है, उसे जनता का नेतृत्व करने के लिए सन्नद्ध कर देती है, स्वय खड्ग लेकर जन-सेना की ग्रोर से लडती है, कौन है ? मिश्र से खरीदी गई दासी है, ग्रौर मणिबन्ध द्वारा ग्रपने प्रणय को ठुकराये जाने से सिंहिनी बन बैठी है। लेखक को महानगर की भूमि से कोई ऐसा जन-नायक नही मिलता जो ग्रामेन-रा के षड्यन्त्र को समभता ग्रौर उसे प्रबल ठोकर देता। सम्भवत लेखक का यह निष्कर्ष है कि सारा महानगर विलास-विभव की गाढ निद्रा में सो गया है। उसमे मानव की तीक्ष्ण चेतना का ग्रभाव है। प्रकारान्तर मे लेखक जैसे यह बताना चाहता है कि महानगर (मोग्रन-जो-दडो) मिश्र की कूटनीति ग्रौर जन-चेतना के परस्पर द्वन्द्व का ग्रखाडा बन रहा था। नीलूफर का चरित्र उसने जितना उज्ज्वल रखा है, नर्तकी वेणी का चरित्र उतना ही घृणास्पद है। नर्तकी वेणी महानगर के मित्र जनपद कीकट की रहनेवाली है, नीलूफर मिश्र की दासी है। नीलूफर के कार्य, साहस ग्रौर मत्रणाऍ सब ग्रद्भुत हैं। विल्लिभित्तूर जो जनसेना का सेनापति है, वेणी, नीलूफर ग्रौर राजकुमारी चन्द्रा तीनो के प्रणय का सौभाग्य उसे मिलता है, जनता के नेतृत्व का यश भी। पर उसमे ग्रपनी कोई मौलिक चेतना नही है, उसके चरित्र की एकात्मकता नारी-कल्पनाग्रों मे विभक्त हो गई है। एक ग्रोर तो वह ललकार कर युद्ध करता है पर दूसरी ग्रोर युद्ध की समाप्ति ग्रौर नीलूफर की हत्या के बाद गांधीवाद ग्रथवा लेखक के साम्यवाद का उपदेश चन्द्रा को देता है। तब ऐसा लगता है नीलूफर जो इस ग्रात्मा की बिजली थी उसके ग्रभाव मे वह पथहीन हो गया है। वह कहता है—"चन्द्रा ग्रपराधो को भूल जाना। मुझे छोड दो। मैं कही नही जाऊँगा। ग्रपनी पराजय मे मुझे ग्रपने ग्रापको भूल जाने दो, वह मेरी ममता थी जो मैं चलना चाहता था। मेरा जीवन समाप्त हो रहा है।" (पृ० ३४६) फिर वह कहता है—"मनुष्य को सहायता देना मेरा एकमात्र धर्म है ग्रौर पृथ्वी को स्वर्ग की कल्पना ही न रखकर, पृथ्वी पर स्वर्ग उतार लाने का श्रम मेरे महादेव की शक्ति है। जाग्रो, जहाँ तुम्हारी इच्छा है, मैं वह पूर्ण सामूहिकता चाहता हूँ जहाँ जीवन मगलमय कर्म ग्रौर ज्योतिर्मय विचारो से परितृप्त है, जहाँ गति मे घृणा, उच्छृखलता नहीं, ग्रागे बढ़ने की त्वरा मर्यादा है, कठोर कर्कशता नहीं, एक साम्य समीन पर चलता चितन क्षेत्र है, विश्व का ग्रानन्दमय क्षेत्र है।" (पृष्ठ ३५०) सम्भवत ये विचार विल्लिभित्तूर के माध्यम मे लेखक के ग्रपने हैं। क्योकि विल्लिभित्तूर जब ग्रपनी सहज स्थिति मे ग्राता है तब कहता है—"नहीं चन्द्रा ? चलो। घायलो के बीच मे मैं नही सो सकूँगा। मुझे स्वस्थ मनुष्य चाहिए स्वस्थ, सदाक्त—" (पृ० ३५१) जिन प्रणय-द्वन्द्वो का ताना-बाना लेखक ने समूचे उपन्यास में बुना है उनके तारतम्य मे ग्रन्तिम विजय विल्लिभित्तूर की ही होती है। मणिबन्ध विजयी होकर सम्राट् बनता है ग्रौर वेणी के निर्भर प्रेम का प्यासा बनकर ग्रपने प्रासाद के राजकक्ष मे बैठता है, चषक के चषक उठाकर पीता है ग्रौर

चाहता है वेणी उसे तृप्त कर दे, पर तब वेणी विल्लिभित्तूर को पुकार उठती है, जिसका वध उसके सामने मणिबन्ध करा चुका है। विल्लिभित्तूर के लिए पागल होकर वेणी प्रासाद से रात मे निकल भागती है और मणिबन्ध उसके पीछे पीछे दौडता है। इस प्रकार इन सारे द्वन्द्वो मे विजय का श्रेय विल्लिभित्तूर की आत्मा को है। और जैसा कि पहले कहा गया है समूचा उपन्यास प्रणयद्वन्द्वो की विलास-लीला, विश्वास, घृणा और आत्मसात् की रगीन उलझनो की चित्रपेटिका है।

उपन्यास की तीन विशेषताएँ अक्षुण्ण बनी रही हैं—(१) कथा-रस की सृष्टि जो कथा की प्यास को बलवती बनाये रहती है। (२) दास-दासियो के जीवन के परख के प्रति नई दृष्टि, पूरा उपन्यास ही उनकी गतिविधियो से ओत-प्रोत है। उनकी कठोर स्वामिभक्ति किस प्रकार अपने जन के सौहार्द मे परिणत होकर स्वामी का द्रोह कर उठती है इसके कई सगत उदाहरण इस उपन्यास मे है। विशेषकर लेखक ने उन स्थितियो को परखने की चेष्टा की है जिनमें पिसी-दबी हुई मानवता द्रोह कर देती है, या द्रोह के लिए साहस कर सफल हो जाती है। दास अपाप इसका सही उदाहरण है, मणिबन्ध किसी समय अपाप पर कोडे बरसाकर उसकी खाल खीचता है। एक समय आता है जब अपाप उसके राजप्रासाद मे ही उसके महामंत्री आमेन-रा का गला घोट देता है। (३) तीसरी विशेषता उपन्यास की है, उसकी अपनी भाषा शैली, जगमगाते भाव, सुनहरी कल्पनाएँ और अनेक नये अर्थ-बोध। नये अर्थ-बोध मे नये भाव, प्रकार और मौलिक उपमाएँ हैं, ये सब लेखक की शैली के स्वाभाविक अंग हैं, जैसे—"क्या तुम्हें उनके शरीरों के जलने की दुर्गन्ध नही आती मूर्ख ? आकाश के सतरगे धनुप पर अपनी धधकती पिपासा का बाण चढाकर स्वर्ग को अपना लक्ष्य बनाना चाहते हो ?" (पृ० २२) "मणिबन्ध के अद्भुत नेत्रो मे वैभव का अहंकार ऐसे जगमगा रहा था जैसे तेल मे भीगा हुआ वस्त्र एकदम फक करके जल उठता था।" (पृ० २०) "फिर एक बार शीतल चाँदनी धरती पर खेलने लगी। जैसे घोर यातना के बाद प्रसविनी अब मुक्त होकर, श्वेत वस्त्र धारण कर के, शैय्या पर लेटी, शान्त मन से, सब कुछ प्रेमपूर्ण आँखो से निहार रही हो।" (पृ० १०४) "मणिबन्ध के हाथ गिर गये। जैसे मछली की आशा में पानी में हाथ डाल मछुआ अपनी ग्रसित वस्तु को बाहर निकाल ले। और वह कोई गलती-सड़ती हुई चीज अपने हाथ मे देख ले।" (पृ० १६५)।

कथारस का जो सर्जन उपन्यास मे सम्भव हुआ है प्रायः सब प्रणय की चट्टानों के अगल-बगल ही प्रवाहित रहता है, पर वह प्रवाह स्वच्छ और तेज है। इसमें कही नीलूफर है, कही वेणी, कही हेका और कहीं राजकुमारी चन्द्रा। दूसरी ओर हैं, श्रेष्ठिमणिबन्ध, विल्लिभित्तूर, दास अपाप, अक्षय प्रवान। इसलिए यह कथारस अन्य सामाजिक उपन्यासो से अपनी विशिष्टता नहीं कायम कर पाता, जिसे हम कथारस से आगे बढ़कर इतिहास-रस कह सकें, वह इतिहास-रस जो चतुरसेन के 'वैशाली की नगर वधू'—उपन्यास मे पाठक को अतीत मे भटका देता है। 'मुर्दो का

टीला' में केवल उसी महानगर की कहानी सामने आती है उसके समूचे युग और परिस्थितियों की नहीं। महानगर का केवल नाम है, यदि हम मणिबन्ध, नीलूफर आदि की प्रणयलीला को अन्यत्र रखकर देखें तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। कथा में गण के स्वरूप, गठन तथा उपन्यास में प्रस्तुत उसके विवाद को लेकर जो विस्तार होना चाहिए था वह नहीं हुआ है। लेखक योगिराज की जिस तपस्या का उल्लेख उपन्यास में करता है, वह सदा कथा से अलग ही बना रहा, और जब भूकम्प में सारा महानगर ध्वस्त हुआ वह भी धरती में समा गये। योगिराज के निकट आशीर्वाद की आकांक्षा से मणिबन्ध तो जाता है और निराश होकर लौटता है, पर क्या नीलूफर, विल्लिभित्तूर आदि युगानुरूप योगिराज पर अपनी श्रद्धा नहीं कर सकते थे। केवल एक ऐतिहासिक संकेत देने मात्र के अतिरिक्त योगिराज उपन्यास को कोई सजीवनी नहीं देते। इसी प्रकार के दो अन्य प्रसंग हैं, भागी हुई नीलूफर हेका के साथ एक ऐसे गाँव में पहुँचती है जहाँ स्त्री की बलि देवता की तृप्ति के लिए की जा रही है, मणिबन्ध भी अपनी प्रभुता के प्रदर्शन के लिए एक समृद्ध गाँव में जाता है, सम्भवतः ये प्रसंग तत्कालीन संस्कृति और गाँवों की स्थिति की एक झलक देने के लिए उद्भावित हुए हैं पर वे कथा के अंग नहीं बन सके हैं। इतिहास-रस के सर्जन के और भी प्रसंग हो सकते थे, पर लेखक ऐसे प्रसंग से सदा बगल हटता रहा है। कीकट पर आर्यों के आक्रमण से पराजित होकर वहाँ के निवासी महानगर में आते हैं। कीकट और महानगर का व्यापार सम्बन्ध भी रहा है परन्तु पहले तो महानगर को उन भाग कर आये कीकट निवासियों की बात पर विश्वास ही नहीं होता। अगर विश्वास होता भी है, वे उपेक्षा ही दिखाते हैं। सरस्वती के पार मणिबन्ध का सार्थ बर्बर आर्य लूट लेते हैं, पर वह कथा सूचना-मात्र रह जाती है। महानगर का सम्बन्ध नीलगिरि और कर्णाटक से भी था, पर कहीं भी लेखक महानगर की सीमा को नहीं छोड़ता, कर्णाटक या नीलगिरि का कोई पात्र यहाँ नहीं है। कीकट की राजकुमारी भिखारिन बन कर महानगर में रह रही है। तब बर्बर आर्यों और महानगर के सभ्यों में क्या अन्तर रहा? उपन्यास की कथा इतिहास की घाटियों में घनराकर घूम-घूमकर महानगर के समतल मैदान में बहती रही है, पर इतिहास का रस उसमें नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्रागैतिहासिक कथा-वस्तु में इसके लिए सामग्री नहीं थी, जो भी प्राप्त थी उसी का विस्तार इतिहास का रस ला देता, पर लेखक की दृष्टि उस प्रागैतिहासिक महानगर में सामाजिक समस्याओं पर अधिक स्थिर थी। वह दासों के इतिहास में उद्धार में ही कुछ अवसर दे सका है। पर गतिमती मानवता का इतिहास, जिसे, 'मुर्दों का टीला' में अभिव्यक्त होना चाहिए था वह केवल दासों का ही तो नहीं है। द्रविड़ सभ्यता का इतिहास-बिम्ब भी बहुत उभर कर सामने नहीं आया, जिसका प्रतीक लेखक ने कीकट में जाकर तक देखा है।

उपन्यास में तीन पक्ष ऐसे हैं जो जहाँ-तहाँ कथारस को विस्वादु करते रहते हैं—(१) संवादों में आधुनिक युग के अर्थबोध और उनका व्यर्थ का विस्तार। (२) हत्याओं के बल पर कथा के मोड़ की सरचना। (३) दैवी-घटनाओं में निहित कथावस्तु का जीवन।

आधुनिक युग के अर्थ-बोध के जो प्रसंग आये हैं, वे सभी प्रायः प्रणयालापों में हैं। लेखक ऐसे अवसरों पर सीमा-रेखा का विभाजन नहीं कर सका है, कि उस युग की प्रणय-लीला और आज की प्रणय-लीला के मानसिक सामाजिक स्तरों में कोई भेद भी है? कालिदास की शकुन्तला यदि आज के युग में हो और दुष्यन्त उसे अस्वीकार कर दे तो क्या शकुन्तला ऋषि-कुमारों द्वारा भी तिरस्कृत होकर असहाय हो जायगी। उसकी नई स्थिति होगी। ऐसी ही नई स्थितियों के दर्शन इस उपन्यास में होते हैं। प्राचीन काल में नारी-जीवन का जो स्तर रहा है जिसे हम आर्येतर मोअन-जो-दड़ो के निवासियों में भी सम्भावित समझते हैं, लेखक नारी-चित्रण में उससे बहुत अर्वाचीन है। मणिबन्ध का नीलूफर या वेणी से जो प्रणय-व्यवहार देखने को मिलता है वह आज जैसा ही उच्छृंखल है, केवल इसके कि वे मणिबन्ध को महाश्रेष्ठि या प्रभु का सम्बोधन लगा देती हैं। जब मणिबन्ध वेणी से विल्लिभित्तूर को उसके पथ का काँटा कह कर समाप्त कर देने को कहता है तब वेणी तिरस्कार और क्रोध में मणिबन्ध से कहती है—"नहीं, मणिबन्ध मुझसे कहो, तुमने जो कुछ कहा उसमें कुछ भी सत्य न था। वह एक भ्रान्ति मात्र थी, स्वीकार कर लो मणिबन्ध। मैं सच कहती हूँ, मैं तुम्हारे इस चापल्य के लिए तुम्हें निस्सन्देह निस्संकोच क्षमा कर दूँगी।" (पृ० ६१) यह भाषण ऐसे अवसर पर आजकल की ही देवी के हो सकते हैं। एक अवसर पर निराश होकर वह सिन्धु में डूब कर मरने भी चल देती है। कहाँ क्षमा की शक्ति, कहाँ उब मरने की कायरता। "किस मुँह से लौट आऊँगी तुम्हारे पास? और फिर वे आभूषण भी नहीं थे। मेरे हृदय की यातना को तुम सोच भी नहीं सकते महाश्रेष्ठि? मैंने अन्त में एक उपाय सोच निकाला। सिंधु में डूब मरने चल पड़ी।" (पृ० १६६) वेणी व्यक्ति की निर्बलता, आत्मा का हनन, भविष्य का अर्थ मृत्यु—पर भी अपनी टीका-टिप्पणी करती है—"महाश्रेष्ठि! यदि सतत परिश्रम के बाद उसको उसके चिह्न भी मिलते हैं तो भी वह उस ओर फिर अपने पग नहीं बढ़ाना चाहता। तुम क्या कहोगे इसे? क्या यह व्यक्ति की निर्बलता है? क्या वह उसकी आत्मा का हनन है—क्या जाने जो आज हो रहा है भविष्य में उसी से घृणा नहीं होने लगेगी? पर कहाँ है वह भविष्य? भविष्य का अर्थ तो मृत्यु है।" (पृ० ८८) और यह वही वेणी है जो भविष्य की आशा पर कीकट से अपने प्रणयी के साथ भाग कर महानगर में आई थी, तब यहाँ इसे यह महाश्रेष्ठि मिल गया था। ऊपर उसने जो कुछ कहा है या तो वह उसका प्रलाप है, अथवा स्वयं लेखक यदि किसी दर्शन की अभिव्यक्ति करना चाहता है तो उसका माध्यम गलत है। वेणी का उक्त कथन विल्लिभित्तूर के प्रति अपने प्रणय को द्विविधा में उच्छ्वसित हुआ है, पर एक समय

आता है जब वह अपनी आंखों के सामने मणिबन्ध के साथ बैठी उसकी आज्ञा पर विल्लिभित्तूर का वध होता देखती है। इसके भी पूर्व नीलूफर ने, जब युद्ध चल रहा था उसके कक्ष में किसी प्रकार आकर उसमें विल्लिभित्तूर का साथ देने का आग्रह किया था, पर उसने स्वीकार नहीं किया था। इसके विपरीत कभी उसका यह भी रूप था कि उसने मणिबन्ध से दृढ़ स्वर में कहा था "मैं गायक से प्रेम करती हूँ। महाश्रेष्ठि, तुम मुझे प्यार करते हो, मैं गायक को प्यार करती हूँ।" (पृष्ठ ८६) गायक के प्रति प्यार का उसका निदर्शन यह था कि उसका वध आंखों के सामने देखकर भी वह उच्छ्वसित तक न हो सकी। पुन: अब उसे पूर्ण सिद्धि मिल गयी, महारानी बन गई तब उसे विल्लिभित्तूर के प्यार ने प्रताड़ित किया। वह प्रासाद से निकल कर भाग चली। मणिबन्ध उसके पीछे-पीछे दौड़ा। अनेक सैनिकों तथा राज प्रमुखों के रहते हुए मणिबन्ध का यह प्रमाद, यह असावधानी, काम के प्रति यह विद्रूप आकर्षण—मिश्र में जाकर व्यापार में महान् सफलता अर्जित करने वाले व्यक्तित्व के विपरीत पड़ जाता है। उसी बीच भूकम्प आरम्भ हो जाता है और दोनों भागते चले जा रहे हैं। लेखक की यह प्रागैतिहासिक कल्पना हृदय को सन्तुष्ट नहीं करती। प्रेमी-प्रेमिकाओं का यह उन्माद-पलायन आज के सिनेमा में चित्रित प्रेमियों की ऐसी ही भाग-दौड़ से अपनी बहुत निकटता रखता है। यहाँ क्या निष्कर्ष निकाला जाये ? वेणी का यह मनोवैज्ञानिक नारी-चित्रण है, जो एक बार हिमालय के शिखर पर आरूढ़ है और दूसरी बार समुद्र की अतल गहराई में डूब जाता है। हम तो यही कहेंगे कि लेखक के सिर पर आधुनिकता का भूत सवार है। इसी प्रकार अनवसर में संवादों का अवांछित विस्तार भी है। जैसे वेणी को मारने का संकल्प कर जब नीलूफर कटार के साथ छिपकर राजप्रसाद में प्रवेश करती है, वेणी के कक्ष में पहुँचती है तब उनका संवाद इतना विस्तृत हो जाता है कि (पृष्ठ १२५ से १३३) पाठक को यह भास नहीं रह जाता कि नीलूफर यहाँ छिपकर आई है। वह किसी षड्यन्त्र के लिए आई है, वह गुप्तचर है, यह प्रासाद उसके शत्रु का है और दूसरी ओर भीषण युद्ध चल रहा है, जहाँ उसे शीघ्र पहुँचना चाहिए। लेखक कौतुक और आश्चर्य तो उत्पन्न करना चाहता है और कर भी देता है, पर सहज स्थितियों की हत्या हो जाती है।

इसी प्रकार उपन्यास की कथा जैसे हत्याओं से ही जीवन पा रही है। उपन्यास का अन्त होते-होते वेणी तथा मणिबन्ध को छोड़कर प्राय: सभी पात्र हत्या के भागी बनते हैं। घमासान युद्ध-भूमि में जहाँ सभी एक-एक कर तलवार के घाट उतारे जाते हैं। सेनापति विल्लिभित्तूर घायल होकर बच रहता है, वह तब पकड़ा जाता है जब चन्द्रा उसे खोजकर पुन: सचेतन करती है। चन्द्रा तो कटार मारकर आत्महत्या कर लेती है, पर विल्लिभित्तूर बन्दी बनाया जाकर मणिबन्ध के यहाँ लाया जाता है। लेखक ने ऐसा इसलिए किया कि उसे विल्लिभित्तूर का वध वेणी की आंखों के सामने मणिबन्ध की आज्ञा पर करा कर कथा में प्राण फूँकना था। यदि

भूकम्प न आ गया होता और महानगर की स्थिति जैसी कि तैसी बनी रहती तो अब उपन्यास की कथावस्तु का कोई जीवन शेष नहीं था जो भविष्य में गतिमान् बनता। बिना भूकम्प के ही कथा धरती में समा चुकी थी। सभी आत्महत्या या वध के भागी बन चुके थे। मानसिक विषाद, उल्लास, श्राम या गतिमान् स्थिति भोगने का श्रेय किसी को नहीं मिला। हत्याओं ने कथा को जीवन दिया है और उसकी हत्या भी कर दी है।

दैवी घटनाएँ कथावस्तु को जीवन और गतिशीलता प्रदान करती हैं। इस तुलना में इतिहास के मोड़ या सामाजिक स्थितियाँ बहुत निर्बल हैं, उनसे कथावस्तु बहुत उपकृत नहीं होती। लेखक की यह अक्षमता उपन्यास में बहुत प्रकट है। मणिबन्ध विश्वजित् का पुत्र है, यह विश्वजित् को पता नहीं है। वह समुद्र की लहरों से फेंका जाकर मल्लाहों के हाथ लगता है। वेणी जब विल्लिभित्तूर के यहाँ से नहीं लौटी, मणिवन्ध उसे स्वयं खोजने निकला, भटकता रहा, इसी बीच अन्धड़ आ गया और उस तूफान ने वेणी को ले आकर मणिबन्ध के हाथों पर पटक दिया, वह अचेत थी। यदि तूफान ने यह मिलन न कराया होता तो कथा वहीं अवरुद्ध हो सकती थी। नीलूफर भी जब पुरुष वेश में मल्लाहों की गोष्ठी में पहचान ली जाती है और नदी में अपने बचाव के लिए कूदती है तब उसी समय आँधी आ जाती है आँधी आने के कारण मल्लाहों के दीप बुझ जाते हैं, वे अपनी नौकाएँ लेकर नदी के किनारे लग जाते हैं और नीलूफर उनके हाथों पकड़ी नहीं जाती। इसी प्रकार नीलूफर छिप-छिप कर मणिबन्ध के प्रासाद में आती-जाती है, कूटनीति करती है, दासों की बैठक रचाती है, पर वह पकड़ी नहीं जाती, इसे भी हम दैवीकृपा कहेंगे, गुप्तचर जीवन की महान् कुशलता नहीं। उपन्यास की अन्तिम घटना—भूकम्प, ज्वालामुखी का फूटना सम्पूर्ण कथावस्तु को निरीह बना देता है। वैसे यह घटना तथा योगिराज और नर्तकी वेणी का चरित्र तीनों को *'मुर्दों का टीला'* के लेखक ने *श्री भगवत शरण उपाध्याय के 'सवेरा' संग्रह की 'विध्वंस के पूर्व' कहानी से ग्रहण किया है।* उसने भूमिका में 'सवेरा' का उल्लेख और उसकी प्रशस्ति भी की है। यदि भूकम्प की यह घटना न लाई जाती तो भी कथावस्तु में कोई कमी न रहती। भूकम्प आने के पहले सभी पात्र, केवल मणिबन्ध और वेणी को छोड़कर वध या हत्या के भागी बन चुके थे, कहानी समाप्त हो चुकी थी, भूकम्प लाकर लेखक ने महानगर की भी समाप्ति कर दी जो कि इतिहास का तथ्य था। मणिबन्ध की जब विजय हुई, सम्राट् मणिबन्ध की जयकार बोली जाने लगी। उसकी प्रेयसी वेणी जब उसके घर से बाहर भाग निकली, क्या तभी भूकम्प आने का संयोग था, कथा के इस विचित्र अवसान के लिए, जो कथा को छोड़कर केवल पाठक को कौतुक तथा इतिहास को अपनी सहमति प्रदान करता है, लेखक की सस्ती कल्पना का फल है।

उपन्यास का सर्वाधिक प्रशंसनीय पक्ष है—नारी-मनोविज्ञान का अंकन। वेणी के सम्बन्ध में पहले चर्चा की जा चुकी है। नीलूफर और चन्द्रा का थोड़ा परिचय

यहाँ दिया जाता है। नीलूफर ने नर्तकी वेणी के आ जाने से मणिबन्ध से उपेक्षित होने पर उसके प्रासाद को छोड दिया, जब कि वहाँ उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं था, न तो मणिबन्ध की ही यह इच्छा थी कि नीलूफर उसके यहाँ से चली जाये, पर हाँ यह जरूर था कि मणिबन्ध की दृष्टि मे अब पहले वेणी थी, तब नीलूफर। नीलूफर इसे नही सहन कर सकी। कोई भी नारी नही सहन करेगी, यद्यपि नीलूफर दासी रूप मे खरीदी गई है पर उसमे कुलीन नारी के सारे गुण हैं। जब उसने विल्लिभित्तूर का प्रणय प्राप्त कर लिया तब वह थोडे से साधन की जिन्दगी मे भी, जिसमे उसको बडे प्रयास के बाद एक समय का भोजन मिल पाता था, बडी सतुष्ट थी, हेका से उसने अपनी स्थिति का जो वर्णन किया है वह नारी की पूर्णता की व्याख्या है—"मुझे क्या करना है किसी का। जाये मणिबन्ध। वेणी मेरे स्थान को ले ले। यहाँ क्या मेरे जीवन का कोई मोल था? अब मेरे पास मेरा सुहाग है। जो जन्म और वश नही दे सका, वह इतनी ठोकरें खिलाने के बाद भाग्य ने दिया है, तो क्या उसे मैं यो ही छोड दूँ—अब भोर अपनी होती है। कही कोई हाहाकार नही। विवशताओं मे भी हम सुखी है। न दासत्व है, न स्वामित्व। न किसी से कुछ माँगते हैं, न किसी को कुछ देते है। व्यापारिक, राज्य अधिकारी, यह सब हाहाकार की जड है। प्रसिद्धि मनुष्य की शान्ति की सबसे बडी शत्रु है जो उसके हृदय की कोमलता का हनन करती है उसे एक क्षण चैन से नही बैठने देती। हृदय की पूर्ण परितृप्ति आसक्ति और प्रेम मे है, न कि दूसरो को अपने अधीन करके उन पर अपना यश जताने मे। हूँ, कहा न, अब क्या चाहिए? सुख मे, दुख मे मेरा साथी है, सभी हेका, पूर्वजो ने स्त्री के लिए पति ही सबसे बडा सुख बताया है। किन्तु पति वह नही जो परम्परा बना दे। पति वह जो प्रेमी भी हो। और प्रेम वह नही जो मस्ती मे हो वरन् विवशता मे जिसका जन्म हो, कठोरताओ मे जिसकी अग्नि-परीक्षा हुआ करे।" (पृ० २५७)

नीलूफर की हत्या के बाद राजकुमारी चन्द्रा ने भी युद्ध के महाविनाश के बाद घायल विल्लिभित्तूर को सचेतन कर उसके प्रणय की प्रतीक्षा मे आशामय भविष्य के साथ उससे कहा था—"सच है गायक! चलो। कहीं दूर चले जायें जहाँ हम इस दुखमय ससार से सदा के लिए अलग हो जायें। कही किसी निर्जन तट पर छोटा-सा कुटीर बनाकर कद-मूल खाकर बिता देंगे यह जीवन।" (पृ० ३४८) "यह भी एक छल है गायक। घायलों और अशक्तो पर पाँव रखे नही, बढते हुए चलो। हम जीवित हैं। जिन्होंने मृत्यु का द्वार खटखटाया है हम उनके साथी नही, हमारा द्वार पूर्व का वह आकाश है जिसमे सूर्य आता है—।" (पृ० ३५१) नारी मन के दो रूप हमारे सामने आते हैं एक वह है जो अपने रूप मे पूर्ण स्वस्थ है, नारी-जीवन की यही परिणति की पहचान जिसमे है, वे हैं नीलूफर, हेका और चन्द्रा। और दूसरा रूप है जो भटकता है, जो नर्तकी के जीवन का है, जो धन-वैभव की चकाचौंध मे भूल गया है, यह भ्रमित है अत: उसे पूर्ण तृप्ति नही होती। सम्राज्ञी बनकर भी वह मन

के विनाश से सब कुछ छोड़कर निकल भागती है, क्योंकि वहाँ उसे प्रेम न मिला जिसकी अग्नि-परीक्षा कठोरताओं में हुई थी। लेखक ने इन नारी-चरित्रों को अपने इसी दर्शन का प्रतिनिधित्व प्रदान किया है।

नीलूफ़र का चरित्र और भी स्वाभाविक और आकर्षक मोड़ लेता है। उसका प्रेमी विल्लिभित्तूर जन-सेना का सेनापति बनकर महानगर की जनता की ओर से युद्ध कर रहा है, दूसरी ओर है मणिबन्ध की मिश्री ढंग की सुसज्जित सेना। वेणी जो नीलूफ़र की प्रतिद्वन्द्विता में विजयी हुई थी, प्रासाद के कक्ष में बैठी है। स्वयं नीलूफ़र अपने प्रेमी के साथ युद्ध-भूमि में है। पहले यह आशा थी, जनता की विजय हो जायगी और मणिबन्ध कहीं का न रहेगा, पर धीरे-धीरे यह आशा धूमिल पड़ गई, निश्चय होने लगा, जनता की पराजय हो जायगी। उस समय नीलूफ़र के मन ने नई करवट ली। उसने सोचा यदि मेरा सौभाग्य छिन रहा है अर्थात् युद्ध करते-करते विल्लिभित्तूर पराजित होकर मारा जावेगा, तब पहले उसने स्वयं एक बार युद्ध से विल्लिभित्तूर को विरत करना चाहा था और कहीं एकान्त में कुटीर बनाकर रहने की सलाह दी थी, पर वह द्रविड़ कवि अपने निश्चय से न हटा, तो अब नीलूफ़र उस वेणी को ही सुख में यह सारी खुशी क्यों लूटने दे, वह अपाप को साथ लेकर राजप्रासाद में वेणी की हत्या करने के लिए चल पड़ी। युक्ति और कुशलता से नीलूफ़र तलवार लिए वेणी के पास पहुँच गई, वेणी आश्चर्य में डूब गई। नीलूफ़र चाहती तो वहीं उसकी हत्या कर सकती थी। पर वहाँ वेणी से उसकी जो बातचीत हुई उस बातचीत के प्रसंग में नीलूफ़र ने यह अनुभव किया कि आज वह वेणी से बहुत महान् है क्योंकि उसका पति जनता की ओर से मणिबन्ध की ओर से मणिबन्ध की सेना के विरुद्ध लड़ रहा है, आज वह जन-जन का प्रिय है और नीलूफ़र उसकी प्रेयसी है। इतना बड़ा सौभाग्य आज इस वेणी का कहाँ उसने प्रयास किया कि वेणी उसकी ओर आ जाये, और वह उसको अपनी ओर मिलाकर मणिबन्ध को करारी पराजय दे। उसने उसकी हत्या का विचार बदल दिया—"आज हेका विद्रोह में आगे चल रही है। दासों की अपराजित चेतना की जाली फट गई है। आज, चन्द्रा जो एक दिन अपने राजत्व की ज्वाला में जल रही थी, भिखारिणी बन कर द्रविड़ों का नायकत्व कर रही है और तू? तू यहाँ इस बर्बर के यहाँ मदिरा पी रही है? जैसे वे सब तेरे कोई नहीं हैं—स्त्री। मैं इस युद्ध को नहीं चाहती। तू मणिबन्ध की हत्या कर सकती है। सहस्रों निरपराधों का रक्तपात नहीं होगा।" (पृ० २३१) वेणी पहले तो प्रभावित हुई पर वह ऊपर से दम्भ भरती रही। नीलूफ़र ने उसके झूठे दम्भ को पहचाना, उसकी हत्या करने का विचार छोड़ा और उसका तिरस्कार करते हुए स्वाभिमान से कहा—'तू कुत्ते से नीच है स्त्री। तुझ में आज कोई आत्मसम्मान शेष नहीं रहा है। तूने अपनी आत्मा तक को बेच दिया है। मैं तो लौट जाऊँगी किन्तु

याद रखना संसार कहेगा कि नीलूफर सबसे अधिक करुण थी। उसने शत्रु के पशु को उसके चंगुल से छुड़ाकर मनुष्य बना देने का प्रयत्न किया था।—वेणी तू मृत्यु के मुख में हँस रही है। नीलूफर सदा अभिमानी को गिराकर कुचला करती है।" (पृ० ३३२) अन्तिम वाक्य में नीलूफर के मन की सही अभिव्यक्ति हुई है। लेखक ने नारी-मन की नाड़ी की सत्य पहचान की है। और उसका यह नारी-चरित्र हिन्दी-कथा-साहित्य में अनुपम है।

अनुभवों की समीक्षा[1]

गंगाप्रसाद विमल

हिन्दी उपन्यास चर्चा में 'शेखर एक जीवनी' के महत्त्व को जिन दृष्टियों से स्थापित किया गया है, उनमें एक विलक्षण एकन्यूनता इस 'तथ्य' की है कि 'शेखर एक जीवनी' प्रचलित औपन्यासिक शिल्प में 'वस्तु नियोजना' का एक नयापन सामने रखता है। हिन्दी उपन्यास का इतिहास मात्रा और गुण की दृष्टि से बहुत सम्पन्न नहीं है, ऐसी स्थिति में जब कोई कृति थोड़ी भी सम्भावनाएँ लेकर सामने आती है तब उसका 'स्तुतिपरक' स्वागत स्वाभाविक प्रतीत होता है। परन्तु वर्तमान हिन्दी लेखन की गतिविधियों को देखते हुए किसी भी कृति का, उसके प्रकाशन के समय हुआ, उत्साहवर्धक 'स्तुतिगान' पुनर्मूल्यांकन का कारण बन जाता है। जहाँ तक पुनर्मूल्यांकन के आधार का सवाल है, इसमें सन्देह नहीं है कि पुनर्मूल्यांकन उसी कृति का हो सकता है जिसमें अपने रचनाशिल्प का ऐसा गुणात्मक आधार हो जो बहुल पात्रता रखता हो।

इसमें सन्देह नहीं है कि 'शेखर एक जीवनी' अपने समय का महत्त्वपूर्ण उपन्यास है किन्तु इसमें सन्देह है कि उसका मूल्यांकन जिन दृष्टियों से किया गया है, वो हैं। अपने समय का महत्त्वपूर्ण उपन्यास होना ही 'शेखर एक जीवनी' के पुन- वे दृष्टियाँ मूल्यांकन की न होकर 'सामान्यीकरण' की हैं। अपने समय का महत्त्वपूर्ण उपन्यास होना ही 'शेखर : एक जीवनी' के पुनर्मूल्यांकन का आधार पुष्ट करता है। हिन्दी उपन्यास में 'शेखर एक : जीवनी' नये वस्तुवृत्त के कारण भी महत्त्वपूर्ण है, किन्तु ये महत्त्व सभी उस समय की औपन्यासिक रचना की तुलना के कारण हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई कृति अपने समय की रचनाओं की तुलना के ही कारण वह 'महत्त्व' ग्रहण कर लेती है जो उसे एक चर्चित कृति के रूप में प्रस्तुत करती है। दरअसल इस प्रश्न का साफ-साफ उत्तर प्रश्न में ही निहित है। यदि कोई कृति अपने समय में समसामयिक रचनाओं की तुलना की वजह से महत्त्वपूर्ण ठहराई गई है तो आवश्यक नहीं है कि वह परवर्ती रचनाओं की तुलना में भी महत्त्वपूर्ण रहे। दूसरा तथ्य यह है, कि सामयिक कृतियों की तुलना के महत्त्व का

१. शेखर : एक जीवनी—अज्ञेय

प्रश्न समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वहीन है। वस्तुतः शेखर एक जीवनी पर इसी दृष्टि से विचार किया गया है। यह विचार या विवेचन कृति का न होकर समसामयिक साहित्य का तुलनात्मक परीक्षण बन जाता है।

'शेखर एक : जीवनी' के बारे में लेखक का दृष्टिकोण कुछ आधारों पर उपन्यास की रचना के बारे में कुछेक तथ्य प्रस्तुत करता है, किन्तु शेष तथ्यों से प्रतीत होता है जैसे एक जीवनी का अनुभव किताबी अनुभव हो क्योंकि लेखक एक ओर मैथ्यू आर्नाल्ड के शब्दों में गाथा (या साहित्य) को जीवन की आलोचना, जीवन का दर्शन मानता है। तथा दूसरी ओर इलियट के शब्दों में 'भोगने वाले प्राणी और कलाकार' में अन्तर मान कर कलाकार के विशिष्ट होने के 'अभिमान' को प्रस्तुत करता है। किताबों के कथनों से परिपुष्ट किये गये अनुभव की तीव्रता में सन्देह हो सकता है क्योंकि सर्जक के लिए भोगे हुए या प्रामाणिक अनुभव के बारे में कोई सफाई देना आवश्यक नहीं होता, न ही इस तरह की सफाई की आवश्यकता होती है कि 'भोक्ता और सर्जक' के दो अलग-अलग व्यक्तित्व हैं। 'शेखर : एक जीवनी' में भूमिका की उपयोगिता को लेकर बहस नहीं की जा सकती। सीधे तौर पर 'उपन्यास' में भूमिका का मतलब लिया जाना चाहिए कि लेखक अपनी ओर से उपन्यास के बारे में बता रहा है। उससे उपन्यास के साथ-साथ उस 'सृजन प्रक्रिया' से भी पाठक का परिचय होता है जिसके बारे में उसका कौतुक भाव हमेशा तरह-तरह के रहस्यों की सर्जना करता है। दूसरे भूमिका से किसी कृति की वैचारिक भित्ति स्पष्ट होने की सम्भावना होती है। शेखर एक जीवनी में भूमिका का प्रतिदान दूसरी ही दृष्टि का है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे लेखक को अपनी बात समझाने के लिए, अपनी कलात्मक और विशिष्टता की धारणा की दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए अपनी ओर से वक्तव्य दिया हो। इस अनुमान से जो बात स्पष्ट होती है वह यही कि 'उपन्यास' के द्वारा लेखक जिस दार्शनिक सत्य को प्रस्थापित नहीं कर सका, उसे वह भूमिका द्वारा स्थापित करता है।

'शेखर एक जीवनी' की भूमिका के वे तथ्य जो घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे गये 'विज़न' की परिपुष्टि पाते हैं, वास्तव में उपन्यास को एक ऐसे 'अनुभव संसार' की रचना देते हैं जिससे उपन्यास के 'वस्तुतत्व के अनुरूप एक अलग शिल्प की सर्जना आवश्यक प्रतीत होती है।' 'पौ फटने तक सारा चित्र बदल गया। मर्म के बहुत से सूत्र मेरे हाथ में थे, लेकिन देह जैसे भर गई थी, धूल हो गई थी। थककर किन्तु शान्ति पाकर मैं सो गया...।' एक महत् यानी अलग (अपवादवत्) अनुभव से सामना करने के बाद—'देह की असमर्थता' (थकान) में केवल एक ही रास्ता रह जाती है और वह उस सारे 'अनुभुक्त जीवन क्रम' को दुबारा जीने या जीने की उस क्रम अवधि में उसकी पुनर्रचना करने की। 'ज्यां क्रिस्तोफ' की तरह, 'शेखर : एक जीवनी' की आकारगत समानता में कुछ-कुछ अन्य समानताएँ भी हैं। ऐसी समानताएँ पूरे जीवन (अनुभुक्त जीवन) की पुनर्रचना से सम्बन्धित हैं। 'अनुभुक्त

जीवन' की इस पुनर्रचना के लिए 'जीवनी' एक ऐसा उपयुक्त माध्यम है जिसकी 'उपयोगिता' उपन्यासकार ने स्वीकार भी की है। 'जीवनी शिल्प' और सग्रथित (कन्सन्ट्रेटेड) अनुभवों की इस रचना (शेखर : एक जीवनी) की 'रचनाप्रक्रिया' के बारे में जो भी उपन्यासकार ने कुछ ऐसे संकेत दिए हैं जो उपन्यासकार की विचार-दृष्टि का परिचय देते हैं। 'रचना-प्रक्रिया' के आंशिक विवरण के कुछ हिस्से बनावटी और ऊपरी लगते हैं, जिनको हम 'किताबी' कह चुके हैं, क्योंकि उनका पूरी रचना में अगर कोई सम्बन्ध है तो वह यह कि वे रचना को 'स्पष्टीकरण' बनाते हैं। 'उपन्यास' के भीतर भूमिका की सफाई देने वाली 'मुद्रा' के कई अंश हैं। वे सब के सब अंश जो 'समग्र भूमिका' बनाते हैं, उनसे 'शेखर एक जीवनी' का एक दूसरा ही रूप खुलता है और वह रूप उपन्यास विधा से दूसरी विधा में सचरित होता प्रतीत होता है। रचनाकार की विशिष्टता के अभिमान की रक्षा करने के प्रयत्न भूमिका से लेकर एक लेखक के 'आत्मवृत्त' के अनेक प्रसंगों में 'शेखर : एक जीवनी' प्रस्तुत करती है। यह लेखक जो 'वाचक' (नैरेटर) है, सर्जक से भिन्न है—ऐसा स्वयं अज्ञेय ने *माना है। सिवाय कुछेक घटनाक्रमों को सर्जक ने अपने 'अनुभवों' के वृत्त में लिया है।* अपने 'अनुभवों' के इस क्रम में 'द्वितीय संस्करण' की संक्षिप्त सी भूमिका में अज्ञेय ने हिन्दी पाठक (और आलोचक) के आग्रह से कुछ अंग्रेजी अंशों का हिन्दी अनुवाद दिया है—परन्तु जिस ध्वनि से अनुवाद देने की बात कही गई है, उसकी 'बनावट' की अपनी एक मुद्रा है, संयोग ही नहीं है 'बनावट की यह मुद्रा' उपन्यास में जगह-जगह मिलती है जिसमें साफ-साफ यह अन्दाज तो लगाया ही जा सकता है कि 'एक लेखक की जीवनी' (क्रान्तिकारी के स्वभाव की कहानी) के रूप में जिस 'बनावटी संसार' की रचना अज्ञेय ने की है, वह उनका अपना संसार है, कहा जाय तो उपन्यास के अच्छे हिस्सों में ऐसी बनावट सर्जक की मनोदृष्टि का 'घातक हस्तक्षेप' है। 'घातक' इसलिए की उपन्यास के 'घटना संकलन' से जिस अर्थ की परिकल्पना की सुविधा पाठक के पास है, अनायास वह सुविधा और स्वतन्त्रता, यह हस्तक्षेप की प्रवृत्ति, उससे छीन लेती है।

'भूमिका का प्रकरण' 'शेखर : एक जीवनी' के सिलसिले में रचनाकार की वृत्ति (इन्टेन्शन) को समझने में सहायक है, क्योंकि किसी रचना द्वारा लेखक क्या कहना चाहता है, कभी-कभी भूमिका में इसके सूत्र मिल जाते हैं। इसे मात्र संयोग ही मानना चाहिए, कि 'सफाई देने की मुद्रा' में जिस 'सफाई' को प्रस्तुत करने की 'अज्ञेय' की मनोराशा है, उसका रूप उल्टा हो बनता है यानी लेखक 'रचनात्मक स्तर' पर 'एक्सपोज' होने की बजाय वक्तव्य के स्तर पर अपनी 'वृत्ति' का खाका खींच देता है। 'शेखर : एक जीवनी' औपन्यासिक कृति की रचना के अतिरिक्त लेखक की क्या 'वृत्ति' है इसकी पहचान के लिए 'शेखर : एक जीवनी' की 'राजनीति हीन राजनीति' को देखना पड़ेगा। यह राजनीति मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि विमोचन 'और अहं विलयन' की प्रक्रिया के बाद स्पष्ट होती है। ग्रन्थियों या मनोव्यूहों के घटनाचक्र में 'पिता

और माँ दो ऐसे केन्द्र हैं जिनके प्रति तीव्र अस्वीकार (और माँ के प्रति तीव्र घृणा) की 'वृत्ति' बालपन के गुस्से में जाहिर होती है, किन्तु विलक्षण ढंग से इस 'घृणा और अस्वीकृति की वृत्ति का रूपान्तरण 'विद्रोह' में जाकर होता है। विद्रोह भी तार्किक आधारों पर केवल रचनाकार की उपस्थिति के रूप में स्पष्ट होता है अन्यथा 'शेखर' का पूरा 'चरित्र' पोजिटिव रोमाटिक चरित्र है। वह अपनी खोज में जिस एकान्त, जगल, नदी, पर्वत क्षेत्रों में 'भटका किया' है, 'वह खोज' परितृप्ति की खोज है। स्वयं उस खोज के विवरण को रचनाकार ने जिस ढंग से व्यक्त किया है, उसमें कुछ न कर पाने की विवशता ज्यादा है। अगर कुछ हो जाता है तो वह संयोग है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में पूर्ति के सिद्धान्त में परिचालित है। यह खोज जो कि प्रसगवृत्तों में आकांक्षा के रूप में आई है इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट हुई है—

"अपने शरीर की माँग को वह नहीं समझा लेकिन उसे लगता है वह कुछ अनुचित है, कुछ निषिद्ध है, कुछ पापमय। वह चाहता है, कि किसी तरह उसे दबा डाले, कुचल डाले "कि इसका साधन क्या है, लेकिन कविता में रुचि थी और इसलिए उसे आशा थी कि वह उसमें भुला सकेगा।"

दरअसल यह 'यौनावेग की उदात्त यात्रा' का व्यावहारिक स्फोट नहीं है, बल्कि इस किस्म की युक्ति की चाह 'परिपूर्ति' या सब्स्टीट्यूट' की खोज है। यह एक आवेग में खुद को निकम्मा पाने के गुस्से से दूसरे में पदार्पण है। बाहर से यह 'उदात्त प्रक्रिया' लग सकती है। 'फ्रायड' ने कलाकारों आदि के मनोविज्ञान में इस तरह की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। 'शेखर' के सिलसिले में यह सच भी उतर सकता है, किन्तु वहाँ एक 'पेंच' है और वह पेंच खुद को असमर्थ पाने का है। वह असमर्थता भी संस्कारों के प्रभाव से बाधित होकर सामने आती है। अगर 'विद्रोह' की वृत्ति सही रूपों में विद्यमान होती तो 'संस्कारों' के चोले फाड़ने का काम प्रमुख होता। एक 'आवेग' से दूसरे में पदार्पण करने का तर्क केवल इसी प्रसग में सही पड़ता है, क्योंकि 'कालान्तर' में शेखर का जो निर्माण होता है, उसके लिए वे समसामयिक स्थितियाँ 'उत्तरदायी' हैं जो संस्कार को उनके मूलरूप में अस्वीकार करने की क्षमता उसमें देते हैं। परन्तु शेखर एक जीवनी के शिल्पगत रूप को देखते हुए किसी क्रम से उसका परीक्षण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका क्रम जीवनी का क्रम नहीं है, उसका क्रम 'शिल्प' का है। वह क्रम स्मृतियों की गुफाओं में भटकने वाला 'मुक्त साहचर्य' का क्रम है। और उसके 'क्रम' की शुरुआत आतंक के आघातकारी अनुभव से होती है। वह मूल बिन्दु है उस 'विज़न' का, अन्तर्दृष्टि के चमत्कृत या जागृत होने के उस प्रोदय-बिन्दु का, जिससे पुराने अर्थात् व्यतीत ससार का दूसरा अर्थ खुलता है।

'शेखर एक जीवनी' उपन्यास और जीवनी के बीच की विधा कृति मानी जा सकती यदि उसका परिवेश 'बनावटी' न होता। किसी हद तक इस तरह के अनुमान

करने की बाधा 'वक्तव्यवाची भाषा क्रम' भी लाते हैं जिनसे घटनाक्रम की तीव्रता मे कमी ही नही आती बल्कि उनके तीखेपन में शैथिल्य आ जाता है। जिसे हम पहले 'विशिष्टता का अभिमान' कह चुके है दरअसल वही 'विशेषता' इसकी औपन्यासिक सहजता मे बाधा है। यह कह कर मैं 'शेखर एक जीवनी' को ऐसा होना चाहिए था के भाव से देखना नही चाहता अपितु 'जैसा है' उसमे 'कुछ और हो जाने' की जिस सम्भावना की मृत्यु होती है—उस तथ्य की ओर सकेत करना चाहता हूँ। यदि एक पाठक के नाते मेरे पास यह अधिकार बचा हुआ है कि मैं सम्भावनाओं की कृति में सम्भावनाओं की मृत्यु की बात कर सकूँ तो मुझे कहना होगा कि शेखर एक जीवनी मे जीवनी शिल्प की सम्भावनाएँ (किसी सीमा तक शिथिल होने हुए भी) हैं लेकिन वे 'सम्भावनाएँ' बाधाओं के शिखर से नीचे की ओर झुकी हुई हैं। 'शेखर एक जीवनी' का जीवनी-शिल्प एक ऐसी मीनार है जिसका ऊपरी सिरा सदैव नीचे की ओर झुका हुआ है अर्थात् उसका 'लगाव' अपनी मूलवृत्ति से हटा हुआ है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक घुमक्कड लेखक के जीवन प्रसंग स्व-स्वीकृत किसी 'तुला' मे तोले गये लगते हैं उनमे 'यात्रानुभव' लगते हैं, उन्हें 'यथार्थ' की 'मोहर' आत्मीय बनाती है; किन्तु उन्हें 'तोलने' की छोटी सी कोशिश भी उनकी आत्मीयता के रग को धुँधला कर डालती है। तीखे और चकमक रंगो की परिणति धूमिल और मिलेजुले फीके रग मे होती है। कहना न होगा यह 'शेखर एक जीवनी' का वह प्रबल पक्ष है जो इसकी 'सहजता' को पक्षाघात से पीडित करता है। यह बात दोनों भागों की समग्रता को लेकर तो कही जा सकती है किन्तु 'प्रथम खण्ड' ज्यादा सही उदाहरण है।

शेखर की तस्वीर के जीवनीपरक रूपों मे जिस आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति द्वारा शेखर एक व्यक्ति के रूप में उपस्थित होता है, उसे उस आतंक के अनुभव के साक्षात् के सिलसिले मे ही देखा जाना चाहिए। उसका 'समग्र प्रभाव' तभी बनता है। एक 'तस्वीर' के लिए रेखाओं का मानवसम रूपात्मक होना जरूरी नही है, उसके परिप्रेक्ष्य की रेखाओं और रगों का सम्मिलित प्रभाव जिस एकान्विति की सर्जना करता है वह अर्थमय होती है। अर्थात् शेखर एक जीवनी मे शेखर के निजी व्यक्तित्व की एक सामाजिकता है; क्योंकि वह उपन्यास की समग्रता मे वर्ग चरित्र के रूप मे दिखाई देता है। परन्तु लेखक की 'वृत्ति' उसकी सामाजिकता को वैयक्तिकता मे रूपान्तरित करने की है। इसकी छुटपुट कोशिश ही नही, बल्कि औपन्यासिक शिल्प की पूरी चालाक कोशिश उपन्यास मे मिलता है। वह 'शेखर' जो एक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत होता है, और अपने 'जीवन प्रसंगों' की स्मृतियों मे एक व्यक्ति के निर्माण का इतिहास प्रस्तुत करता है। पर क्या यह व्यक्ति—'निर्माण' है? 'जीवनी' के रूप मे यह व्यक्ति निर्माण हो सकता है किन्तु उपन्यास के रूप मे अपने समसामयिक दबावों से बनता हुआ शेखर आजादी के दिनों का गुस्सैल युवक है। वह हर चीज से मुक्ति मांगता है। 'निजी हित की मुक्ति जैसा दावा निःसन्देह शेखर के व्यक्तित्व को एकान्त व्यक्ति बना डालता है। अज्ञेय ने आत्मनेपद मे स्वीकार

किया है कि शेखर की स्वातन्त्र्य की खोज, टूटती हुई नैतिक रूढ़ियों के बीच नीति के मूल-स्रोत की खोज है। कह लीजिए कि समाज की खोखली सिद्ध हो जाने वाली मान्यताओं के बदले व्यक्ति की दृढतर मान्यताओं की प्रतिष्ठा करने की कोशिश है। मैं मानता हूँ कि चरम आवश्यकता के, चरम दबाव के, निर्णय करने की चरम आवश्यकता के क्षण में हर व्यक्ति अकेला होता है: और उस अकेलेपन में वह क्या करता है, इसी में उसके आत्मिक धातु की कसौटी है।' 'शेखर' के बारे में अज्ञेय का यह कथन किसी हद तक शेखर के चरित्र को गरिमामय प्रभामण्डल देने का है। 'निर्णय' या 'चुनाव' की आजादी शेखर में नहीं है। वह हर दूसरी स्थिति में से उसका चुनाव कर लेता है जिसमें असाधारणता या अभिजात है या कहें जिसे चुनने से खुद को विशिष्ट मानने की सुविधा प्राप्त है। इसलिए शेखर के व्यक्तित्व में जिस व्यक्ति का चेहरा दीखता है, वह व्यक्ति 'निजी हितों' की लड़ाई में मग्न एक ऐसा व्यक्ति है जिसे अपने समय के जीवन की तीव्र घटनात्मक गतिविधियों की सुविधा मिली हुई है। अतः यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शेखर के व्यक्तित्व में वैचारिकगरिमा नहीं है। वह वैचारिक गरिमा जो उसे न तो 'समाज' से बाँधती है और न उसे व्यक्तिवादी बनने देती है। अपने 'स्वेशखर' को एक गरिमा-वाची प्रभामण्डल देने की सारी प्रक्रिया में शेखर के व्यक्तित्व का खोखलापन झमकता है। उसमें 'स्थिर' होने जैसी गरिमा नहीं है, भटकाव्रिया की तर्कहीन 'आवारगी' है। 'शेखर' की इस अधूरी कहानी में अगर कहीं 'गहराई' की कमी है तो वह उसका वैचारिक धरातल है। इस विचारनिष्ठा की परिपूर्ति के लिए शेखर कवि रूप में एक ऐसे संसार से जुड़ जाता है जिसकी संगति यथार्थ दुनिया से नहीं है। यह कहते हुए 'शेखर एक जीवनी' के तीव्र घटनाचक्र, जो कि 'समय की घटना' है में उस परिवेश को कुछ देर के लिए अलग रखना पड़ेगा जिसमें क्रान्तिकारियों का स्वाभाविक 'उन्मेष' ऐतिहासिक तथ्य है। स्वयं 'अज्ञेय' ने अपने क्रान्तिकारी जीवन की कतिपय सच्चाइयों को 'शेखर : एक जीवनी' के परिवेश के रूप में चित्रित किया है किन्तु वह 'शेखर . एक जीवनी' शेखर के व्यक्तित्व से मेल खाने वाली चीज नहीं है। इसीलिए उसे अलग कर 'शेखर' के 'व्यक्तित्व' को देखा जाय तो उसमें 'वैचारिक स्थिरता' के अतिरिक्त ऐसे आभास भी मिलते हैं जो 'शेखर' को 'रूमानी' कथानक का 'व्यक्तित्व' बनाते हैं। 'शेखर' के चरित्र में 'रोमांटिक' होने और चुपचाप अपनी स्थिति की स्वीकृति का ही एक विरोधाभास नहीं है बल्कि अन्य स्तरों पर वह अनेक रूपों में विरोधाभासों का चरित्र है। दरअसल विरोधाभासों की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही शेखर के व्यक्तित्व में 'अहं' निर्माण देखा जा सकता है। शेखर के व्यक्तित्व में 'विरोधाभासी प्रवृत्ति' को लेकर विजयमोहन सिंह ने शेखर को घृणा, प्यार, विद्रोह आदि सभी प्रसंगों में उसे एक 'अप्रौढ रोमांटिक ज्वार' में प्रवाहित माना है।

'शेखर' के व्यक्तित्व को 'अतिरिक्त गरिमा' से अभिमंडित करने का सबसे बड़ा उपकरण रचनाकार के पास शेखर को विद्रोही या क्रान्तिकारी के रूप में चित्रित

करना है किन्तु दूसरे भाग के अन्त मे 'शेखर' के जीवन मे 'शैथिल्य' का जो भाव उभरता है, वही भाव शेखर के व्यक्तित्व का मूल भाव है। यद्यपि उस मूलभाव मे अतीन्द्रिय दृष्टि प्राप्त करने वाला शेखर कर्म मे विश्वास की बात भी कहता है तथापि कर्म के विश्वास का मूल बिन्दु शेखर की खोज का बिन्दु है। वह अन्तहीन खोज है। समीक्षको ने माना है कि शेखर आत्मकेन्द्रित, अहलीन एक व्यक्तिवादी चरित्र है तथा वह विद्रोही, क्रान्तिकारी, अहम्मन्य, उद्धत, निडर, संघर्षशील, अन्तर्बोध बलिष्ठ तार्किक, बहुज्ञ लेखक आदि जो कुछ भी है, वह उसकी 'निर्मिति है अर्थात् यह सब कुछ बनने की क्रिया बचपन से शुरू होती है। यह मान लेना शेखर के व्यक्तित्व को एक सामान्यीकृत आधार पर देखना है। शेखर के 'व्यक्तित्व' के निर्माण का एक मूल तत्त्व है जो निरन्तर अनेक रूपो मे उसके सामने आता है, और वह आतक है 'मृत्युभय'—जिससे उसकी विचारणा बनती है। चाहे मृत्यु के प्रति शेखर का राग आत्म-राग के अतिरिक्त कुछ भी नही है। 'मृत्यु' के अनुभव को जब वह अपनी विचारणा का तार्किक आरोप देता है तब वह एक दार्शनिक की भांति, यथार्थ के पक्ष से हट कर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। यह अजीब बात है कि शेखर का 'मृत्युसा-क्षात्कार' भी एक निर्मित घटना लगती है क्योंकि 'फाँसी' को साँप की आँखो का अत्यन्त तुषारमय सम्मोहन के रूप में बिम्बीकृत कर वह 'जडता' के दर्शन को स्थापित नही करता अपितु मृत्यु के ठण्डेपन को बनावटी वैराग्य की आँख से देखता है। 'मृत्यु' के अन्य साक्षात्कारो' मे 'शेखर' 'मृत्यु' के बारे में जानने की अबोध बेचैनी से संत्रस्त है। मृत्यु के सबसे बड़े अनुभव के सामने वह डरा हुआ 'बिम्ब खोजू' व्यक्ति है जो अनुभव की समग्रता और तीव्रता के प्रतिकूल है। इस बिन्दु से लौट कर जब शेखर अपने पूरे जीवन को देखने की ओर उन्मुख होता है तो उसमें अस्वाभाविकता कम लगती है। अस्वाभाविकता उन सभी स्थलो पर प्रकट होती है जहाँ शेखर का रचनाकार अपनी तरफ से 'धारणागत सृष्टि' करता है। यह हम पहले भी कह चुके हैं कि वे अब बनावटी लगते है। केवल बनावटी ही नही 'औपन्यासिक क्रम' में उनकी संगति सदेहास्पद है।

'शेखर एक जीवनी' मे शेखर का 'नायकत्व' पुरानी धारणाओ से बधा हुआ है। आश्चर्य है कि वह अपनी प्रसग विविधता में भी अलग से झलकता है और पराजित होने पर भी 'नायकत्व' के विजय भाव से जुड़ा हुआ है। यानी शेखर 'बचपन' मे अगर उपेक्षित महसूस करता है तो भी उस 'उपेक्षा' को अपने अह की गतिविधियो मे आगे ले जाता है, यदि वह लेखक के रूप मे प्रकाशक से प्रताडित है तो भी वह 'शशि' की रोमांटिक प्रेरणा से परिपूर्ण है। अगर ये 'कथाप्रसंग' प्रतीको के रूप मे लिये जांय तो शेखर और मध्यकालीन नायको मे सिर्फ परिवेश की पृथक्ता रह जाती हैं क्योंकि शेखर के 'नायकत्व' की धारणा मे जो अभिजात विजय है वह उसे महा-नता के मूल्यो से बाँध लेती है। अपनी नैतिक कमजोरियो को 'मनोवैज्ञानिक' 'दृष्टान्तो' के रूप में रख कर 'शेखर' उन्ही 'प्रतिगामी' शक्तियो के हाथ का कठपुतला है जो

'धर्म' की रक्षा के बहाने अपनी कन्या के विवाह का षड्यन्त्र करता है तथा पुस्तक छपाने के बहाने दूसरे बड़े लेखक से गठबन्धन किए हुए है। इसीलिए यदि साक्ष्य के रूप मे शेखर का 'मनोविज्ञान' लिया भी जाय तो वह असंगतियो से भरा पड़ा दीखता है। वह काम भावना से पीडित नायक तो है ही, साथ ही अपने 'निर्णय की स्वाधीनता' के तर्क से व्यक्तिवादी बनकर अपने समय की सामाजिक गतिविधियो से प्रभावित भी है। वह 'समाज सुधार' की अव्यक्तिवादी नैतिकता मे ग्रस्त 'नायक' है, इसीलिए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जिन आधार पर शेखर एक जीवनी का लेखक उसे व्यक्तिवादी करार करने का पूर्वाग्रह प्रस्तुत करता है वे आधार पूर्ण नहीं हैं। 'शेखर' दूसरी ही तरह का 'नायक' है, और कहा जाय तो वह रचनाकार के हस्तक्षेप से निर्मित एक ऐसा नायक है जिसमें वे सभी विशेषताएँ हैं जो एक प्रभाववादी नायक मे हो सकती हैं। कर्म के विश्वास से सजग शेखर का नायक मृत्यु के आतंक से त्रस्त भी है, काम पीडा से पीडित भी है और क्रान्ति के दर्शन से प्रभावित भी। परन्तु उसके 'नायकत्व' की ये सीमाएँ न उसे शास्त्रीय परिपाटी का नायक रहने देती हैं और न आधुनिक किस्म का नायक। या वह इनमें से किसी भी तरह का नायक नही है या है तो वह एक तरह की मिली जुली आकाक्षाओं का नायक है। यहाँ 'शेखर एक जीवनी' मे शेखर के नायकत्व का परीक्षण करते हुए भी रचनाकार की विशेष वृत्ति का अनुमान पाते हैं, और वह अनुमान है कि लेखक स्वय उसे क्या बनाना चाहता है। शेखर की रचना का यह सबसे बड़ा विरोधाभास है। 'शेखर' की अपनी स्वाभाविक गति अपने खोजने की है जब कि लेखक की वृत्ति उसे बनाने की है। इसलिए शेखर के मनोविज्ञान मे दृष्टान्तशाली प्रवृत्ति का प्रयोग ज्यादा उसके जीवन प्रसगो से उभरती हुई स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया उसमे कम मिलती है। 'भय' के मूलभाव से मुक्ति पाने का जो प्रसग है, वह इसी असगति के कारण अपनी स्वाभाविकता खो बैठता है। शेखर के शेष जीवन मे निर्भीकता के जितने भी दृष्टान्त हैं उन सबको 'पूर्वदीप्ति' बालपन के अनुभव के साथ दिखाने की जो कोशिश है वह कोशिश विरोधाभासों को जन्म देती है। 'विद्रोही' के 'मनोविज्ञान' की आधारशिला अज्ञेय 'घृणा' बताते हैं, जिसकी स्वाभाविक परिणति 'मानववादी' होने मे हो सकेगी, ऐसा सन्देह किया जा सकता है। दरअसल 'घृणा' की सिद्धि के लिए तर्क जुटाने वाला 'शेखर' अज्ञेय के हाथों आधुनिक बनने की बजाय प्रतिगामी नायक बन गया है जिसके लिए यदि आत्मरति विलास है तो मृत्यु-कल्पना एक सुख है तथा घृणा भी विलास का साधन है। विद्रोही के मनोविज्ञान की असगतियाँ शेखर को पूर्ण विद्रोही बनाने की बजाय, आकाक्षाओं मे विद्रोही और कर्म मे विलासी चित्रित करती है। शेखर 'विरोध' की भूमिका इसलिए स्वीकार करता है क्योंकि 'कर्म की भूमिका' के जोखिम से बेहतर विरोध की नेतागिरी है जिसमें ऊँचे होने की सुविधा तो है ही साथ ही ही अपने आपको दूसरे तर्कों से सिद्ध करने की आसानी भी है। और सबसे बड़ी सुविधा है समय के घटनाचक्र की, जो कि 'जीवन्त परिवेश' के रूप मे उपन्यास मे आई है।

किसी रचना में प्रासंगिक क्रम की एक ऐसी संगति भी मिल सकती है जिसमे अनेक विरोधाभासी असंगतियाँ हो। वह रचना अपने ही ढग की रचना हो सकती है—परन्तु इस तरह से अलग किस्म की रचना होने की गुंजायश 'शेखर : एक जीवनी' मे नही। शिल्पगत प्रयोग की दृष्टि से भी नही। शिल्पगत चमत्कारो की अन्तर्धाराओं के बीच 'शेखर' का जो जीवन प्रवाहित होता है, वह उन चमत्कारों को सर्जना को कुंठित कर डालता है। शेखर के निर्माण में समय की सुविधाओ के साथ-साथ शिल्पगत सुविधाओ का जो क्रम मिलता है उसके बारे मे इसी क्रम मे अन्यत्र कुछ कहा जायेगा लेकिन शेखर के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए उसमे जो 'जागरूकता' है, वह कलात्मक कम है। कलात्मक होने का आभास उसमे ज्यादा है। मनोवैज्ञानिक शिल्पगत चमत्कार की अपनी विशिष्टताएँ है किन्तु शेखर मे उनकी कलात्मक अन्विति स्वाभाविक नही है। 'शेखर : एक जीवनी' की वस्तु चेतना या थीम विषयक चर्चा को लेकर देखा जाय तो मनोवैज्ञानिक शिल्प 'कथा' का अग बनकर नहीं आया, वह शिल्पावरण बाहरी लगता है। कुछेक प्रसगों मे जरूर 'शिल्पगत' सृष्टि कथा का अग बनती है किन्तु ऐसे प्रसग इतने कम हैं कि उन्हे लेकर कोई बातचीत आगे नहीं बढ़ाई जा सकती है। 'शेखर' की कथा मे 'व्यक्ति' को जो प्रतीक कथा चलती है, वह प्रतीक कथा अपना पूर्ण निर्वाह नही पाती। कही वह 'व्यक्तिवादी' रूपाकन मे खत्म हो जाती है और कही-कही 'मानवतावादी' आवेशो मे तर्कहीन स्थिति को प्राप्त हो जाती है। अलग-अलग कोणों से देखा जाय तो 'शेखर' की कथा के अनेक कोण समग्र रूप से 'शेखर की मूल कथा' को पुष्ट करते हैं। परन्तु मूल कथा का स्वभाव 'विभाजक' होना है, वह अपने आप मे वय, स्वभाव, व्यवसाय, विचार आदि खानों में बँट जाती है। मूल कथा का यह 'विभाजन' यद्यपि बहुत महत्व का नही है, पर मुझे लगता है कि 'शेखर' के व्यक्तित्व की तरह कथा का व्यक्ति भी टूटा हुआ, खण्डित और बिखरा हुआ है और उसका यही कारण नजर आता है कि 'कथा के स्वभाव मे' अलग-अलग रूपो मे ढह जाना मूल रूप से विद्यमान है। कथाक्रम मे यह टूटन शिल्पगत सिद्धि के कारण नही है। हालांकि इस तरह की गुंजायश 'शेखर एक जीवनी' मे पर्याप्त थी। मनोविश्लेषण की पद्धति मे ऐसा अधूरापन अपचेतनीय प्रक्रिया के अनुसार अपनी व्याख्या स्वय प्राप्त कर लेती है, किन्तु जिस पूर्व दीप्ति, स्मृति साहचर्य, मुक्त साहचर्य और अन्तर्दीप्ति की पद्धति का 'शेखर एक जीवनी' मे प्रयोग हुआ है, उसमे वैचारिक आरोपण इतना ज्यादा है, कि मनोविश्लेषण की इन औपन्यासिक सिद्धियो के प्रयोग सगत नही हुए हैं।

कथानक की दृष्टि से 'शेखर : एक जीवनी' मे जीवनी-शिल्प के आधार पर एक व्यक्ति का क्रमागत इतिहास नही है, इसलिए उसे अन्य उपन्यास-कथाओं की तरह नही माना जा सकता, किन्तु शिल्पगत अस्पष्टता के साथ-साथ 'शेखर : एक जीवनी' में एक तरल रोमांटिक लेखक की ऐसी गाथा है जो अन्य प्रसग कथाओ के सम्पर्क से विश्वसनीयता के भ्रम को पूरी तरह से प्रस्तुत करती है। 'कथा' को कई आयामो से

देखा जा सकता है, उदाहरण के लिए कथा का वाचन जिस तरह प्रथम पुरुष के संस्मरणात्मक रूपों में होता है, वह अपने आप में कथा के प्रस्तुतीकरण का ही आयाम नहीं है अपितु 'शेखर : एक जीवनी' के कथावृत्त की अनुकूलता का परिचय उसी से मिलता है। मोटे तौर से दो खण्डों की दो कथाएँ हैं—जिनकी मूलकथा एक है किन्तु दोनों की अलग-अलग सत्ता भी है। अज्ञेय ने पाठकों की सुविधा के लिए इसका ज्ञापन भी 'शेखर एक जीवनी' की भूमिका में किया है। परन्तु मैं इन्हें एक दूसरे ही आधार पर अलग अलग देखता हूँ—मोटे तौर से पहले खण्ड की कथा में स्मृति और मुक्त साहचर्य का व्यापार ज्यादा है। वहाँ एक ही प्रसंग की स्मृति में उससे मिलती जुलती अनेक कथाएँ सामने आ जाती हैं। यहाँ तक कि कुछ कथा-प्रसंगों का विस्तृत रूप दूसरे खण्ड में मिलता है। अतः पहले खण्ड में कथा के विराट रूप का संप्रथन है जबकि दूसरे खण्ड में उसका विस्तार विवरणात्मक रूप है। वस्तुतः ये दोनों रूप उसकी वाचन शैली के भी हैं तथा शेखर की कथा के दो रूप भी हैं। इसी तरह प्रथम खण्ड में अपेक्षाकृत उस 'वय' की कथा है जिस वय से प्राप्त संस्कार आगे चलकर अपने लिए क्रियाक्षेत्र प्राप्त करता है। हमने कहा है कि मोटे रूप में ही इस तरह का विभाजन किया जा सकता है। गहराई से देखा जाय तो कथा के अनेक खण्ड हैं। प्रसंग कथाओं के अपने अलग-अलग खण्ड हैं जिनमें अबोध जीवन की जिज्ञासाओं के विवरण भी भरे पड़े हैं तथा ऐसे भी कथा-खण्ड हैं जो शेखर की 'काम' इच्छाओं और काम सम्बन्धों में दृष्टान्त के रूप में आते हैं। डा० देवराज ने पूरी कथा को मनोविश्लेषणशास्त्र से संगत कथा बताते हुए बाल मनोविज्ञान सम्मत प्रसंग कथाओं को मूलकथा की अनुरूपता में केस हिस्ट्री माना है; किन्तु यह मानकर भी *कथा की एकान्विति सिद्ध नहीं की जा सकती, बाल जीवन के प्रसंग* निःसन्देह मनोवैज्ञानिक-पारिभाषिक वृत्त के हैं और मूल कथा से उनकी संगति दृष्टान्तों से ज्यादा नहीं है, किन्तु उनकी मार्मिकता का अपना एक पक्ष है जिसका सम्बन्ध 'साधारणीकरण' के पहलू से सिद्ध किया जा सकता है। 'शेखर : एक जीवनी' को समग्रतः 'केस हिस्ट्री' नहीं माना जा सकता, उसमें 'मनोविज्ञान' के स्तर की असंगतियाँ ही यह परिणाम सामने रखती हैं। यह कहना ही कि 'शेखर : एक जीवनी' केवल मनोवैज्ञानिक केस हिस्ट्री है 'शेखर : एक जीवनी' के उस महत्व की उपेक्षा और अवहेलना करना है जिससे वह हिन्दी के प्रमुख चर्चित उपन्यासों में से एक है। मनोविज्ञान साधन बनकर जहाँ तहाँ 'शेखर : एक जीवनी' में है, मनोवैज्ञानिक पारिभाषिक वृत्त भी साधन बनकर आया है, किन्तु जितना 'साधन' के रूप में वह उपस्थित है, उसका पूरा निर्वाह 'शेखर : एक जीवनी' में नहीं है। कम से कम कथा की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक *कथाओं का जो दृष्टान्तपरक रूप है उसके अतिरिक्त कोई अन्य निर्वाह 'शेखर एक* जीवनी' में नहीं है।

'जीवनी' का कथाक्रम दूसरे द्वारा लिखा जाकर 'क्रमानुरूप' होता है; किन्तु जब वह 'आत्मचरित' के रूप में और खासतौर से एक आघात से पूर्वस्मृतियों की

संस्मरणात्मक जागृति के रूप में आता है तब उसका रूप बदल जाता है। कदाचित् इस दृष्टि से 'शेखर : एक जीवनी' के टूटे कथाक्रम में आकर्षण है चाहे वह आकर्षण भी कलात्मक सिद्धि का रूप नहीं ले पाता। कलात्मक स्तर पर कथा संसार में एक चयन दृष्टि का अनुमान सहज ही मिल जाता है। अज्ञेय की आभिजात चेतना में उस दृष्टि का आभास कई समीक्षकों को मिला भी है किन्तु सही अर्थों में 'शेखर : एक जीवनी' की कथा में चुनाव की वह सजगता नहीं है, यानी कथा प्रसंगों के चुनाव की सजगता और एक आरोपित सजगता में अन्तर होता है। 'शेखर : एक जीवनी' में चरित्रांकन द्वारा एक खास तरह की कुलीनता है, किन्तु कथा-प्रसंगों के चुनाव की सजगता उसे नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से 'शेखर : एक जीवनी' का कथांश कच्चा माल लगता है। हो सकता है कच्चा माल होने की यह अनुभूति उसके प्रयोगधर्मी स्वभाव के कारण भी हो। मसलन आरम्भ में मूल अनुभव के विचारजगत की विशद व्याख्याएँ गलत प्रसंगों पर आधारित लगती हैं। जबकि एक साथ उनमें एक ही जगह बहुत सारी स्मृतियों की 'क्लिपमिलाइट' की खूबसूरती और यथार्थदृष्टि भी है। 'शेखर' अपने अतीत की यात्रा में एक साथ कई 'दृश्यों' से साक्षात करता है, यह वस्तुतः पूर्वदीप्ति (स्मृति के प्रसंग में) द्वारा अतीत की ओर लौटना है। परन्तु वह अतीत भी—जो अधूरे स्वप्नों की तरह बिखरा पड़ा है, बहुत ज्यादा घटनात्मक नहीं है। शेखर एक जीवनी का अधिकांश कथावृत्त घटनाओं की संभावनाओं का है। 'क्रान्तिकारी' जीवन की समग्र चर्चा केवल 'सूचनात्मक परिवेश' की है। उसमें लगता है जैसे 'शेखर' एक दर्शक है, और विद्रोह की घटनात्मक सूचनाएँ कोई सूत्रधार दूसरी जगह से पहुँचा रहा हो। इसलिए शेखर से सम्बन्धित 'विद्रोह' के जो भी कथा प्रसंग हैं उनका ज्यादा सम्बन्ध 'शेखर' से नहीं है। यह अलग बात है कि उन 'कथा-प्रसंगों' का मूल-कथा से बाहर भी कोई अस्तित्व नहीं है। उदाहरण के लिए उपन्यास के अंतिम अंश देखें तो पता चलेगा कि क्रान्तिकथा की सूचनात्मकता केवल सूचना के लिए ही है—'लाहौर से दादा ने चिट्ठी भेजकर शेखर से अपील की थी कि अगर हो सके तो वह लाहौर आ जाय—दल के कुछ सदस्य जो बन्दी थे, कुछ दिनों बाद कालेपानी भेजे जाने वाले हैं, यदि स्वाधीनता के आन्दोलन को जीवित रखना है तो इस जीवित समाधि से उन्हें बचाना आवश्यक है और इस कार्य में शेखर का सहयोग अनिवार्य है'''।''क्रान्तिकथा' के ऊपरी ताने-बाने के भीतर जो 'आत्मकथा' है वह सिर्फ शेखर की है, उस शेखर की है, जिसकी अन्तर्मुखता कुछ 'खोजने' के क्रम में गुजर रही है। कथा का दूसरा कोण 'शशि के प्रसंग' की कथा है, जो आरम्भ से लेकर अन्त तक एक अजीब सी 'वायवी' और 'अतीन्द्रियजगत' के अयथार्थ को पुष्ट करती है। यह नहीं कि शशि की सम्पूर्ण कथा ऐसी हो किन्तु 'शशि' की कथा का अधिकांश 'ठण्डे किस्म के प्रेम' की 'समर्पणपरक' कहानी है। बंगाली उपन्यासों और खास तौर से शरत के उपन्यासों की नायिकाओं की तरह व्यवहार करती हुई 'शशि' का व्यवहार जगत शेखर के 'यौनावेग' के नैतिकीकरण का साधन है।

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर के जेल जाने के बाद जिन पात्रों का उदय होता है, उनकी प्रसंग कथाएँ भी 'अतियथार्थवादी' शैली के मिश्रित चित्रों जैसी है। उनमें संभवत: अकेलेपन के विराग से मुक्ति पाने की आत्मीय कोशिश यहाँ है। कहीं कुछ किसी से सम्पर्क हो, और वह सम्पर्क जो शेखर के माध्यम से उपस्थित होता है बाद में गंभीर रूप से आरोपित कथा का हिस्सा बन जाता है। इसी तरह मद्रास कालेज के दिनों शेखर के व्यक्तित्व का वह हिस्सा भी कथा में गंभीर विचारणा के आवरण में लिपटा मामूली कथांश है जिसकी मूल भूमिका 'विद्रोह' में परिणत होती है। इन 'कथाक्रमों' को लेकर किसी समीक्षक ने 'कार्यकारणशृंखला' के अनुसार 'शेखर : एक जीवनी' की कथा को मनोवैज्ञानिक दृष्टान्त कथाओं का सादृश्य मान लिया है जो असत भी सही नहीं है। 'शेखर : एक जीवनी' के दोनों खण्डों की कथाओं की समानता को लेकर कार्यकारणशृंखला जैसे सामान्यीकरण से जोड़ा नहीं जा सकता। उसमें अपनी कथाक्रम सम्बन्धी शिथिलताओं के बावजूद भी दृश्यकथा के भीतरी संसार की एक ऐसी अन्तर्कथा है जिसके दोनों खण्ड दो भिन्न सूत्र हैं। उनमें अगर कोई एकता का सेतु है भी तो वह एकता का सेतु 'शेखर' की वे दमित आकांक्षाएँ हैं जो उसे 'चुनाव की स्वाधीनता' की एक आत्मस्वीकृत मुक्ति का अनुभव देती हैं। शायद अपने परिवार से टूटने के बाद का 'विजय भाव' शेखर में दूसरी स्थिति के स्वीकार के रूप में गंभीर आत्म-अवसाद में बदल जाता है। 'शेखर : एक जीवनी' की समग्रकथा का अगर कोई एक रंग कहा जा सकता है तो वह रंग अवसाद का है, ऐसे अवसाद का जो कुछ खोने या किसी चीज से टूटने या पराजित होने के बाद घिरता है। यह 'अवसाद' कहीं खिन्नता मिश्रित है तो कहीं शेखर द्वारा स्वयं स्वीकृत एक ऐसा उपादान भी है जो उसके दु:ख को आत्मजनीन बनाने में सहायक है। 'अवसाद' की यह भावकथा दो रूपों में 'शेखर : एक जीवनी' में मिलती है, उसका एक रूप तो स्वाभाविक लगता है किन्तु उसका दूसरा रूप जिसमें दार्शनिक और वैचारिक शब्दावली की व्याख्याएँ अलग से जोड़ी हुई लगती हैं। यहाँ तक कि प्रसंगवत्ता से भी उनका कोई सम्पर्क नहीं रह जाता।

'शेखर : एक जीवनी' की कथा में 'कथाक्रम' की टूटन छोटी-छोटी कथाओं की पूरक बनकर भी आती है अर्थात् जहाँ पर कथा प्रसंग टूट जाता है वहीं एक प्रसंग कथा समाप्त हो जाती है। अत: 'कथाक्रम' का 'खंडित' रूप 'शिल्प' की सिद्धि का ही पूरक नहीं कहा जा सकता। एक तथ्य 'शेखर : एक जीवनी' की कथा सयोजना के बारे में भूला नहीं जा सकता, वह है कथा की अलगाव या खोजना। केवल कथा-प्रसंगों या प्रसंगान्तर कथाओं की उपस्थिति कथा के रूप को विराटता नहीं देती किन्तु कथा की यह भिन्नता 'शेखर : एक जीवनी' को छोटे कथानक या उपन्यास नहीं बनाती। कथा की भिन्नता होते हुए भी उसमें एक फैलाव है, बड़े कथानकों जैसा फैलाव और संभवत: यह प्रसंगों की विविधता की वजह से है। छोटे कथानकों जैसी प्रसंग मितव्ययता नहीं है हालाँकि कथा की मूलधारा बहुत क्षीण और अल्प है। इतने

छोटे कथा परिवृत्त मे बडे कथानकों जैसे विस्तार का दूसरा कारण शिल्प की मिश्रित शैलियो का प्रभाव है। परन्तु इससे ही मिलता जुलता एक अन्य कारण यह है कि 'वस्तु चेतना' और प्रस्तुतीकरण की नई विधि का मिश्रित रूप कथा मे विस्तार के आभास की सभावनाएँ देने वाला होता है।

अज्ञेय की कथाओ का समग्र प्रभाव काव्यात्मक प्रभाव जैसा होता है। 'शेखर : एक जीवनी' की समग्र वस्तु भी काव्य वस्तु के ज्यादा निकट है, यदि प्रसगो की घटनात्मकता अलग कर दी जाय तो अज्ञेय की इस कथावृत्ति मे केवल दो विधाएँ शेष रह जाती है—एक गद्यकाव्य के निकट है और दूसरी निबन्ध के निकट। दोनों खण्डों मे आकारगत विराटता होते हुए भी कथा की क्षीणता और मिश्रित विधाओ के प्रभाव के फलस्वरूप भी अज्ञेय की इस कथाकृति को शास्त्रीय दृष्टि की महाकाव्यीय शैली और कथा के अनुरूप कोई कृति नही माना जा सकता। अपनी वैचारिक असम्बद्धताओं को प्रस्तुतीकरण की सजगता के साथ प्रस्तुत करने पर 'शेखर : एक जीवनी' मे 'महाकाव्यीय गरिमा' नहीं है। पहले ही यह माना जा चुका है कि *'शेखर : एक जीवनी' मे शास्त्रीय अनुक्रम की कथाकृति होने के गुण विद्यमान नही है* किन्तु जहाँ जहाँ कथा मे व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ आई हैं, वहाँ वहाँ एक भ्रम जरूर रहता है कि लेखक का मतव्य 'महान' आधारो पर 'महान' की गरिमा प्रस्तुत करना रहा होगा। किन्तु यह भ्रम तुरन्त खत्म हो जाता है जैसे जैसे शेखर एक जीवनी में विश्लेषण (वैज्ञानिक + मनोवैज्ञानिक) की प्रवृत्ति द्वारा मनुष्य मन के अन्तस्तल की भाँकियाँ दीखने लगती हैं। सीधे-सीधे इस सवाल का उत्तर देना कठिन है कि 'शेखर : एक जीवनी' कथा की दृष्टि से किस तरह का उपन्यास है; किन्तु शेखर की कथा की बनावट को लेकर यह तो आसानी से कहा जा सकता है कि उसकी कथा—नियोजना अनेक प्रभावों की सम्मिलित नियोजना है। वह 'कथादृष्टि' से एकदम कोई नया प्रयोग हो ऐसा नहीं कहा जा सकता किन्तु कथा प्रयोगो की परम्परा से हट कर किया गया प्रयोग है जिसमे प्रस्तुतीकरण की नवीनता है। इन नवीनताओ के उदाहरण भाषा प्रयोगों से लेकर मनोविश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा पात्रों के अन्तर्मन की भाँकियो के रूप मे विद्यमान हैं। 'शेखर एक जीवनी' की 'कथा' को उस 'परिमाप' की पकड का माध्यम कहा जा सकता है जिसका एक खास रूप लेखक की 'मनोवृत्ति' के रूप मे भूमिका मे उपन्यास मे उपस्थित व्याख्याओ (विचार-व्याख्याओ) मे फैला हुआ है। वह फैलाव इतना ज्यादा है, कि उन 'अनुमान' का रूपाकन होने की बजाय उसकी प्रत्येक सन्तुलित अन्विति का रूप न देखे जाने वाली स्पष्टता से अस्पष्टता मे बदल गया है। कथा मे अस्पष्टता का यह रूप किसी हद तक कलात्मकता का वाहक बन सकता है, किन्तु 'शेखर : एक जीवनी' में अस्पष्टता का यह रूप एक सूक्ष्म भाव तन्तु का व्यापक प्रसार बन कर आया है।

'शेखर : एक जीवनी' मे जिस दुनिया को लेखक ने रचा है, वह कई स्तरो पर अपनी भिन्नता के साथ जीवित है। यहाँ तक कि वह प्रमुख पात्र शेखर, शशि आदि

में, उनके जीवन के परिणामों के रूप में विद्यमान है। बाल जीवन से किशोर जीवन के सभी प्रसंगों में एक सामान्य स्तर विद्यमान है, किन्तु बाद में क्रान्तिकारी दर्शक के रूप में या प्रेमी के रूप में या एक नैतिकतावादी उपासक के रूप में शेखर दूसरी ही दुनिया का व्यक्ति लगता है। जहाँ एक ओर ऐसी भी प्रसंग कथाएँ हैं जिनमें फूलों का प्रसंग, रसोइयों का प्रसंग है तो केले के बेड़े पर बहने की आरम्भिक रोमांटिक आकांक्षाएँ भी हैं। यही नहीं नदी में चिट्ठियाँ बहाना, कविताओं के संग्रह पर स्वयं को 'प्रकृति का पुत्र' लिखना और उस स्थान पर पिता द्वारा संशोधन उपस्थित किये जाने का प्रसंग कहीं न कहीं अपनी समग्र अस्वाभाविकता के साथ भी विश्वसनीय हैं, किन्तु कई प्रसंग ऐसे भी हैं जिनमें विश्वसनीयता नहीं है। जो लेखक की अपनी विलक्षता की रचनाएँ हैं। शेखर की 'दुनिया' में सबसे अधिक कलात्मक दुनिया उसकी अपनी अबोध स्थितियों की है और वय प्राप्त हो जाने पर महत्वपूर्ण 'प्रणय' की है जिसकी 'स्वीकृति' यथार्थरूप में नहीं मिलती बल्कि अन्यत्र भावुकतापूर्ण—रोमांटिक स्तर पर बंगला 'उपन्यासों' की परम्परा की मिलती है। और कुल मिला कर महत्व-पूर्ण किस्म की भाव कथा है जिसकी स्थिति सर्वत्र एक सी नहीं। 'शेखर ने अपनी स्मृतियों आदि के माध्यम से प्राप्त 'अतीत' को 'भाव' कहा है—'इन्हें स्मृतियाँ कहना स्मृति के अर्थ को कुछ खींचना ही है। क्योंकि ये सब मुझे इस रूप में याद नहीं हैं, बल्कि इनको तथ्य याद ही नहीं है, जब मूल की ओर देखता हूँ तब वे चित्रों के रूप में मेरे सामने नहीं आते। केवल वे भाव जो मैंने अनुभव किए हैं, वह विशेष मन-स्थिति जिसे लेकर मैं किसी दृश्य में कभी भागी हुआ था और ये जो चित्र मैं खींचता हूँ ये उन्हीं मन स्थितियों को लेकर उन पर निर्मित हुए छायापट मात्र हैं।' सारे स्मृति संयोजन को इस स्पष्टीकरण द्वारा विशेष मन स्थितियों की भावप्रतिच्छवियाँ मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। परन्तु स्मृतियों का क्रम जिस रूप में आया है, उसे लेकर भाव कथा को किसी भी 'निर्मिति' को मूल कथा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उपन्यास की बाहर से दीखने वाली दुनिया के ठीक समानान्तर शेखर के अन्तर्मन की भी एक दुनिया है, जिसकी अपनी प्रकृति है तथा जिसकी अपनी ही प्रतिक्रियात्मक गति भी है। 'शेखर एक जीवनी' में एक ही मूल की ओर आती हुई कहानियाँ हैं, इस दृष्टि से वह अन्य उपन्यासों से भिन्न है, क्योंकि अन्य उपन्यासों में सारी कथाएँ एक मूल से निकल कर बाहर की ओर जाती हैं, जबकि शेखर एक जीवनी में शेखर के माध्यम से सारी कथाएँ या प्रसंग कथाएँ शेखर के भीतर जाती हैं, चाहे वे पूरी कथाएँ न हों, चाहे टूटी हुई हों किन्तु उनकी गति अन्दर की ओर जाने की है।

'शेखर एक जीवनी' खण्डित चित्रों की कथा है जिसमें कथात्मक एकता का सर्वथा अभाव है। जीवनी, संस्मरण, डायरी और कथात्मक विवरणों की अन्य मिश्रित प्रभाव-पद्धतियों के प्रयोग से 'शेखर एक जीवनी' में शिल्पगत प्रभाव तो आया है किन्तु वह प्रभाव बिखराव का ज्यादा है। स्मृतियाँ, स्वप्न, संयोग, स्मृति, साहचर्य,

यात्रा, प्रकृति-साहचर्यों से 'पूर्वदीप्ति' के प्रकाश में झिलमिलाने वाली शेखर की कथाएँ 'खण्डचित्रों' का सयोजित अल्बम लगती हैं। उसकी झिलमिलाने वाली एकता में बाधा उन वैचारिक व्याख्याओं से पड़ती है जिनकी सम्बद्धता इन कथाओं से कम है। परन्तु वैचारिक स्थापनाओं में कुछेक ऐसी जरूर हैं जो 'शेखर' के कवि व्यक्तित्व के अनुकूल हैं, बल्कि कहीं-कहीं वे अनुकूल ही नहीं वातावरण या परिवेश के रूप में आई हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि इस कथा के माध्यम से लेखक जो कहना चाहता था कि उसका वह अभिप्रेत ये व्याख्याएँ ही हैं यह एक ऐसा सवाल है जिसमें हट कर शेखर का कोई मूल्यांकन सभव नहीं है। बल्कि कहा जा सकता है कि सवाल को जानने की प्रक्रिया में हम 'शेखर : एक जीवनी' में अंकित वैचारिक परिवेश की सार्थकता भी जान सकते हैं। दरअसल 'कथा' के माध्यम से लेखक ने 'नये सामाजिक सम्बन्धों' की व्यक्तिवादी परिधि की वकालत की है। वह चाहे माँ से सम्बद्ध हो या पिता के सामने अपनी स्थिति की 'स्वच्छन्द' कामना हो, या वह लोगों का नेतृत्व करने और सच्चाई के लिए लड़ने की नैतिकता हो किन्तु महत्त्वपूर्ण उसमें यही है कि वह 'शशि' के प्रसंग को लेकर उस सामाजिकता का अस्वीकार है जो सामाजिक सम्बन्धों के लिए बहुत बड़ी चुनौती भी है। निम्नलिखित अवतरण की अंतिम पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—'शशि, शक्ति मेरे पास रही है, पर मैंने उसे जाना नहीं, आजीवन मैं विद्रोही रहा हूँ यह बराबर मैं अपनी विद्रोही शक्ति को व्यर्थ बिखेरता रहा हूँ···एक दिन तुम्हारे ही मुख ने मुझे यह दिखाया—बताया कि लड़ना स्वयं साध्य नहीं है, लड़ने के लिए लड़ना निष्परिणाम है। विद्रोही किसी के विरुद्ध होना चाहिए—ईश्वर, समाज, रोग, मृत्यु, माता, पिता, अपना आप, प्यार कुछ भी हो जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सके,···तब मेरे विद्रोह को धार मिली—वह विरुद्ध हुआ···मैं प्रतिद्वन्द्वी हुआ···। किन्तु वह आधा ज्ञान था इसलिए मेरा विद्रोह भी आधा था···फिर-फिर तुम्हीं ने सिखाया कि विरुद्ध लड़ना ही पर्याप्त नहीं है···मैंने देखा, सर्वत्र कलुष है, ह्रास है, पतन है—कि एक अकेला समाज ही नहीं आमूल जीवन दूषित है—ईश्वर, मानव, सब कुछ···आमूल दूषित-दूषित और सड़ा हुआ, विरुद्ध लड़ने के लिए कुछ भी नहीं है। या सब कुछ है, जो कि एक ही बात है—'मिट्टी को काटा जा सकता है, पर दलदल को नहीं, उसमें धसना ही धसना है··· किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है, किसी के लिए लड़ना भी जरूरी है।' दरअसल यह 'लड़ना' उस 'सामाजिकता' के खिलाफ है जिसके लिए शेखर का 'व्यक्ति' खुद को तैयार करता है। सामाजिक सम्बन्धों की यह लड़ाई व्यक्ति की सुख सुविधाओं की खोज की लड़ाई है। यह कितना हास्यास्पद है कि ऐसी लड़ाई को, समय के सुविधावादी ढाँचे में रचनाकार 'विद्रोह' और 'विद्रोही' के रूप में प्रस्तुत करता है। एक जगह 'अज्ञेय' ने लिखा है कि 'विद्रोही बनते नहीं हैं उत्पन्न होते हैं'; किन्तु दूसरी जगहों पर 'शेखर' के व्यक्तित्व में बनने की प्रक्रिया के लिए 'शशि' के सहयोग की भावुकतापूर्ण स्वीकृतियाँ भी की हैं।

अतिरिक्त गरिमा से अभिमण्डित करने की शास्त्रीय परिपाटी की शक्ल 'शेखर

एक जीवनी' में है। 'मैं नहीं चाहती कि तुम मानव कम होओ शेखर, किन्तु, अगर तुममें क्षमता है, तो उससे बड़े होने की अनुमति-स्वाधीनता मैं तुम्हें सहर्ष देती हूँ,—इस वाग्जाल या इसी तरह के कथनों से शेखर को 'गरिमा' की उस आदर्शवादी सीढ़ी की झलक दिखाकर शशि वस्तुतः 'शेखर' को उतना बड़ा मान बैठी है। यह बड़ा मानना ही एक ऐसी भूमिका है जिस पर 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर का नायकत्व बहुत खोखला, शिथिल और अकर्मण्य लगता है, वह जिस सामाजिकता से दूर होना चाहता है—उसमें सिर्फ अपनी शिथिलताओं की वजह से दूर होता है, और जिस दुनिया में पहुँच जाता है, वह दुनिया कविता और कला की एक ऐसी दुनिया है जिसमें शब्दों की अचिन्त्य-खूबसूरती विद्यमान है। दरअसल 'शेखर : एक जीवनी' का जीवनी *संस्मरणात्मक प्रबन्ध या उपन्यास होने से कोई मतलब नहीं है, वह एक ऐसी रूमानी* भावोच्छ्वास की कविता है जिसमें उतरते मध्यकाल के विलास की झलकियाँ भी देखी जा सकती हैं तथा जिसमें नई दुनिया की ज्ञान विज्ञान सम्मत, स्थितियों के प्रसंगों का विवरणात्मक आदर्श भी देखा जा सकता है। जो अपने समय संदर्भों की सुविधा से 'गरिमा' के पद की स्थापना भी करती हैं तथा उस दुरूह यथार्थ से भी कतराती हैं जो संघर्षमय जीवन को विलास के जीवन से हमेशा अलग रखती है। गरिमामय अभिजात की संघर्षमय गाथा में विलास की एक लम्बी भावुकतापूर्ण रूमानी कथा है, लगता है सारे विद्रोह, सारी घृणा और सारे गुस्से का शमन उस एक बिन्दु पर हो गया है जहाँ शेखर के लिए शशि के प्रति एकात्मक प्रेमजन्य मानवीय भाव उदित होता है। वह मानवीय भाव जिससे ऊपर उठाने की प्रेरणा का काम खुद शशि करती है। समीक्षकों ने 'शेखर' के मानवीय रूप का भाववादी रूपों और गांधी जी के सुधारवादी *नैतिक पुनरुत्थान के समकक्ष देखा है, जब कि मैं इस मानववाद को* एकान्त रूप से व्यक्तिवाद से जोड़ता हूँ। मुझ पर यह आरोप लगाया जा सकता है, कि मैंने 'शेखर : एक जीवनी' के अब तक के बिम्ब को उन तथ्यों के आधार पर खंडित करने की कोशिश की है जिन्हें लेकर कोई बहस नहीं हुई है। इसीलिए मैंने प्रारम्भ में स्पष्ट किया था कि अब तक 'शेखर : एक जीवनी' को लेकर जो चर्चा हुई भी है वह 'स्वागतगान' ज्यादा लगता है। समीक्षा या मूल्यांकन और स्वागतगान में फर्क है, और जब इस फर्क की चेतना उपन्यास के सिलसिले में साफ समझ आ जाती है तब शेखर के नायकत्व से लेकर उस पूरी 'कथायात्रा' में शेखर के वैचारिक-लोक का खोखलापन ज्यादा स्पष्ट हो जाता है।

'शेखर : एक जीवनी' के विस्तृत कथानक में तीन मुख्य दृश्य हैं। एक शेखर का बाल किशोर जीवन, दूसरा जेल जीवन तथा तीसरा शशि प्रसंग, जिसमें लगातार शेखर को जानने की खोज (अर्थात् शेखर का जिज्ञासु रूप) जागता रहता है। कथानक अहमन्य शेखर जिस कुलीनता के संस्कारों से ग्रस्त है, उसमें टूटकर वह सोचने की प्रक्रिया में आता है। जेल में मदनसिंह के सम्पर्क में आकर शेखर कहता भी है, 'आपकी बातों से अभी ही कई प्रश्नों का उत्तर मुझे मिल गया जिन्हें पूछने का साहस मुझमें नहीं था। मालूम होता है कि अहंकार स्वाभाविक होता है, विनय सीखनी पड़ती है।

बचपन से लेकर अपने युवा जीवन के प्रत्येक प्रसंग में सीखने की यह प्रक्रिया बदले हुए धरातलों में मिल जाता है। इसके अतिरिक्त इन सब प्रसंगों में बाहरी परिवेश की एकता भी परिलक्षित की जा सकती है। यह सीखने की प्रक्रिया के समानान्तर तो नहीं है किन्तु उससे हट कर यह 'शेखर एक जीवनी' को नगर जीवन के बोध का 'क्षेत्र' बनाती है। इस दृष्टि से यानी वातावरण की दृष्टि से 'शेखर एक जीवनी' क्षेत्रीय किस्म के उपन्यासों की कोटि का नहीं है किन्तु उसमें पात्रों के स्वभाव या जो परिवेश बनता है उसमें 'क्षेत्रीय' गुण है। प्रमुख पात्रों में शेखर और शशि तथा दोनों में पंजाब, दिल्ली के ऐसे परिवृत्त हैं जो शेखर की पजाबियत से अलग नहीं है। यह नहीं कि उसमें 'दो पत्तर अनारां दे' जैसे टप्पे शशि गाती है बल्कि इसलिए कि स्वभावत एक रक्षता जो जातिगत क्षेत्रगत विशेषता है काव्यमय अंशों के बीच भी विद्यमान रहती है। यह उपस्थिति 'शेखर एक जीवनी' के भीतरी रेशों को क्षेत्रीय रंगों से परिपूर्ण कर देती है।

जातिगत विशेषताओं के इन हल्के रंगों से 'शेखर एक जीवनी' को वातावरण के रंग का उपन्यास तो नहीं माना जा सकता, किन्तु उसकी जीवन्तता का एक अंग अवश्य माना जा सकता है। दरअसल जो रंग 'शेखर . एक जीवनी' पर ज्यादा चढ़ा हुआ है। वह उसका भावुकतापूर्ण परिवेश है। और उस भावुकताजन्य सृष्टि का साधन 'शेखर' का कवि प्रस्तुत करता है। शेखर भावुक कवि और सवेदनशील व्यक्ति है। उसके कवि का परिचय उसकी बालाकाक्षाओं तक से मिल जाता है, किन्तु उसके कवि व्यक्तित्व का प्रस्फुरण बहुत बाद में जाकर होता है जब वह सारे सम्बन्धों के प्रति चेतन हो जाता है और खुद उन रहस्यों को जान लेता है जिसे लेकर वह अपने किशोर जीवन में वर्षों प्रताड़ित रहा है। शेखर कहता है, 'मैं घृणा के ससार से इतना कुचला गया हूँ कि प्यार मेरा अपरिचित हो गया है, लेकिन कल्पना की आँख से जब देखता हूँ, शिशिरकालीन फीकी चाँदनी में गेहूँ के पके हुए खेतों में से कोई स्वर अपने प्रियतम को बुलाता है तब मेरे हृदय में कोई सुप्त प्रतिध्वनि जागकर कहती है, तुमने भी कभी प्यार पाया है,' किशोर हृदय की यह काव्यमय आकाक्षा शुद्ध ऐन्द्रिक बिम्बों में व्यक्त हुई है। 'शेखर एक जीवनी' में काव्य बिम्बों का यह कृत्रिम और अकृत्रिम आलोक सर्वत्र फैला हुआ है। कहा जाय तो 'शेखर . एक जीवनी' की उपलब्धि चर्चा का यही प्रथम और अन्तिम सोपान है किन्तु उपलब्धि चर्चा के लिए वे ही अंश मान्य हो सकते हैं जिनमें अकृत्रिमता हो। उदाहरण के लिए 'शेखर · एक जीवनी' का अन्तिम अंश लिया जाय उसमें अकृत्रिम काव्यत्व है—प्रणाम यमुना, प्रणाम पूर्व दिशा, प्रणाम वैशाख के फूले हुए पलाश और बबूल, प्रणाम झाऊ के उदास मर्मर और धूल के बगूले, प्रणाम दो पैरों से दो लाख बार रौंदे हुए रेतीले नदी-तट, प्रणाम बही हुई मुट्ठी भर राख·· मैं सोचता था यदि ऐसा न होकर वैसा होता और वैसा होता, और वैसा होता तो पर आज सोचता हूँ कि नहीं, आज लगभग माँग रहा हूँ कि यदि फिर ऐसा कुछ हो तो छाया, हम-तुम भी ऐसे ही हों—अलग पर सदा एक दूसरे की ओर अग्रसर होने में सचेष्ट साधारण अभिधा में गैर पर वास्तव में अखण्ड

विश्वास में बचे, धमनी के एक…'। कहा जा सकता है, कि यह काव्यत्व शेखर का भावुकतामय प्रलाप है किन्तु इस प्रलय की काव्यमयता या बिम्बधर्मिता कुछ ऐसे स्वभाव की है कि उसकी उपेक्षा सहज में ही नहीं की जा सकती, 'वह आत्मा विचरती है अपने वनों में, जहां उसका स्वर्ग है अबाध,' जैसी पंक्तियों में 'वाक्य रचना' और और शब्द-नियोजना भी कविता जैसी है। चाहे वह दृश्य अर्थत्व से परे हो, किन्तु उसका परे होना ही 'काव्यत्व' की वह गरिमा प्राप्त कर लेना है जिसके लिए छायावादी काव्य प्रसिद्ध रहा है। छायावादी कवि की रूमानी सृष्टि का 'काव्य संसार' 'शेखर एक जीवनी' का मूल काव्य संसार है। सच यह है कि उस काव्य-संसार में शेखर ज्यादा जुड़ा हुआ है, इसलिए दूसरे प्रसंगों में शेखर स्वाभाविक नहीं लगता, कम-से-कम उन प्रसंगों में जहाँ वह *'विद्रोह' या क्रान्ति की 'घटनात्मक तीव्रता'* में खुद को जोड़ता है। बल्कि एक जगह तो वह सारी 'क्रियाशीलता' से अपने लौटने की स्वीकृति भी देता है, 'मुक्ति की खोज में पहले वह उन वस्तुओं में उलझा जो स्थूल थीं, जिन्हें वह देख सकता था, और उनसे हारकर वह कल्पना के क्षेत्र में गया……'। हालांकि इस लौटने की प्रक्रिया में 'निराश होकर वह फिर यथार्थता में, स्थूल और प्रत्यक्ष में लौट आया' किन्तु यह लौटना 'समय के दबाव' की ऐसी विवशता थी जिसे तत्काल 'शेखर' या 'शेखर' के समय का कोई भी प्रबुद्ध नवयुवा भी स्वीकार नहीं कर सकता था, किन्तु अन्त में शेखर फिर वहीं लौट आता है, *उस कल्पना जगत में,* जो ज्यादा मोहमय, आकर्षक और शान्त है। वहां जहाँ वह दृश्य बिम्बों की एक लम्बी कतार के प्रति, उस यथार्थ के प्रति भी काव्यमय है—दिन, दोपहर, सांझ, रात प्रत्यूष, ज्वर, प्रस्वेद, क्लान्ति, स्निग्ध, ताप, कँपकँपी, ज्वर, स्नेह-स्तत्य हाथ, ज्वर, प्रस्वेद, शैथिल्य, होलियों की हवाएँ, स्निग्ध-शीतल, अनवरत पतझार, छिटपुट रुई के गाले से सफेद *बादल, आवारे, विचित्र, निर्मोही, धूल-धूसर बरसात, डाक्टर, राख भरी चिलमची,* चार्ट और बोतलें, फलों का रस…मौसी की ओर से मौसा के हाथ की लिखी हुई चिट्ठी—माँ की आँखों में घोर कष्ट है इसलिए वे स्वयं नहीं लिख रहीं—आदि विवरण देखें तो तो हम पायेंगे कि इनमें भावों के सकेन्द्रण का जो क्रम है, वह कविता की रचना विधि का है। यही नहीं एक ही शब्द की पुनरावृत्ति भी इसी स्तर की है, जिससे काव्यभाव के वैशिष्ट्य की गरिमा का सत्यापन किया जाय। इसमें आश्चर्य नहीं कि इस छोटे से विवरण से छायावादी काव्य के शब्द का *संसार भी आलोकित हो उठता है, प्रस्वेद या स्निग्ध या अनवरत पतझर, या* रात प्रत्यूष या क्लान्ति या स्नेह-स्तत्य आदि ऐसे प्रयोग हैं जो छायावादी काव्य के प्रयोग कहे जा सकते हैं। शब्द या वाक्यों की आवृत्ति संगीत के टेक जैसी भी मिलती है किन्तु उसका प्रभाव निःसन्देह दूसरी किस्म का होता है—'ये मेघाच्छन्न आकाश प्रकाशहीन सायंकाल, पर्वत अचल ……और उड़ते-उड़ते सहसा पर टूट जाने से बिछड़ गिरता हुआ अकेला ही एक पक्षी जो गिरता है और फिर अपनी उड़ान अपना स्थान पा लेने के लिए छटपटा रहा है—'। वस्तुतः ऐसे प्रयोग कविता में भावातिरेक की अभिव्यक्ति के लिए किए जाते हैं। छायावादी काव्य में इस तरह के

प्रयोग दो सिद्धियाँ करते हैं, एक तो वे भावातिरेक को व्यक्त करते हैं दूसरे छायावादी काव्य-सौन्दर्य की अपनी पद्धति की सिद्धि में सहयोगी होते हैं। 'क्रमशः ठिठुरते और संकुचित होते हुए दिन का फीकापन उसके भीतर जम गया, पर उसके बिना भी शेखर के अन्दर पर्याप्त अन्धकार था · अन्धकार और एकान्त-निलिप्त शून्य-विविक्त अनासक्त अन्धकार · किसी चीज मे कोई अर्थ नही है, सब कुछ एक परिणाम है जिसका आधारभूत तथ्य खो गया है··· कारण से कार्य है, पर उद्देश्य न कारण का है, न कार्य का, अनुद्देश्य ही सत्य है, अनुद्देश्य भ्रान्ति, भटकन'—जैसे प्रयोगों मे एक साथ स्वादानुभव का बिम्ब है जो विचार बिम्बो मे सचरण कर एक मिश्रित प्रभाव छोडता है। 'सप्तपर्णी, मैं कुछ नही मानता। यह मिट्टी शायद अनुर्वर ही है, पर तुम्हारी छाह मे यह साँस उसे छूती हुई चली जाती है, उसे और कुछ नही चाहिए, वह जीती है।···एक सीमा होती है, जिसमे आगे मौन स्वयं अपना उत्तर है, और सब जिज्ञासाएँ उसमें लीन हैं, क्योंकि वह परम प्रश्न है··· न जाने कब और कैसे शेखर की बाहरी शिथिलता उसके भीतर समा गई और वह सो गया। थोड़ी देर बाद बिजली कड़कने से कुछ चौंक कर वह जागा, पर वह जागरण तन्द्रिल व्यामोह से आगे नही बढा, और ऊपर छाये हुए सप्तपर्णी के सांचे प्रच्छन्न आश्वासन में फिर तल्लीन हो गया केवल एक बार जैसे उस द्रवित अवस्था में जीवन के ठोस ज्ञान ने व्याघात डालना चाहा···।' 'इस काव्य विवरण' मे रचनाकार ने एक ऐसी स्थिति को बाँधा है जिसे दृश्य-शब्दो मे ठीक तरह से भावबद्ध नहीं किया जा सकता; किन्तु कहीं-कहीं यह सारा काव्यत्व अपना अर्थ खोकर सामने आया है, तब उसमें वह 'गरिमा' नही हैं जो छायावादी काव्य-शिल्प की गरिमा है। 'सप्तपर्णी के प्रतनु, लचकीले, पर उदग्रीव गाछ को देखकर शेखर का हृदय हठात् एक कृतज्ञ आशीर्वाद-भाव से उमड़ आया। खिड़की के चौखट में जड़े हुए उस विमुख आकार को सिर से पैर तक एक वत्सल दृष्टि से छूकर उसने मन-ही-मन शब्दहीन प्रार्थना की, और प्रतीक्षा करता रहा कि आलोक की पहली किरण शशि की आकार-रेखा को कुन्दन से मढ दे···'भावुकता सिंचित ऐसे अंशो में काव्यत्व की गरिमा नही है बल्कि एक प्रसंगहीन अनावश्यक विवरण है।

काव्यमय अंशो मे व्यक्तित्व की एक अन्तर्धारा चलती है। यह अन्तर्धारा कभी कभी उन आयामों को भी पकड़ती है जो शिल्प मे चमत्कार की सृष्टि कर पूरी अर्थधारणा को बदल देती है—'बदली और शीत, किन्तु दिन के प्राण सुन्दर हैं—सुन्दर और स्निग्ध, सद्यःस्नात···वह कवि···होता, तो आज के दिन की आत्मा को स्वरो की तूलिका से आंक लेता, चित्रकार होता तो उसका चित्र खींचता, मूर्तिकार होता तो स्फटिकशिला मे उसके प्राण को बाँध कर अमर कर देता—अमर नहीं, अमर तो वह स्वयं है, उसके आकार को मूर्त की परिधि में ले आता···क्योंकि आनन्द का आकार भी अवश्य होता है, जो बोध की अंगुलियों से छूआ जा सकता है—अगर वह आकार मूर्त नही है, तो वह केवल शिल्पकार को रूप-सज्जा की स्वच्छन्दता देता

है—आकृति और उत्कण्ठा दासियाँ बनकर उस रूप को सवारती है'··· दस्तुत. यह स्पष्टीकरण 'विचार' की उस यात्रा का बोधक है जिस पर चलकर शेखर ने अपने लिए कुछ स्वीकार किया है। वह स्वीकार कवि या लेखक को स्वीकार है जो प्रत्येक दृश्य मे खुद के लिए कविताएँ चित्रित देखता है—'पूर्व मे एक दिव्य दीप्ति, घुलती हुई धुंध, शीतल समीर, हँसते हुए ओस-कण, मान करती हुई सी मालती-कलियाँ, पागल गुंजार करते हुए भौर, जगल पर होकर बस्ती की ओर उड़ते हुए अमन्द पक्षी—मैं कल्पना मे इन सबको देख सकता हूँ, अपनी कोठरी की नगी दीवार पर बिखरे हुए लाल प्रकाश के एक चौकोर टुकड़े मे······।'

'शेखर एक जीवनी' मे 'काव्यत्व' से मिलता जुलता 'दर्शन' या 'विचार' का वह आरोपित ससार भी है जो बड़े प्रसगो मे अपनी सार्थकता का दावा भी करता है। वह ससार है 'मृत्यु' के दर्शन का और वेदना के दर्शन का—'वेदना मे एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना मे है वह दृष्टा हो सकता है—।' वस्तुत यह कहना कि 'शेखर' का यह दार्शनिक मुखौटा नही 'सच' भी है, शेखर के जीवन मे उसके होने पर सन्देह करना है। 'शेखर'—जैसे हम उसे 'शेखर · एक जीवनी' मे जानते है इस 'आरोपित' ससार का 'पुर्जा' है। मदनसिंह के चरित्र मे जो कुछ है, वह शेखर से एकदम भिन्न है। जब मदनसिंह का वैचारिक रूप 'शेखर' मे प्रवेश करता है तब 'शेखर' और ज्यादा बनावटी लगने लगता है। मदनसिंह अपने मानसिक स्थैर्य को एक दार्शनिक उपलब्धि के रूप मे प्रस्तुत नही करता अपितु वह खुद कई पहलुओं पर सोचने के बाद, उन्हे खुद देखता है—वह शेखर से कहता है—'आपने किताबो मे पढा होगा, जब घर मे स्वच्छ हवा का सचार करना होता है तब केवल हवा निकलने के मार्ग बनाए जाते है। प्रवेश उसका अपने आप हो जाता है। जब आप साँस लेते है तब उसे निकालने मे जोर लगाते है, फिर फेफड़े भर अपने-आप जाते है। इसको सूत्र मे बाँधकर वैज्ञानिक कहते है कि शून्य प्रवृत्ति को नापसन्द है। हाँ, यह सूत्र आपको याद आया दीखता है। मेरा सूत्र यह है कि सबसे आवश्यक देवता रुद्र है। ब्रह्मा तो आवश्यकता-अनावश्यकता के फन्दे से परे है। हमे विनाश के गणों की रचना करनी होगी, सृजन, जन्म आपके शब्दो मे रचनात्मक चीज है—क्षति-पूर्ति स्वयभू है। यह मेरा दृढ विश्वास है। इसलिए मैं आज सहारकारी युग मे भी मानव के भविष्य मे विश्वास करता हूँ—भविष्य वर्तमान की क्षति-पूर्ति है, इसलिए वह स्वयंभू है, उससे निस्तार नही है, मदनसिंह की यह विचारधारा किसी 'व्यक्तिवादी' आवेग की विचारधारा नही है। मदनसिंह एक प्रसग मे कहता है—'प्रश्न अवश्य सामाजिक था है। मुझे दीखता है कि हमारा भारतीय जीवन और दर्शन अन्तर्मुखी और व्यक्तिवादी है—जैसे हम मुक्ति का साधन यही मानते हैं कि जहाँ तक हो सके अपने को समाज से अलग खींच लें और आत्मान विद्धि'। हम व्यक्तिवाद का परिणाम है कि हम पाप पुण्य भी व्यक्तिगत ही समझते हैं। तभी तो हमारे धर्मात्मा लोग साँपो को दूध पिलाना भी पुण्य समझते हैं। सामाजिक दृष्टि से यह हिंसा है···। खासकर हम लोगों को अपने

आदर्शों में सुधार की जरूरत है क्योंकि हम नीचे हैं।···भेड़ों की तरह झुण्ड बाँधकर तो भेड़ चाल चलनी पड़ेगी। भेड़ चाल का नाम सभ्य संस्कृति है।'

मदनसिंह कोई पूर्ण चरित्र नहीं है। यह भी नहीं कि मदनसिंह का विचार-जगत 'शेखर' से एकदम अलग है। दरअसल धीरे-धीरे मदनसिंह के विचार को 'यातना' के स्वनिर्मित दर्शन से जोड़कर शेखर का रचनाकार अपनी सिद्धि प्राप्त करता है और वह सिद्धि है यथार्थ से दूर एकान्त व्यक्तिवाद के आधार पर 'दुःखवादी' दर्शन की अपनी व्याख्या प्रस्तुत करना। यह नहीं कि बुद्धदेव का यह 'दर्शन' किसी नये सामाजिक संदर्भ में अर्थ ग्रहण कर रहा हो बल्कि यह अपने समय के कई सुविधा-वादी विचारों के साथ मिल कर नये व्यक्तिवादी यातना के दर्शन के रूप में प्रस्तुत होते हैं। मदनसिंह, शेखर और शशि तीनों रचनाकार की रचनाएँ हैं, वह उनमें से अपनी सिद्धि के लिए चुनकर अन्त में जो वैचारिक अवधारणा प्रस्तुत करता है, वह अवधारणा 'कर्म' के शाब्दिक अर्थ तक सीमित है, शेष उसमें सिर्फ उस बृहत्तर गरिमा-खण्ड की आकांक्षा है जो असाधारणता के छद्म से परिपूर्ण होती है। और वह असाधारणता व्यक्ति वेदना की गरिमापूर्ण व्यंजना में ही मिलती है। क्रान्तिपोषक मदनसिंह यह कहने पर विवश है कदाचित लेखक के हाथों—'संसार मुझे हँसता ही देखे, पर ऐसे भी दर्द होते हैं जो अभिमान से भी बड़े हों। यही मैं आज सीख रहा हूँ—अच्छा हुआ कि इतना तीखा दर्द मुझे मिला।' और अन्तिम सूत्र—'अभिमान में भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है'। बन्दी ऋषि मदनसिंह जिस यातना से 'विश्वास' की खोज के सूत्र की स्थापना कर गये वह 'शेखर' के लिए दर्शन की एक ऐसी सीढ़ी हो जाती है जो आत्मा की शुद्धि का प्रकाश फैलाती है। गाँधीवादी आत्मशुद्धि की तरह नहीं, बल्कि शेखर की व्यक्तिगत उपलब्धि की तरह—'दुःख की छाया एक तरह की तपस्या ही है, उससे आत्मा शुद्ध होती है।' आत्मा ही शुद्ध नहीं होती बल्कि वह 'यातना' (दुःख) आत्मगौरव का साधन भी बनता है। 'बन्दी एक दिन आयेगा जब तुम आज की इस यातना के गौरव के लिए अपनी दाहिनी भुजा देने को तैयार होगे—इतना बड़ा है यह गौरव—।' परन्तु वह यातना और वह गौरव शशि के प्यार की 'कला' में दूसरा ही आयाम ग्रहण कर लेता है। वह आयाम 'भावुकतापूर्ण प्यार' के समर्पण का आयाम है—'प्यार कला भी हो सकता है, शेखर, वह आदर्श बुरा नहीं है, कल्याणकर है, मैं मानूँगी, पर मेरे लिए वह कला से भी अधिक अन्तरंग और जरूरी हो गया था—इसे अहंकार से नहीं कहती, अपनी लाचारी मानती हूँ—कला का आनन्द संयत आनन्द है मैंने अपना समूचा व्यक्तित्व, समूचा दाह एक ही बार स्नुवा में भर कर उंडेल दिया—वह संयत नहीं था, इसलिए शायद, आनन्द भी नहीं हुआ—यद्यपि इतनी बड़ी वेदना हुई कि उसे ट्रेजेडी भी नहीं कह सकती।' शशि का यह अन्तिम वाक्य अगर पूरी 'शेखर : एक जीवनी' के लिए व्यंजना मान लिया जाय तो कोई अयुक्ति नहीं है। 'शेखर - एक जीवनी' में 'त्रास' की समग्र गरिमा एक शैशव ज्वार है। वह उस गहराई से प्रतीकधर्मी नहीं बनता जिस गहराई से उसका आवरण रंगा हुआ है। वह रंग बाहर से लेखकीय हस्तक्षेप है।

'शेखर : एक जीवनी' की कलात्मकता का सबसे बड़ा 'ग्रहण' (छाया कलंक) उसकी भाषा है। वह गंभीर, छायावादी रूमानियत, काव्यमय गुण धर्मिता और विश्वधर्मी होने के साथ-साथ बेहद औपन्यासिक कथा-क्रम में बाधक भी है। वह 'शिल्पगत' शैथिल्य का प्रमाण तो है ही, उपन्यास को 'विश्लेषण' के भाव में भी अलग करने की कोशिश करती है। दरअसल यह तीसरी कोटि का 'निबन्धात्मक' रूप है जो अधिकांश स्थलों में उभरता है। इस तरह के 'निबन्धात्मक' अंश कहीं-कहीं तो हास्यास्पद हैं—'दूर से देखा जाय तो मानवता का सारा विकास ही कम से कम अभी तक यहीं है'—इसी तरह निबन्धात्मक भाषा के अन्य उदाहरण लिए जा सकते हैं। 'मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि कार्लमार्क्स उत्पन्न हुआ था या कि शैली ने संसार से कुछ नहीं सीखा या उसको अपने संसार द्वारा निर्मित नहीं हुआ, जितना कि उसने संसार को बनाया…'। यह विवरण २७-३१ पृष्ठों तक फैला हुआ है, इसी तरह पृष्ठ ३५ में, ५२ में १७१ में और अनेक पृष्ठों में यह 'निबन्धात्मक' प्रवृत्ति विद्यमान है, जो उपन्यास की कलात्मक अन्विति की एकसूत्रता को भंग करती है।

'शेखर एक जीवनी' कैसी भी कृति क्यों न हो, वह एक असफल कलात्मक आधारों पर असफल कृति होकर भी चर्चित है, शायद इसका कारण यही हो कि उसके मूल में लेखक की मंतव्य-वृत्ति (Intention) के होते हुए भी एक ऐसी अनन्त खोज विद्यमान है जो किसी कृति को 'रचना' के रूप में जड़ होने से बचाती है। वह अपनी समग्र अपूर्णता, खण्डित रूपरेखा में टूटी हुई निरन्तरता या खोज है—एक ऐसी खोज जो जीवनी के शिल्प में अन्तिम परिणति की ओर उन्मुख नहीं है। कई स्तरों पर अपनी असफलता के प्रमाण जुटाने वाली इस कृति में पुनर्मूल्यांकन की संभावनाएँ विद्यमान हैं—इसमें सन्देह नहीं।

मध्य वर्ग का विस्तार और अन्तर्विरोध[1]

—सुरेन्द्र चौधरी

हिन्दी कथा-साहित्य की केन्द्रीय धारा की ओर मध्य वर्ग का बार-बार मोड़ना एक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना है। इस अर्थ में ऐसा मानना गलत नहीं है, कि उपन्यास मध्य वर्गीय जीवन के विस्तार की विधा है, ठीक जैसे सामंती संस्कृति की विधा महाकाव्य था। 'भाग्यवती' से 'बूँद और समुद्र' तक भारतीय मध्य वर्ग का विस्तार अपने आप में अध्ययन का एक रोचक विषय हो सकता है। किन्तु प्रस्तुत समीक्षा में उनकी दूरियों को न तो मापना सम्भव है और न उनके रूपान्तरों को ही हर स्तर पर पहचानना संभव है। इसलिए यहाँ केवल मध्यवर्ग के विस्तार के एक काल-खंड की प्रक्रिया पर ही नजर रखी गई है, एक विशेष कृति के संदर्भ में।

प्रेमचन्द ने जिस भारतीय मध्यवर्ग का चित्रण अपने उपन्यासों में किया था वह अपने स्वरूप और विस्तार में श्री अमृतलाल नागर के मध्यवर्ग से भिन्न था। इतिहास के भीतर यह दूरी बहुत साफ-साफ दीखती है। अपने विस्तार के भीतरी अन्तर्विरोधों के साथ श्री नागर जी की कृति उस धारा के समीप है जो गिरती दीवारें, गर्म राख, पथ की खोज, झूठा-सच जैसी कृतियों में उपलब्ध हुई है। किन्तु इस धारा के भीतर होकर भी 'बूँद और समुद्र' का अपना अलग महत्त्व है। बूँद और समुद्र आजादी के बाद के भारतीय मध्यवर्ग पर लिखी गई पहली महत्त्वपूर्ण कृति है। श्री नागर जी प्रसक्त अथवा कल्पित आदेशों के कथाकार नहीं है। यही कारण है कि 'बूँद और समुद्र' एक साथ ही क्रोध-ममता-खीझ-गम्भीरता का समवेत किन्तु स्पष्ट, संयोजित वातावरण प्रस्तुत करता है। इस अर्थ में प्रेमचन्द के बाद भारतीय मध्यवर्ग का ऐसा समृद्ध द्वन्द्वात्मक स्वरूप दूसरे उपन्यासों में नहीं मिलेगा। सम्प्रति, भारतीय मध्यवर्ग की आन्तरिक परिस्थिति ऐसी नहीं है कि उनके भीतर हम जीवन की वस्तु स्थिति को सही-सही पहचान लें। पहचान की इस अनिश्चयता के भीतर 'बूँद और समुद्र' की कथा शुरू होती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की तरह कोई बड़ी और ऐतिहासिक घटना भी इस कथा-प्रवाह के केन्द्र में नहीं है। मगर इधर से घटना-

---

१. बूँद और समुद्र : अमृतलाल नागर

हीन लगने वाला मध्यवर्ग अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में बड़ी तेजी से बदलना हुआ दीख पड़ता है—उसके भीतर का अन्तर्विरोध तीखा हो गया है और खाइयाँ बढ़ती जा रही हैं। इस बदलते हुए परिदृश्य के भीतर अन्तराल पैदा हो रहे हैं और जीवन के अनाहत नैरंतर्य को हर स्तर पर बाधित करने लग गए हैं। ऊपर से प्रवाहन लगने वाली परिस्थिति भीतर से टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर रही है। इतिहास के अन्तराल में व्यक्ति डूबता जा रहा है। चेतना की सरहदों पर चलने वाली लड़ाई अचानक चेतना के भीतर चली आई है। प्रत्यक्षीकरण और बोध की यह नई समस्या उपन्यासकार को विवश करती है कि वह व्यक्ति-समुदाय के निरन्तर बदलते हुए जीवन की पुरानी पहचान को फिर से ताजा करे। वस्तुओं, व्यक्तियों, सम्बन्धों, स्थितियों तथा सम्प्रदाय के अन्तर्विरोधों से निरन्तर बदलती हुई वास्तविकता को फिर से आयत्त करे।

वास्तविकता की पहचान की समस्या इस काल-खण्ड के भीतर अनेक औपन्यासिक शैलियों को जन्म देती है। कुछ लोग व्यक्तियों के माध्यम से—संवेदनाओं की राह—वस्तु-स्थिति को पहचानने की चेष्टा कर रहे थे और कुछ लोग बड़ी निर्ममता से घटनाओं को व्यक्ति-समुदाय में बदल कर उसकी भीतरी संवेदना को इतिहास से जोड़ कर देखने की चेष्टा कर रहे थे। 'बूँद और समुद्र' में नागर जी ने दूसरी औपन्यासिक शैली अपनाई है। इस औपन्यासिक शैली के भीतर संभावनाएँ हैं यह तो इस कृति से ही स्पष्ट हो जाता है। घटनाओं को व्यक्ति-समुदाय में निर्ममता से बदल कर भी नागर जी व्यक्ति-संवेदना का सूत्र अपने हाथों से जाने नहीं देते। यही कारण है कि कभी कभी इस कृति को पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे समानान्तर औपन्यासिक शैलियों के संतुलन से नागर जी एक सर्वथा नई शैली गढ़ रहे हैं। व्यक्ति और इतिहास, घटना और संवेदना, काल-क्रम और तात्कालिकता के अन्तरावलंबन से बनने वाली यह औपन्यासिक शैली बदलती हुई वास्तविकता के भीतरी संघटन को पहचानने की एक ईमानदार और रचनात्मक चेष्टा है।

व्यक्ति और इतिहास को समग्रता में देखने वाली इस शैली की ओर हम लोगों की नजर गई है। व्यक्ति की राह इतिहास को आयत्त करने की एक असफल चेष्टा 'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय कर चुके थे। इतिहास के बीच घटनाओं की शिथिल अथवा क्षिप्रगति के साथ व्यक्ति को अदृश्य और निर्वैयक्तिक बना कर देखने के प्रयत्न भी 'गर्म राख' जैसी कृतियों में असफल या अधूरे सिद्ध हो चुके थे। नागर जी के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या अपने उपन्यास के लिए उस बनावट की खोज बन गई थी जिसके भीतर व्यक्ति और इतिहास, घटना और संवेदना, काल-शृंखला और तात्कालिकता को वे संतुलित ढंग से आयत्त कर सकें। छविमय और व्यापारगत जीवन की वास्तविकता को उसकी गति और परिवर्तन के साथ उपस्थित कर पाना नागर जी के लिए एक रचनात्मक चुनौती थी। अपने रचनात्मक प्रयत्न में नागर जी ने उस चुनौती का सामना किया है, इसमें संदेह नहीं है। जो लोग 'बूँद और

समुद्र' के रचनात्मक संघटन को अधूरा, स्फीत और जटिल मानते हैं उनके लिए मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि उनकी दृष्टि रचनाकार की दृष्टि नही है। वे रचना के स्थापत्य को एक बाहरी की हैसियत से देखने-परखने की चेष्टा कर रहे हैं।

'बूँद और समुद्र' बृहत्तर जीवन परिवेश का उपन्यास है। इस बृहत्तर परिवेश को उसकी समग्रता मे देखना एक साधारण कार्य नही है। वैसे किसी काल-खण्ड के भीतर एक पूरी पीढ़ी की मानसिक जमीन को स्पर्श करने, पहचानने और परिभाषित करने की चेष्टा हिन्दी उपन्यासकार कई रूपों मे करता रहा है। किसी ने इस ऐतिहासिक काल-खण्ड को घटनाओ की राह देखा है और किसी ने व्यक्ति-संवेदनाओं की राह। इस दिशा मे निर्मम प्रयत्नो और ईमानदार नीयत की कमी नही है। मगर प्रश्न केवल नीयत का नही है उपन्यास की सार्थकता और आत्मपूर्णता का भी है। उपन्यास किस प्रकार अपनी पूर्णता को उपलब्ध करता है यह प्रश्न औपन्यासिक सौन्दर्य शास्त्र का प्रश्न है और रचनात्मक दृष्टि से मौलिक महत्त्व का प्रश्न है। इतिहास के भीतर चाहे हम मानवीय चेतना की प्रक्रिया को घटनाओं से जान लें मगर औपन्यासिक कृति मे घटनाएँ एक स्तर के बाद निर्वैयक्तिक होकर उपन्यासकार के लिए अर्थहीन हो जाया करती है। उपन्यास व्यक्ति-संवेदना के बीच इतिहास के सत्य को ठोस सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया मे उपलब्ध करने की चेष्टा करता है।

मध्यवर्ग प्रतीकों और कल्पित बिम्बों की दुनिया—प्रेतछायाओं की दुनिया—'बूँद और समुद्र' मे नही है। ऐसे कल्पित बिम्बो को पाथता देकर समकालीन उपन्यास-कार अपना काम नही चला सकता फिर छठे दशक मे भारतीय मध्यवर्ग का विस्तार जिन अन्तर्विरोधो का शिकार है और जीवन के जिन स्तरो पर आन्दोलित-बाधित हो रहा है उसे परिवर्तन के किसी विशेष केन्द्र मे देखना अपर्याप्त होगा। ऐसा कोई आन्दोलन भी इस काल मे नही चल रहा था कि जिसे ऐतिहासिक संदर्भ बना कर कथानक की रचना की जाती। इस अर्थ मे प्रेमचन्द और नागर जी का अन्तर स्पष्ट है। प्रेमचन्द एक निरंतर आन्दोलित होते हुए मध्यवर्ग के कथाकार थे और नागर जो उस भारतीय मध्यवर्ग के कथाकार हैं जो अपने विस्तार मे ही कहीं आत्म-विभाजित हो गया है। इस खंडित मध्यवर्ग को पूरे ऐतिहासिक परिदृश्य से जोड़ कर देखने की चेष्टा ही 'बूँद और समुद्र' को महत्त्वपूर्ण बना देती है।

आज़ादी के बाद भारतीय मध्यवर्ग का आन्तरिक संघटन ही नही टूटा इसी क्रम मे उसका चरित्र भी बदल गया। वर्ग-संघर्ष और जन आन्दोलनो से टूटा हुआ यह मध्यवर्ग या तो अवसर की राजनीति का हिस्सा हो गया या फिर पूरी जीवन-प्रक्रिया मे अकेला होता हुआ आत्मनिर्वासित हो गया। इस बाहरी फैलाव के बीच व्यक्ति की निजता मिटती चली गई, उसकी पहचान समाप्त हो गई। बड़े स्तर पर मध्यवर्ग एक आत्म संकट का शिकार हो गया। इस अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्तियों के जीवन मे उतारना नागर जी की कथा-रचना का मूल लक्ष्य है। यही कारण है कि 'बूँद और समुद्र' का सबसे अधिक समर्थ पक्ष है उसका परिदृश्य। एक व्यापारत

किन्तु ग्राम्य विभाजित समाज का ऐसा समृद्ध परिदृश्य किसी दूसरी औपन्यासिक कृति में उपलब्ध नहीं होता। इस अव्यवस्थापारस्त समाज को उसकी असंगतियों से जोड़ कर देखना ही उसकी ऐतिहासिक वास्तविकता को आत्मसात् करना है। 'बूँद और समुद्र' में एक ओर फैलता हुआ मध्यवर्ग है और दूसरी ओर निरंतर क्षयिष्णु समुदाय के संकट है। इन दोनों दुनिया को मिला दीजिए और भारतीय मध्यवर्ग की तस्वीर पूरी हो जाएगी।

अधूरी सहानुभूति और अधूरी घृणा से परिस्थिति और पात्र का सही-सही रूप उभर नहीं पाता। नागर जी अधूरी संवेदना के कथाकार नहीं हैं। फिर भी ऐसा लगता है जैसे 'बूँद और समुद्र' की पात्र-संकुल दुनिया में कहीं न कहीं अधूरापन है। यह अधूरापन पात्रों का नहीं है, उस परिस्थिति का है जो मानवीय होने से बच गई है और अपने ही अन्तर्विरोधों को समेट सकने में अक्षम है। परिस्थिति की इस विभाजित तस्वीर के कई पहलू हैं और उन्हें अलग-अलग छवियों में देखने के सिवा और कोई रास्ता उपन्यासकार के पास नहीं है। इसलिए इस बिखराव को मैं उपन्यासकार की कथा-शैली की असफलता नहीं मानता। कथा के भीतर परिस्थिति का यह विभाजन बहुत स्पष्ट है। एक ओर साधारण लोगों की व्यापारस्त दुनिया है—बड़ी, छोटी, मनिया, नंदो, तारा, आदि की। दूसरी ओर कर्नल, सज्जन और महिपाल की दुनिया है। यह दुनिया एक छोर पर इस छोटी दुनिया से आकर मिल जाती है और दूसरे छोर पर बाबू सालिगराम और राजा साहब की दुनिया को भी छूती है। दोनों की नितान्त अलग अलग वस्तुस्थिति को मिलाने वाला यह सेतु बहुत मजबूत तो नहीं है, मगर है महत्वपूर्ण। इन सेतुवासी चरित्रों पर एक नजर डालने से ही इनकी अपनी स्थिति का पता चलने लगता है।

सज्जन-कर्नल-महिपाल-वनकन्या अपनी-अपनी दुनिया में विभाजित भी हैं और सेतु रूप में दो अलग छोरों को मिलाते भी हैं। इसीलिए कथा के केन्द्र में भी ये ही हैं। इस दुनिया के केन्द्र में रखकर भी इसकी पूर्णता का दावा कथाकार ने अपनी ओर से कहीं नहीं किया। सच्चाई तो यह है कि इनकी तुलना में छोटों की दुनिया अधिक समृद्ध, छविमय, व्यापारत और प्रामाणिक है। यह कहना गलत होगा कि ग्रामीण वे पात्रों को अधिक सम्पूर्णता से और सहानुभूति से नागर जी देख पाते हैं। तारा-नन्दा-बड़ी-छोटी-मनिया की दुनिया उतनी ही छविमय है जितनी ताई और राजासाहब की। बल्कि एक अर्थ में यह साधारण दुनिया ज्यादा छविमय और व्यापारत है। इसकी तुलना में ऊपरी वर्गों का लेखक केवल संकेत करता है। फिर भी उनकी टकराहटों के बीच ऊपरी वर्गों के स्वार्थ का एक ढाँचा बड़ी तत्परता से लेखक तैयार कर लेता है। ऊपरी प्रसंगों की चर्चा उपन्यास के कच्चेमाल की चर्चा है और केवल सामाजिक तथ्यों की पूर्णता अपूर्णता औपन्यासिक कृति की कलात्मकता का प्रमाण नहीं हो सकती। इसके लिए उपन्यास के अन्तरंग पर दृष्टि डालनी होगी। वास्तविकता के ऊपरी ढाँचे के विस्तार के बावजूद अपने औपन्यासिक वातावरण में

कोई रचना अपने अधूरेपन का इजहार कर सकती है, इसकी ओर से हमें आँखें नहीं मूँदनी होगी।

सबसे पहले हम इस रचना-संसार में व्यापाररत उन पात्रों को लें जिनसे इस उपन्यास को वास्तविकता को मानवीयता प्राप्त होती है। 'बूँद और समुद्र में' बाल-जाल और तोतरा तोष की तरह पात्रों की एक भीड़ है। इस भीड़ में कुछ ऐसे पात्र हैं जिन्हें अलग से पहचानना सम्भव नहीं है और कुछ ऐसे भी पात्र हैं जिन्हें भीड़ से अलग करके देखने की सुविधा है। वैसे ताई इस उपन्यास की अकेली पात्र हैं जिन्हें लेखक ने पूरी सहानुभूति और मानवीय वास्तविकता दी है, फिर भी जैसे उन्हें बलात् काल से बाहर जाकर देखना पड़ता है। काल से होकर ताई ऊपर उठ गई है, इसलिए यहाँ पहले ताई की चर्चा नहीं करूँगा। सज्जन कथा का केन्द्रीय पात्र है, कथा के पूरे विस्तार में उसकी व्याप्ति परपरित अर्थ में उसे कथा नायक बनाती है। मगर पूरे उपन्यास में सज्जन जैसे बनने के बजाय बिगड़ जाता है। इसकी विरूपता 'विवेक की अपराधी आत्मा' है। मुझे लगता है जीवन-प्रवाह के भीतर नागर जी संश्लिष्ट चरित्रों की खोज कर रहे है। मेरी दृष्टि में यह खोज एक हद तक बेमानी है। उपन्यास भी अपने अधूरेपन का आभास शायद इसीलिए देता है कि संश्लिष्ट चरित्रों की खोज अर्थहीन है। समय ने कहीं गहराई में हमारी पात्रता तोड़ दी है। हमारी अवाचकता, निर्वैयक्तिकता या विभाजित व्यक्तित्व का एक आयाम इतिहास में तो है ही। उस दृष्टि से कर्नल, महिपाल, सज्जन, वनकन्या, शीला की भीड़ में चरित्र केवल ताई में है, क्योंकि समय उनका स्पर्श नहीं कर पाता, वह समय से ऊपर है। अतीत उनकी संश्लिष्टता का कवच है। ताई सचमुच 'कैरेक्टर' हैं, मगर एक व्यतीत हुए युग का आभास बनकर।

सज्जन कथा के केन्द्र में है। किन्तु इस कथात्मक सुविधा के बावजूद सज्जन कहीं न कहीं अपनी संभावनाओं को भुठलाता हुआ मालूम पड़ता है। मुझे इस उपन्यास को पढ़ते हुए पहली बार भी इसका बोध हुआ था। सज्जन कलाकार है और लगता है जैसे मुहल्ले के जीवन में सदा सदा के लिए के लिए वह बाहरी बना रह जाता है। महिपाल की तरह सज्जन आत्म निर्वासित पात्र नहीं है, वह अजनबी है। नागर जी ने उसे आधी सहानुभूति और आधी वैचारिक ऊर्जा से गढ़ा है। यही कारण है कि कथा के सभी स्तरों पर यह पात्र लेखक की सहानुभूति को भुठलाता चलता है। सज्जन की तुलना में महिपाल अपनी पराजय और आकस्मिक आत्महत्या के बावजूद एक समर्थ चरित्र है। इन दोनों चरित्रों को प्रतिमुख करने का लेखक का जो भी उद्देश्य रहा हो, इतनी बात तो साफ-साफ दीख पड़ जाती है कि महिपाल और सज्जन के चरित्र में अन्तर है। यह अन्तर उनके व्यापारों और संवेदना के स्तर पर निरंतर खुलता चलता है। यों ऊपर से सज्जन और महिपाल जिस परिस्थिति में है उनका तनाव एक-सा मालूम पड़ता है, मगर सज्जन हर मार्मिक परिस्थिति को विचारों में बदल कर अपने अनुकूल बना लेता है। सज्जन के आत्ममंथन में जिस

अस्पष्ट विवेक का आग्रह है उसे स्वयं भी वह कभी पूरा नहीं कर पाता। अपनी स्थिति को वह निरंतर दूसरों की पृष्ठभूमि में परखना चाहता है। इसके विपरीत महिपाल अपनी परिस्थिति के भीतर रह कर अपने आत्मविभाजन से साक्षात्कार करता है। उसका दुःख किताबी नहीं है और न उसका प्रेम ही एक कुतूहलपूर्ण उत्तेजना है। महिपाल का आत्मसंघर्ष सच्चा, गहरा और करुणापूर्ण है।

सज्जन और महिपाल भारतीय मध्यवर्ग के दो अलग-अलग हिस्सों के पूरक-चरित्र हैं। इनकी पूरकता और प्रतिमुखता का द्वन्द्वात्मक स्वरूप पूरे कथा-विस्तार में *बनता-बिगड़ता है। इसलिए यदि इन्हें हम अपनी-अपनी वस्तुस्थिति से जोड़कर* देखें तभी इनका अन्तर हमारी दृष्टि में आ सकता है। सेठ कन्नोमल का पोता मध्यवर्ग के जीवन को देखने आता है। इस जीवन में उसकी सहानुभूति एक विशेष लक्ष्य तक सीमित है। यह दूसरी बात है कि भावुकता के उत्तेजक क्षणों में वनकन्या के प्रति उसका आकर्षण प्रेम का रूप ले लेता है। मगर इस प्रेम में वनकन्या का मैगनेटिज्म ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। महिपाल शीला के प्रति आकर्षित है किन्तु उसके पीछे कोई व्यक्तिगत कुतूहलजन्य आकर्षण नहीं है। महिपाल इतना बचकाना नहीं हो सकता। अपने आकर्षण की आन्तरिकता को पहचानने में न उसे किसी प्रकार का भ्रम होता है और न इस उपन्यास के पाठक को ही। सज्जन लेखकीय निष्ठा उधार लेकर जिन्दा है, महिपाल लेखकीय निष्ठा खोकर भी पाठक की सहानुभूति अर्जित करने में सफल हो जाता है। प्रारम्भ से अन्त तक महिपाल एक साहस और विवश चरित्र है। एक हद तक उसमें सिनिकल होने के गुण भी हैं। आज के युग में इस सिनिसिज्म से बचना सम्भव नहीं है। इसलिए श्री नेमिचन्द्र जी की शिकायत से सहमत हो सकना मेरे लिए मुश्किल हो जाता है कि नागर जी के समकालीन पात्र अधूरे हैं। महिपाल हेतुक चरित्र बनने से हर स्तर पर इनकार करता है, इसे समझाने की जरूरत नहीं है। इतना ही नहीं, *कथा में एक सीमा के बाद महिपाल* अपने ऊपर से लेखक के व्यक्तित्व के बोझ को झटके से अलग कर मुक्त भी हो जाता है। महिपाल अपनी आंतरिक वास्तविकता में लेखकीय सहानुभूति को बहुत पीछे छोड़ जाता है। यही इस बात का प्रमाण है कि वह अधूरा चरित्र नहीं है। जहाँ तक मैं समझता हूँ किसी चरित्र की पूर्णता-अपूर्णता का निर्णय किसी बाहरी आग्रह से नहीं किया जाना चाहिए। कथा-विस्तार के भीतर ही उसका योग निर्मित होता है और इसी योग से उसकी पूर्णता सिद्ध की जा सकती है। भोक्ता के रूप में महिपाल अन्य सभी पुरुष पात्रों से तीखा, युगीन और वास्तविक चरित्र है। महिपाल प्रौढ़ चरित्र है और अपनी बढ़ती हुई उम्र के साथ अपनी असंगति को पूरी निर्ममता और कठोरता से देखता है। अपनी असफलता में भी महिपाल इसीलिए 'बूँद और समुद्र' के कथापात्रों में सबसे जीवन्त चरित्र है।

यह ठीक है कि महिपाल के खंडित व्यक्तित्व में आन्तरिक संगति नहीं है। आन्तरिक संगति का अभाव ही चरित्र को खंडित करता है, अन्यथा कौन-सी चीज

उसे संश्लिष्ट रहने से बाधित कर सकती है। आतरिक समति के इस अभाव के प्रति महिपाल पूरी तरह सचेत है, फिर भी कहीं न कहीं वह विवश भी है। उसकी यही विशेषता उसे तृतीय और चतुर्थ दशक के कथानायकों से अलग करती है। सज्जन हमें कहीं भी छू नहीं पाता, परिचालित करने की बात तो दूर रही। महिपाल हमें छूकर परिचालित करता है। यह दूसरी बात है कि महिपाल के चरित्र को वैसा लेखकीय नैतिक समर्थन प्राप्त नहीं हुआ है जैसा सज्जन को होता है। महिपाल के लिए यह बात साधक ही सिद्ध हुई है। अपने कर्मों का भोक्ता स्वयं रह कर वह अधिक आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र पात्र बन गया है। महिपाल की परिस्थिति निजी और मानवीय है। सज्जन की तरह बार-बार उसे एक कल्पित परिस्थिति के भीतर रखकर देखने की चेष्टा नहीं की गई है। यह भी उसके पक्ष में ही जाता है। पाठकों की नैतिक सहानुभूति महिपाल को ही प्राप्त होती है।

मुख्य पात्रों में सबसे अधिक कृत्रिम चरित्र वनकन्या और सज्जन का ही है। वनकन्या को उसकी परिस्थिति से काट कर जैसे लेखक उसे पराश्रयी बना देता है। लेखक की सहानुभूति पर निर्भर होना उसकी सबसे बड़ी असफलता है। अपनी पारिवारिक परिस्थिति को लांघ कर या छलांग लगाकर सहसा वह अपने वेग से ही कट जाती है। व्यक्ति को उसकी आंतरिक परिस्थिति से काट कर देखा जाय—हलचलों से अलग कर दिया जाय—यह दर्शन का एक पक्ष हो सकता है, मगर व्यावहारिक स्तर पर इसकी कई असंगतियां हैं। ऐसे पात्र सदा-सदा के लिए लेखकीय सहानुभूति के मुहताज हो जाया करते हैं। वनकन्या धीरे-धीरे गतिहीन होकर अन्त में एक दम कहीं ठहरी हुई लगती है। इस ठहराव की अनिश्चयता को अगर हम जाता कहें तो बुरी बात नहीं होती। वस्तुतः वनकन्या अवपात का चरित्र है। उसे लेखक ने अपने विचारों से गढ़ने की चेष्टा की है। इसी क्रम में लेखक उसे अपना नैतिक समर्थन भी देना चाहता है। किन्तु ऐसे उपजीवी पात्र 'भोक्ता' के रूप में कितने असमर्थ हो जाते हैं इसका प्रमाण वनकन्या का चरित्र है।

सबसे पहले हम उस पारिवारिक परिस्थिति पर ध्यान दें जिसके भीतर उसका क्रुद्ध और विद्रोही चरित्र हमारे सामने आता है। किन्तु धीरे-धीरे यह जीवंत और वास्तविक पृष्ठभूमि छूट जाती है। सज्जन कर्नल के संरक्षण में आकर जैसे वह सदा के लिए अपनी शक्ति और सामर्थ्य का समर्पण कर देती है। ऐसा दुःखद समर्पण प्रेमचन्द के पात्र भी नहीं करते। वनकन्या एक स्थिति के बाद गति का नाटक करती हुई मालूम पड़ती है। उसके कम्युनिस्ट होने की सार्थकता क्या है? वैसे यदि चरित्रों का कैरिकेचर करना नागर जी को प्रिय होता (जैसा रेणु करते हैं) तो बात दूसरी होती। मगर नागर जी चरित्रों का कैरिकेचर करने वाले लेखक नहीं हैं। लगता है वनकन्या की तसवीर गढ़ने में उनकी कल्पना-शक्ति ने उन्हें धोखा दिया है। वनकन्या की तुलना में शीला, चित्रा और सरस्वती अधिक सहज और स्वाभाविक पात्र हैं। क्या ऐसा नहीं लगता, कि दुनिया को बदल देने की वनकन्या की इच्छा

धीरे-धीरे व्यक्ति को अनुकूल बना लेने का आवेश मात्र होकर रह गई है? इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणति की और कल्पना भी क्या की जा सकती है। वनकन्या की रिक्तता और अपूर्णता का दूसरा कारण है किसी गहरी आत्मदृष्टि का अभाव। प्रारम्भ में उसके चरित्र में यहाँ-वहाँ यह आत्मदृष्टि हमें उपलब्ध हो जाती है जिसके आधार पर हम यह आशा करते हैं कि कथा-विस्तार में यह आत्मदृष्टि गुम हो जाती है और उसका स्थान एक आवेश ले लेता है। संघर्ष की जो निविड आत्मदृष्टि उसमें होनी चाहिए क्या सज्जन का प्रेम उसका अपहरण नहीं कर लेता? आधुनिक स्त्री का आत्म संघर्ष, इस अर्थ में, शीला में अधिक मानवीय होकर उभरता है। चित्रा के चरित्र में लेखक ने उसे जानबूझ कर जैसे घृणित बना देने की चेष्टा की है। वनकन्या, शीला और चित्रा के बीच शीला अधिक प्रकृत चरित्र है। उसी के दो छोर जैसे वनकन्या और चित्रा में रूपान्तरित हो जाते हैं। इन तीनों की तुलना में सरस्वती का पिछड़ा हुआ चरित्र अधिक पूर्ण है। कम से कम अपनी पीडा में उसका चरित्र अधिक वास्तविक है।

ताई के चरित्र को यदि समय से काट कर देखना सम्भव हो तो निश्चित रूप से ऐसा पूर्ण चरित्र उपन्यास में दूसरा नहीं मिलेगा। ताई के चरित्र की समानान्तर गतियाँ हैं। एक ओर जैसे वह सारी दुनिया के प्रति घोर घृणा से भरी हुई, उसके मरण की इच्छा करने वाली ऐसी स्त्री है जिसका आक्रोश चाहे मारक न हो मगर चिढ़ाने वाला जरूर है। दूसरी ओर उसका सहज मानुत्वाकांक्षी नारी रूप है। इन विरोधी रूपों को एक साथ अपने में आत्मसमात् करने वाली ताई का मानवीय रूप सचमुच विलक्षण है। ताई अपने वर्तमान से सदा ऊपर उठकर जीती हैं, वर्तमान कुछ नहीं है "हो भी तो ताई के लिए व्यर्थ है। हाँ, दूसरों के सार्थक वर्तमान को ताई यदा-कदा जरूर सँवार देती हैं। ताई का चरित्र एक अर्थ में भव्य है। ताई एक अखण्ड स्थिति के भीतर हैं और समय का कोई चाप उनकी अखण्डता को बाधित नहीं कर सकता। वैसी ताई शील विचित्र नहीं हैं। उन्हें चामत्कारिक और आडम्बरपूर्ण भी नहीं कहा जा सकता। अतीत का अंग होकर ऐसे चरित्र हमारे लिए विचित्र हो जाएँ, यह बात ही दूसरी है।

चरित्र अपने व्यापारों में, अपने सम्बन्धों और उसके विस्तार में उपन्यास को समृद्ध करते हैं। बूँद और समुद्र में चरित्रों के अलग-अलग समुदाय हैं, इतना तो स्पष्ट ही है। इन समुदायों को संस्कार-व्यापार और विश्वासों के आधार पर साफ-साफ लगाया जा सकता है। चरित्रों की इस छविमय दुनिया को मेले की छविमय दुनिया की तरह नहीं देखना होगा, इनके परस्पर सूत्रों को पहचान कर ही इनकी छविमयता सिद्ध की जा सकती है। प्रश्न यह है कि इतने सारे चरित्र क्या आज के हमारे जीवन को सही-सही संदर्भित कर पाते हैं? अगर ऐसा नहीं कर पाते तो उनकी दुनिया झूठी है। 'बूँद और समुद्र' की दुनिया इसलिए झूठी नहीं है कि वह चरित्रों के ठोस सम्बन्धों से और व्यापारों के विविध ढाँचे से समृद्ध होती है। यह

दूसरी बात है कि इस दुनिया मे बाबा और कर्नल जैसे 'साधारण आडम्बरों वाले पात्र भी हैं। इनका होना ही भारतीय समाज की गति और परिवर्तन को साकार करता है। वास्तविक सक्रमणशीलता की दृष्टि से बूँद और समुद्र एक प्रामाणिक और समृद्ध रचना है।

हमारे लिए इससे बड़ी कोई दूसरी घटना नहीं हो सकती कि एक ऐतिहासिक उत्थान के भीतर हम यह अनुभव करने लगे, कि हमारा जीवन ऐसी कठोर वास्तविकताओं से घिर गया है जिनसे एकात्म संभव नहीं है। ये कठोर सत्य जब व्यक्तियों से बाहर और बड़े साबित होने लगते हैं तब पूरे सामाजिक स्तर पर जीवन आत्म-संकुल हो उठता है। आजादी के बाद, जब कि हम मानसिक रूप से इसके लिए सबसे कम तैयार थे, भारत में कुछ ऐसा ही अप्रिय घटित हुआ। घटित के इस मर्म को बड़ी घटनाओं से शायद उतना नहीं जाना जा सकता जितना साधारण व्यक्तियों के जीवन मे प्रवेश कर जाना जा सकता है। साधारण के भीतर प्रतिष्ठित इस जीवन सत्य को नागर जी ने अपनी भव्य और व्यापक कल्पना-शक्ति से उजागर कर दिया है। बूँद और समुद्र मे राष्ट्रीय स्तर की इस दुर्घटना को अनेक माध्यमो से लेखक ने देखने-पहचानने की चेष्टा की है। माध्यमों का ऐसा व्यापक और विशाल स्वरूप प्रेमचन्द के बाद कम उपन्यासो मे मिलता है। यह ठीक है कि इस प्रक्रिया मे नागर जी की कल्पना-शक्ति अकसर वर्तमान से होकर अतीत में चली जाती है और वहां ठहर जाती है। अतीतजीवी पात्रो को उन्होंने इस उपन्यास में अधिक सफलता से चित्रित किया है। मगर नागर जी की जीवन-दृष्टि को इस आधार पर अतीतोन्मुख घोषित करना उनके साथ अन्याय करना होगा। यदि अतीतजीवी पात्रो की छविमयता बूँद और समुद्र मे है तो वर्तमान में व्यापारत पात्रो का अन्तर्विरोध मूलक विस्तार भी है।

जैसा मैंने ऊपर कहा है, नागर जी के पास ऐसी कल्पना-शक्ति है जो एक ओर विराट् को धारण करती है और दूसरी ओर साधारण को सामाजिक बिम्बों में साग बना कर विस्तार देती है। नदो, बड़ी, तारा, छोटी, नंदी की माँ, मनिया बिरहेश की दुनिया ऐसे ही साधारण सामाजिक बिम्बो से बनती है। इन्हे पूरी क्षमता और तत्परता से रूपाकार देने का काम तो नागर जी करते ही हैं। साथ-ही-साथ उनकी दुनिया के अन्तर्विरोधों को भी पूरी भावनात्मक और बौद्धिक क्षमता से उजागर करते हैं। अनेक प्रसंगो मे जो सकरुण उदात्त भूमि हमें 'बूँद और समुद्र' में मिलती है उसकी तुलना किसी अन्य उपन्यासों मे नहीं की जा सकती। साधारण की प्रतिष्ठा का यह रूप हिन्दी के दूसरे कई समकालीन लेखको से भिन्न है। रेणु की तरह साधारण को छविमय बनाने के असाधारण अथवा नाटकीय व्यापारो का सहारा नागर जी नहीं लेते। इस अर्थ मे उन्हें रेणु से कहीं अधिक सार्थक अन्तर्दृष्टि प्राप्त है। साधारण को प्रभावव्यंजक बनाने के लिए चटख रगो का उपयोग नागर जी नहीं करते। ऐसा होता तो शीला-महिपाल का प्रणय-प्रसंग 'रसपूर्ण' हो सकता था। उनके लिए साधारण की निजता

ही सार्थक है। साधारण तथ्यवादी नुस्खों से बचाव का इससे बढ़िया और रचनात्मक उपाय दूसरा नहीं हो सकता था।

आसपास की दुनिया का गति-चित्र तैयार करने में नागर जी पूरी सावधानी से काम लेते हैं। चूंकि इन गति-चित्रों की प्रामाणिकता एक वाचक देश में विस्तार है तथा देश-काल में सही अर्थों में उनका अनुभूत होना है, इसलिए इन गति-चित्रों पर थोड़े विस्तार में विचार करना यहाँ अपेक्षित है। ये गति-चित्र-प्रेम, घृणा-आक्रोश विवशता और जीवन की उन्मुक्तता को एक साथ उदाहृत करते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इन गति चित्रों का वस्तुगत परिवेश उपन्यासकार के लिए जितना महत्त्वपूर्ण होता है उतना ही उनका आन्तरिक और भावनात्मक रूप भी। उपन्यासकार उनका सेतु होता है। औपन्यासिक चरित्रों में होकर वह परिवेश को निजता से जोड़ देता है। इसी द्वन्द्वात्मक सतुलन के बीच उपन्यास की कला सार्थक होती है। देश-काल हमारी बुद्ध-बुद्धि की उपज नहीं है, वह हमारे बाहर की ठोस मूर्त्त सत्ता है। इसी ठोस मूर्त्त सम्बन्धों के समाज के भीतर हम अपने को निरन्तर परिभाषित करने की चेष्टा करते है, अपनी गतियों को सार्थक बनाते हैं। नागर जी के उपन्यास में देश-काल के साथ व्यक्ति की निजता का ऐसा सन्तुलन है जिसकी तुलना केवल प्रेमचन्द से की जा सकती है।

यह सही है कि कभी-कभी हम अपने ही कर्मों की माप नहीं जानते और उस हद तक उनकी सार्थकता को भी समझ नहीं पाते। मगर यह तात्कालिक सत्य है। सबके लिए यह तात्कालिक सत्य एक ही अर्थ नहीं रखता। बूँद और समुद्र में इनकी अलग-अलग माप है। प्रेम का प्रकरण हो या व्यक्ति की सामाजिक-पारिवारिक निष्ठा का, कहीं-न-कहीं एक आत्म विरोध जैसे अनायास हमें द्विविधाग्रस्त करता है। समकालीन जीवन के भीतर भाव-सम्बन्धों का रूप वही नहीं रह गया है जो पहले था। सज्जन-वनकन्या-शिला का प्रकरण हो या सज्जन-शीला-सरस्वती का इनके भीतर का अन्तर्विरोध बहुत स्पष्ट है। सज्जन एक अर्थ में निश्चिन्त प्रेमी है। वह भावनात्मक समर्पण से पृथक् किसी सामाजिक निष्ठा का आग्रही नहीं मालूम पड़ता। मगर वनकन्या के साथ ऐसा नहीं है। वनकन्या द्विधाग्रस्त है। यही स्थिति उलट कर महिपाल-शीला के प्रेम प्रकरण में हमें उपलब्ध होती है। शीला निश्चिन्त है, महिपाल द्विधाग्रस्त है। वहाँ और विरहेश एक अजीब-सी निश्चिन्तता के बीच अपना प्रेम सम्बन्ध शुरू करते हैं, मगर उन्हें इसका बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है। ये प्रेम-प्रकरण मानवीय भावना के आदिम रूप मात्र नहीं हैं, साथ-साथ देश-काल का एक वाचक सामाजिक सदर्भ भी जुड़ा है। इसीलिए इनकी अलग-अलग छायाएँ हैं, विस्तार और गहराई है। 'बूँद और समुद्र' सामाजिक सदर्भों के विस्तार और गहराई का उपन्यास है।

'बूँद और समुद्र' केवल सामाजिक घटना प्रवाह की कथा नहीं है। व्यक्ति की भावनात्मक इकाई मान कर तथा उसकी निजता को ध्यान में रखकर ही कोई कथा-

रचना महत्त्वपूर्ण होती है। सत्य की निष्ठा का एक पहलू हमें इसी मौलिक प्रश्न की ओर लौटा ले जाता है कि अपने आप से सवाल करें—व्यक्ति की सार्थकता क्या है? तत्काल हम सवाल से स्वतन्त्र सारे दूसरे सवाल हमारे लिए महत्त्वहीन हो जाते हैं। पूँजीवादी समाजतन्त्र के भीतर व्यक्ति की स्थिति और सम्बन्धों को पूरी गहराई में देखना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि स्वतन्त्रता के सवाल को यह पद्धति बहुत तबीन बना कर उद्घोषित करती आई है। इस सवाल को एक विचारक की तरह प्रस्तुत करना और बात है तथा उसे कथा संरचना के भीतर अन्तर्भुक्त कर लेना दूसरी बात। नागर जी ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बहसें नहीं करवाई हैं, भाषण नहीं दिलवाएँ हैं, फिर भी अपनी कथा-संरचना के भीतर ही उन्होंने इस सवाल का उत्तर ढूँढने की ईमानदार चेष्टा की है। सैद्धान्तिक मान्यताओं और वस्तु-स्थिति में हमारा समाज जिस तरह विभाजित है, वही इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को इस समाज के भीतर प्रतिष्ठा नहीं मिली है। वनकन्या का पूरा आत्म-संघर्ष इसी पृष्ठभूमि में चित्रित किया गया है। इसी पृष्ठभूमि में थोड़ी बदली हुई तस्वीर महिपाल की भी है। इसी आत्मविभाजित समाज का शिकार बड़ी हो गई है।

उपन्यास की कला-रचना तब तक अधूरी है जब तक उसमें जीवन की आंतरिक प्रतिष्ठा न हो जाए। कुछ आलोचकों ने नागर जी के उपन्यास में इस आंतरिकता के अभाव की शिकायत की है। कुछ हद तक यह शिकायत सही है। मगर इस आंतरिकता की कमी को दूर तक खींच कर जब यह सिद्ध किया जाने लगता है कि इसी कारण बूँद और समुद्र अधूरी कृति है, तब मुझे आश्चर्य होता है। आंतरिकता क्या एकांत प्रसंगों का अकेला क्रम है? क्या आंतरिकता को जीवन-परिस्थिति से काट कर उपलब्ध किया जा सकता है? इसकी शिकायत प्रेमचन्द जी की रचनाओं को लेकर भी की गई थी। मेरी अपनी समझ के अनुसार 'बूँद और समुद्र' में इस आंतरिकता को एक वस्तुस्थिति के भीतर बार बार स्पर्श करने की चेष्टा की गई। महिपाल और सरस्वती का प्रसंग हो या महिपाल-शीला का प्रसंग; सज्जन-वनकन्या का प्रसंग हो या ताई का प्रसंग, सर्वत्र नागर जी की दृष्टि इस आंतरिक सम्भावना पर टिकी हुई है। क्या महिपाल की विवशता और वनकन्या की सदय और द्विविधा आंतरिक नहीं है? महिपाल के सिनिसिज्म में समकालीन मध्य वर्ग की आंतरिक मनोभूमि का स्पर्श नहीं है क्या? हाँ, प्रेम प्रसंगों की सार्थक-निरर्थक आवृत्तियाँ नहीं हुई हैं इस उपन्यास में। यदि इसी को हम आंतरिकता की कमी मान लें तो बात दूसरी है। सबसे बड़ी बात जो इस उपन्यास में दिखती है वह यह कि लेखक ने किसी भी स्तर पर आधुनिकता के भाव-बोध में व्यतिक्रम उपस्थित नहीं किया है—न सामाजिक स्तर पर और व्यक्ति के निजी जीवन में।

भारतीय मध्यवर्ग को समय ने अजीब ढंग से आत्म विभाजित कर दिया है। उसकी बाहरी-भीतरी बनावट में ही एक ऐसी असंगति है जिसे लक्ष्य करना कोई बड़ी गंभीर चीज नहीं है। मगर इस असंगति अथवा आत्म विरोध की वास्तविक पृष्ठभूमि

में प्रवेश करना उपन्यासकार के लिए सम्भव नहीं है। नागर जी इस आत्मविभाजित वर्ग की असंगति को पूरे कथा-विस्तार में जापित करते चलते हैं। आस्था के लिए अतीतजीवी और जीवन परिस्थितियों में अग्रगामी कल्पना करने वाला भारतीय मध्यवर्ग अपनी पूरी आंतरिक असंगतियों के साथ इस उपन्यास में चित्रित हुआ है। इस असंगति से महिपाल जैसा तीखा चरित्र भी नहीं बचता। इस प्रसंग पर विचार करते हुए यह ध्यान में रखना होगा कि यह मध्यवर्ग '५५ का मध्यवर्ग है जिसकी मनोभूमि में आज हम किसी कदर टूट कर अलग हो चुके हैं किन्तु जिसके संस्कार कहीं-न-कहीं हमें आज भी घेरते हैं। इस आत्म विभाजित मध्यवर्ग की सही-सही पहचान नागर जी को है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वैसे इसमें भी किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि बूँद और समुद्र की रचना के एक दशक बाद आज मध्यवर्ग की मनोभूमि ठीक वही नहीं है जिसका चित्रण नागर जी ने अपने उपन्यास में किया है, मगर उसकी बनावट का एक हिस्सा आज भी उसी मनोभूमि के भीतर है और आज भी उन्हीं अन्तर्विरोध का शिकार है।

'बूँद और समुद्र' एक वृहत् 'टाउनस्केप' है मगर रूप-रेखा की उसकी पूरी योजना के बावजूद पूरी पृष्ठभूमि में शिथिलता और ठहराव है। मैं इस शिथिलता और ठहराव को इस उपन्यास की संरचना का दोष नहीं मानता। यह शिथिलता और ठहराव उस जीवन का है जिसे एक काल-खंड के भीतर उपन्यास की कथा-वस्तु बनाने की लेखक ने चेष्टा की है। अनिश्चय और संदिग्धता का वातावरण यदि परिवेश की यातना को साकार करता है तो इसे मैं उपन्यासकार की सफलता ही मानता हूँ। महिपाल की आत्म-हत्या, चाहे वह जितनी भी नाटकीय क्यों न हो, इस परिवेश की यातना को ही मूर्त करती है। इसकी तुलना में सज्जन की दुनिया अधूरी है। उसमें गति का गढ़ा गया छद्म बौद्धिक उपचार मात्र है। महिपाल की यातना ही किसी न किसी रूप में अगली धारा का कथ्य बनती है। इस अर्थ में महिपाल हमारे वर्तमान संघर्ष को पूर्वाभित करने वाला ऐतिहासिक पात्र है।

विचार जब तक संवेदनाओं और अनुभवों के विश्व में प्रतिष्ठित नहीं होते तब तक वे वस्तु सत्य के पर्याय के रूप में नहीं पहचाने जा सकते। महिपाल के विचारों की दुनिया से उसके अनुभव की दुनिया इसीलिए भिन्न है। इसीलिए सज्जन मध्य वर्ग के लिए एक बाहरी व्यक्ति है और वनकन्या अपने आत्म संघर्ष के बावजूद मध्य वर्ग से कट कर अलग पड़ जाती है। धीरे-धीरे कथा-प्रवाह ऐसे ही आत्मविरोधी पात्रों के केन्द्र में आ जाता है जो अनुभवों की दुनिया से खुद भी क्रमशः अलग पड़ते गए हैं। ऐसा न होता तो 'बूँद और समुद्र' सच्चे अर्थों में भारतीय मध्य वर्ग की गाथा बन जाता। न जाने क्यों बार-बार वर्तमान के भीतर के अन्तर्विरोधों का समाधान ढूँढने नागर जी को पीछे की ओर मुड़ना पड़ता है। सामाजिक शक्तियों के सन्तुलन और विरोध को साकार करने वाली रचनात्मक कल्पना नागर जी के पास है, इसमें किसी को किसी प्रकार का संदेह नहीं होगा। मगर विरोध और सन्तुलन को मूर्त

करने की क्रिया जब कहीं-कहीं भावनात्मक आवेग से पूरी की जाने लगती है तब ऐसा लगता है जैसे लेखक रचना-कर्म से अलग कोई धार्मिक अनुष्ठान कर रहा है।

'बूँद और समुद्र' कथा-वस्तु में, संरचना में और अपने स्थापत्य में नया उपन्यास नहीं है। उसे इस दृष्टि से प्रेमचन्द की परम्परा का उपन्यास कहना ज्यादा सार्थक होगा। कथा कहने का ढंग, कथात्मक क्षमता और स्थैर्य (Calm) में नागर जी प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी हैं। कथा का आनंद वे ठीक उसी तरह देना चाहते हैं जिस तरह प्रेमचन्द देते थे, इसलिए घटनाओं के साधारण क्रम को भी पूरे विस्तार से प्रस्तुत करने में नागर जी अद्भुत क्षमता का परिचय देते हैं। कभी-कभी कथा-प्रवाह में वे खुद बह भी जाते हैं। औपन्यासिक स्थापत्य पर इन बहकों का असर पड़ता है, मगर ऐसा नहीं कि इनसे उसकी गठन पर कोई आँच आए। 'बूँद और समुद्र' समानान्तर स्थापत्य-शैली का उपन्यास है और कथा ने अलग-अलग परिवेश को जोड़ने के लिए कथा की समानान्तर शैलियों का प्रयोग किया गया है। फिर भी कुछ प्रसंग यदि कथा-प्रवाह से निकाल दिए जाते तो उनसे औपन्यासिक संरचना में कोई अन्तर नहीं आता और कथा की संगति भी बनी रह जाती। ये प्रसंग छविमय हो सकते हैं, मगर उपन्यास की वस्तु से इनकी आतंरिक संगति नहीं बैठ पाती। इसलिए बूँद और समुद्र का स्थापत्य उस बड़े महल की तरह है जिसकी भव्यता का आतंक तो होता है किन्तु जिसकी छोटी कोठरियों में बँद होने का अनुभव भी साथ ही साथ होता है।

इन सीमाओं के बावजूद 'बूँद और समुद्र' कहीं न कहीं यदि महत्वपूर्ण हो जाता है तो उसका कारण केवल उसका परिवेशगत विस्तार नहीं है और न उसका अन्य उपन्यासों की तरह घटना-संकुल होना ही है। छोटे-छोटे जीवन-खंडों को जिस एक तान जीवन-क्रिया का अंग बनाकर लेखक देखना चाहता है और उनके भीतर के तीखे अन्तर्विरोध को पहचानना चाहता है, वही इस उपन्यास की उपलब्धि है। ये अन्तर्विरोध कहीं गहराई में हमारी संवेदना में प्रतिष्ठित होकर सामाजिक सत्यों को प्रकाशित कर देते हैं और कहीं उनके भीतर इतिहास का एक पूरा काल-खंड अपने व्यापाररत समाज के साथ साकार और अर्थवान हो जाता है। यह व्यापाररत समाज कितना प्रामाणिक और कितना नाटकीय संयोजन का अंग है, इसे ही उद्घाटित करना नागर जी के लिए स्वयं भी महत्वपूर्ण है। प्रामाणिकता और नाटकीयता के इस द्वन्द्व में ही हमारे अनुभव व्यापक जीवनभूमियों को स्पर्श करते हैं। महानगर के कृत्रिम पात्रों की मुर्दा मुद्राएँ इस रचना में नहीं मिलेंगी और मध्यवर्ग के खोखले नाटकीय पात्रों का आवेशयुक्त किन्तु रक्तचाप हीन संवाद ही उसमें मिलेगा, फिर भी एक अन्तर्दृष्टि है जो हमें अभिभूत करती है, हमारे अनुभवों को विस्तार देती है और एक अर्थहीन स्थिति के भीतर सार्थकता के सूत्रों को हमारे लिए उपलब्ध करती है।

सर्जक की अपनी दीवारें[1]

●

रणवीर रांग्रा

प्रेमचन्द के बाद कुछ कथाकार तो सेक्स को मानव-जीवन का मूलाधार मानकर तज्जनित कुण्ठाओं की खोज में व्यक्ति-मानस की अतल गहराइयाँ नापने लगे और कुछ समाजवादी दर्शन के सहारे उनकी प्रत्येक समस्या का निदान आर्थिक विषमताओं में ढूँढने लगे। पर उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपनी रचनाओं में सेक्स और अर्थ दोनों का ताना-बाना बुनकर निम्नमध्यवर्ग के युवक की प्रकृति-विकृति का चित्र प्रस्तुत करते हुए इस तथ्य को उभारा कि इन दो पाटों के बीच पिसते हुए किस प्रकार उसका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो, नाना विकृतियों को प्राप्त होता है। समाज की जर्जर परम्पराओं की दीवारें गिरने के साथ उसे अपनी बेबसी का एहसास इतनी तीव्रता से होने लगा कि जीना उसके लिए दूभर हो उठा। निम्नमध्य वर्ग के युवक की यह चेतना ही उसके लिए अभिशाप बन गई। 'गिरती दीवारें' का चेतन, 'गर्मराख' का जगमोहन और 'बड़ी-बड़ी आँखें' का सतीश सब इसी बेबसी के शिकार हैं।

अश्क जी के उपन्यास पढ़ते समय उनकी विश्लेषण प्रतिभा ने तो प्रभावित किया ही, मन में कई जिज्ञासाएँ भी उठीं। सोचा कभी अवसर मिला तो उन्हें अश्क के सामने रखूँगा। पिछले दिनों सुयोग भी मिल गया मैंने उन्हें अपनी जिज्ञासाएँ लिख भेजीं और जब वे दिल्ली आए तो उनसे चर्चा हुई। चर्चा का आरम्भ मैंने उनकी रचना-प्रक्रिया से ही किया : "रचना प्रक्रिया के दौरान क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं से पहले लगाए गए अर्थ फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नए आत्मविस्मितकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है। यदि हाँ तो कृपया बताएँ अपने किस उपन्यास में आपको इस प्रकार की अनुभूति सर्वाधिक हुई है ?

प्रश्न की तह तक पहुँचने की चेष्टा में अश्क जी बोले "यदि मैं इस प्रश्न को ठीक से समझ पाया हूँ तो कहूँगा कि हाँ कभी-कभी ऐसा होता है कि रचना-

---

१. गिरती दीवारें : उपेन्द्रनाथ अश्क

प्रक्रिया के दौरान किसी वस्तुस्थिति को अथवा किसी व्यक्ति के अन्तर्मन की पूर्व-निर्धारित यथार्थता के भीतर एक और गहरी यथार्थता दिखायी देती है। और इसी लिए उसका संकेत कई बार अनचाहे भी हो जाता है। मन नहीं चाहता कि यह संकेत किया जाय, लेकिन यथार्थता का वह नया और गहरा पहलू लेखक से अभिव्यक्ति का तगादा करता है। यदि लेखक सच्चा है और अपने पात्र के किसी विशेष रूप ही को दिखाने के प्रति प्रतिबद्ध नहीं, तो वह यथार्थता के उस आवाहन को स्वीकार कर लेता है 'गिरती दीवारें' में मुझे दो ऐसे स्थल याद आते हैं जब मैं अपनी पूर्वनिश्चित यथार्थता से किंचित हटने को विवश हुआ '

"उपन्यास के शिमला प्रकरण में मुझे कविराज रामदास के छलिया, कपटी, व्यावहारिक और शोषक रूप का उद्घाटन करना था, क्योंकि मैंने वह रूप देखा था और मेरे मन में उसके प्रति भयानक आक्रोश था। इसलिए कविराज चेतन को (प्रकट ही उसे प्रसन्न करने के लिए) "चैडविक प्रपात" दिखाने ले जाते हैं तो वे उस स्थिति में भी उससे लाभ उठाना नहीं भूलते। बातों-बातों में वे उससे एक विज्ञापन बनवा लेते हैं। चेतन उनकी धूर्तता समझ भी जाता है और मन ही मन उनको गालियाँ भी देता है, लेकिन जब दोनों प्रपात के नीचे जाकर बैठ जाते हैं और कविराज उमग में आ कर गा उठते हैं तो चेतन चकित, मुग्ध उनका गाना सुनता रह जाता है।"

"आरम्भिक रूपरेखा के अनुसार कविराज का गाना यहाँ नहीं होना चाहिए था अथवा यों होना चाहिए था कि वे एकाध पंक्ति गाते हैं और फिर उनका व्यावहारिक और दिखावटी व्यक्तित्व अपने अन्तर की उमंग पर अधिकार पा लेता है और वे चेतन को खिला-पिला कर और चैडविक प्रपात दिखाकर सन्तुष्ट और प्रसन्न वापिस ले जाते हैं। लेकिन यहीं वस्तु की एक और गहरी यथार्थता ने मेरा हाथ रोक लिया और मैंने लिखा—

"कविराज गा रहे थे और चेतन सोचता था—यह व्यक्ति जिसे वह केवल एक चतुर व्यापारी, एक हृदयहीन शोषक समझता था, अपने वक्ष में हृदय भी भी रखता है। कितना दर्द है इस कंठ में, कितना सुन्दर है यह गीत, कैसी मनुहार है इसमें......

"सुनते-सुनते नयी श्रद्धा से उसका मन प्लावित हो उठा, वह भूल गया कि कविराज शोषक हैं, व्यापारी हैं, दुनियादार हैं। उसके सामने रह गया केवल उनका कलाकार जो अनायास अपने आवरण को हटा कर गा उठा था, रह गया मानव, जो अस्वाभाविक कन्दनों से मुक्त होने को तड़फड़ा उठा था......

"प्रकट ही इन पंक्तियों ने पात्र के चरित्र के एक ऐसे कोण पर प्रकाश डाला जो मुझे दिखाना अभीष्ट नहीं था, पर जब प्रकट यथार्थता के अन्दर वह रूप दीख गया तो उसे व्यक्त न करना गलत लगा, भले ही उसमे पात्र के चरित्र को एक ऐसा

आयाम मिल गया जो उसे देना मुझे अभीष्ट नहीं था। लेकिन ऐसा बेजरूरत हुआ, ऐसी बात नहीं।

"पहली बात तो यह है कि कविराज जैसा दुनियादार व्यक्ति चेतन के चेहरे को देख कर जरूर जान गया होगा कि जिस मतलब के लिए वह उसने इतनी दूर लाया है वह पूरा नहीं हुआ। वह चेतन का तनाव दूर करना चाहता था। लेकिन वह इतने में दूर न हुआ था। तब हो सकता है उसने चेतन अथवा अचेतन रूप में यह ढंग सोचा हो कि वह उसके और निकट हो जाए और मालिक नौकर का उसका एहसास मिट जाए।

"दूसरा यह कि सचमुच उसके अन्दर छिपा कलाकार उस निर्जन में गा उठा।

"उस घटना की कोई भी व्याख्या की जाए 'गिरती दिवारें' का वह स्थल और कविराज का उन्मुक्त गायन एक ऐसी यथार्थता की ओर संकेत करता है जो प्रकट दिखायी न देती थी अथवा यों कहा जाय कि मेरी प्रारम्भिक रूपरेखा में नहीं थी।

"दूसरा स्थल 'गिरती दीवारें' के अन्तिम परिच्छेद में है: चेतन नीला की शादी की याद करता है। वहाँ उसने उसे गठरी सी बनी दालान के कोने में बैठे देखा था। सहानुभूति का एक अथाह सागर उसके लिए चेतन के मन में ठाठें मार उठा था। लेकिन नीला ने उसकी ओर आँख उठा कर भी न देखा था। वह बैठी रही थी और पाँव के अँगूठे से धरती पर बेनाम सी शक्लें बनाती रही थी। तभी बाहर से पचशरहस्त-मदन-सा सुन्दर—नीला के जेठ का लड़का—त्रिलोक चौगट में आ खड़ा हुआ था। और उसने कहा था—चाची जी नमस्ते।"

"तब नीला ने आँखें उठा कर देखा था और चेतन को लगा था, जैसे क्षण भर के लिए नीला की दृष्टि त्रिलोक के मुख पर रुकी थी, उसका पीला-सा मुख लाल हो उठा था और उस अँधेरे में उसकी आँखों में एक अज्ञात- सी चमक कौंध गयी थी।

नीला की शादी की याद करते हुए चेतन जब इस स्थल पर पहुँचा तो अचानक मेरे कलम ने मुझ से कुछ ऐसी पंक्तियाँ लिखा दीं जो मैं लिखना नहीं चाहता था क्योंकि जैसे उपरिलिखित 'चैहत्रिक प्रयान' के प्रकरण की पंक्तियाँ कविराज के चरित्र के अच्छे पक्ष की ओर संकेत कराती थीं जिसे दिखाना मेरी पूर्व निश्चित योजना में नहीं था, उसी तरह ये पंक्तियाँ चेतन के चरित्र के ऐसे पहलू की ओर संकेत करती थीं जो अच्छा नहीं था—और प्रमुख पात्र से अनायास हो जाने वाला मोह मुझे उन्हें लिखने से वर्जित करता था। लेकिन उस स्थल पर पहुँच कर जब यथार्थता की उस गहराई पर दृष्टि गयी तो उसे न लिखना असम्भव हो गया और मैंने ये पंक्तियाँ लिखीं—

"—त्रिलोक के प्रति नीला की आँखों में जो चमक पैदा हुई थी, उसने चेतन के मन में अज्ञात रूप से कहीं एक छोटा-सा ईर्ष्या का अंकुर उत्पन्न कर दिया था और रात होते-होते वह अंकुर एक पेड का आकार धारण कर गया।

और इन पंक्तियों के बाद मैंने पूरा का पूरा प्रकरण उसकी ईर्ष्या के बारे में जोड दिया और उसके बाद ये पंक्तियाँ लिखीं—

"नीला का पति कुरूप था और चेतन के मन से यह सत्य अज्ञात रूप से छिपा हुआ था कि नीला अपने तन को भले ही अपने पति के चरणों पर रख दे, उसका मन कभी भी उसको नहीं मिलेगा। वह मन उसके जीजा जी का ही रहेगा। चेतन को इस बात का विश्वास था।—और यह त्रिलोक उसने उसके इस विश्वास को हिला दिया था और नीला के तन और मन दोनों से वंचित हो जाना कदाचित चेतन को प्रिय नहीं था।

"आज से पन्द्रह-सोलह वर्ष पहले श्री गयाप्रसाद पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-कथा, साहित्य' में 'गिरती दिवारें' पर लिखते हुए इस प्रकरण का विशेष उल्लेख कर इसकी आलोचना की थी और लिखा था .

"चेतन के मन की यह स्थिति जीवन के लिए सर्वथा अवांछनीय है—फिर भी चेतन को अश्क जैसे कुशल कलाकार की ममता प्राप्त है, जिसके कारण उसका जीवन-विकास घृणा का उतना नहीं जितना करुणा का पात्र है। समाज के प्रति ऐसी कटुता, ऐसी ज्वाला व्यापकता पाकर कई बार सामाजिक क्रान्ति का कारण होती है। चेतन का जीवन कोई असामान्य जीवन न होकर एक बहुपीड़ित वर्ग का ही है। काश कि वह अपनी वासना पर अपनी सांस्कृतिक रुचि से इच्छाशक्ति से विजय पा लेता।

"मैंने पाण्डेय जी के उपर्युक्त वक्तव्य पर कभी अपनी राय जाहिर नहीं की। अब चूँकि इसी प्रकरण का जिक्र है इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि चेतन का लेखक यदि आदर्शवादी अथवा समाजशास्त्री-प्रगतिवादी होता तो चेतन के मन में कहीं गहरे में छुपी उस सच्चाई को वो निकाल कर न दिखा देता। वही करता जिसकी ओर पाण्डेय जी ने संकेत किया है। लेकिन यथार्थवादी लेखक ने उसी झूठे आदर्शवाद के विरोध ही में कलम उठायी है क्योंकि उसे वह झूठा आदर्शवाद शुभ और शिव नहीं लगा। मेरा यह निश्चित मत है कि जिन्दगी की यथार्थता को जान कर हम जो आदर्श बनाते हैं, वही टिकाऊ होते हैं, झूठे आदर्श यथार्थता का पहला झटका भी सहन नहीं कर पाते।

"साधारण हिन्दी आलोचक की दृष्टि चूँकि बहुत छिछली होती है। इसलिए उसकी आलोचना भी गहराई में नहीं जाती—और पाण्डेय जी के वक्तव्य में तो विरोधाभास है।—जो चित्रण अपनी कटुता और यथार्थता के कारण व्यापक होकर सामाजिक क्रान्ति ला सकता है। उसके लेखक से यह वांछा कैसे रखी जा सकती है

कि वह सत्य पर पर्दा डाल दे। पाण्डेय जी यदि गहराई में जाते तो उन्हें मालूम होता कि चेतन का वह सोचना गलत नहीं और वह नीला के भविष्य की ओर भी गहरी ट्रेजिडी की ओर संकेत करता है। पर हिन्दी के सामान्य आलोचक किसी रचना के बारे में क्या लिखते हैं, स्वयं कभी उसका विश्लेषण नहीं करते। इसी कारण उनकी आलोचना महत्त्व का प्रभाव खो बैठती है और वे पाण्डेय जी की तरह कुण्ठित हो सम्यस्त हो जाते है।

"ऐसे प्रकरण मेरे दूसरे उपन्यासों में भी हैं पर चूँकि जिन यथार्थताओं का वहाँ उद्घाटन हुआ है, वे सूक्ष्म और गहरी हैं इसलिए सहसा उन पर निगाह नहीं जाती। 'गिरती दीवारें' के इन स्थलों में जैसे मैंने अपनी ओर से उन यथार्थताओं का संकेत किया है दूसरे उपन्यासों में ऐसा नहीं किया। इसलिए जब तक पाठक या आलोचक उन्हें ध्यान से न पढ़े, उनके लिए उन्हें जान पाना कठिन है।"

मेरा अगला प्रश्न था 'गिरती दीवारें,' आत्म कथा शैली में लिखा गया उपन्यास है, पर यह मानना कहाँ तक ठीक होगा कि उसके नायक के रूप में लेखक ने अपनी ही गहराइयों में उतर कर विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है? एक आलोचक ने तो यहाँ तक माना है कि 'अश्क के उपन्यासों के नायकों के रूप में उनका अपना व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हुआ है और नारी पात्रों के रूप में उनकी तीन पत्नियों तथा सम्पर्क में आने वाली अन्य नारियों के चित्रण का आभास मिलता है। (सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ ११६)।

अश्क जी का उत्तर बड़ा तीखा था "अधिकांश हिन्दी-आलोचकों की आलोचना और दृष्टि निहायत छिछली होती है। अधिकांश आलोचक अध्यापक होते हैं और चूँकि छात्र उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनके चरण छूते रहते हैं और उनकी गलत-सलत धारणाओं का समर्थन करते रहते हैं, इसलिए उन्हें अपनी सर्वज्ञता का पूरा विश्वास रहता है। वे यह नहीं समझ पाते कि आलोचक का काम लेखक से कहीं कठिन है और अच्छी तथा तथ्यपरक आलोचना न केवल उस विधा के वरन् जीवन के भी गहरे ज्ञान की अपेक्षा रखती है। वे प्रायः सरसरी नजर से रचनाएँ पढ़ कर जो मन में आता है लिख देते हैं और अपने जाने लेखकों को बनाते बिगाड़ते रहते हैं। हालांकि न वे किसी लेखक को बना सकते हैं, न बिगाड़ सकते हैं (यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि एक सशक्त आलोचक में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह लेखकों को को बना-बिगाड़ सके और सरफिरा से सरफिरा लेखक भी उसकी बात का नोटिस लेने को विवश हो। पर तब आलोचक को आलोच्य विधा और जिन्दगी का ज्ञान रखने के अलावा परम निष्पक्ष और दयानतदार भी होना होगा। और यही बात मुश्किल है।)

मैंने सुषमा धवन की वह पुस्तक नहीं पढ़ी। यदि वह कोई शोध ग्रन्थ है तो आपने बेकार उसका नोटिस लिया। यदि कोई शोधग्रन्थों पर शोध करे तो

ऐसे-ऐसे हाउलर्ज़ (भयानक गलतियाँ) सामने आयें कि लोग दंग रह जाएँ। मैंने कुछ शोध-ग्रन्थ देखे हैं, तभी मैं यह कहता हूँ। यदि सुषमाजी ने किसी लेख में इस सत्य का उद्घाटन किया है तो वह लेख मेरी नजर से नहीं गुजरा। बहरहाल, उनका यह रिमार्क काफी छिछला और असत्य है, क्योंकि ऐसे रिमार्क के लिए सुषमाजी को मेरे व्यक्तित्व और मेरे जीवन का पूरा ज्ञान होना जरूरी है और मैंने तो उनका नाम भी नहीं सुना। प्रकट है कि उन्होंने यह निष्कर्ष मेरे सम्बन्ध में कही सुनी-सुनायी बातों के बल पर निकाला होगा। और इसलिए यह रिमार्क गैर-जिम्मेदारी से भरा है।

'गिरती दीवारें' चाहे आत्मकथा शैली में लिखा गया हो, पर वह आत्मकथा नहीं है। वह उपन्यास है और इसीलिए उसमें लगातार कल्पना का समावेश है। जो लोग मुझे निकट से जानते हैं, वे समझ सकते हैं कि मैंने चेतन को अपनी अनुभूतियाँ तो दी हैं, अपना व्यक्तित्व नहीं दिया। और अनुभूतियाँ तो मैंने अन्य पात्रों को भी दी हैं। और बिना अनुभूतियों के यथार्थपरक उपन्यास लिखा ही कैसे जा सकता है? यदि सुषमाजी ने ऐसा लिखा होता कि लेखक ने अपनी ही अनुभूतियाँ नायक को दी हैं तो गलत न होता। लेकिन अपना व्यक्तित्व तो कोई लेखक आत्मकथा तक में पूरा नहीं दे सकता।

"जहाँ तक मेरे सम्पर्क में आयी नारियों का सम्बन्ध है, जरूर ही उनका कुछ-न-कुछ कल्पना के मिश्रण से नया बन कर मेरे उपन्यासों के नारी पात्रों को मिला है, लेकिन जहाँ तक मेरी तीनों पत्नियों का सम्बन्ध है, दूसरी और तीसरी के बारे में मैंने अभी कहीं कुछ लिखा नहीं और 'गिरती दीवारें' जब लिखा गया था तो न मेरी दूसरी पत्नी थी, न तीसरी। अपनी पत्नी की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद मैंने दूसरी शादी की और तब तक मैं 'गिरती दीवारें' का (यानी उस बृहद् उपन्यास के पहले खण्ड का) अधिकांश लिख चुका था। हाँ पहली पत्नी को जरूर मैंने 'गिरती दीवारें' में लिया है, पर वही तो शायद 'गिरती दीवारें' के पाँचों खण्डों की एक मात्र प्रेरणा है। यानी विस्तृत जिन्दगी के अलावा यदि उस प्रेरणा को किसी एक पात्र में संकेलित किया जाय तो।"

अब मैंने अश्क जी के सामाजिक निदान पर प्रश्न किया : "अपने सभी उपन्यासों में आपने निम्न मध्यवर्ग के युवक की सब समस्याओं का मूल अर्थ—काम की क्रिया-प्रतिक्रिया में खोजा है। पर क्या आप नहीं मानते कि निम्न मध्यवर्ग समाज का सर्वाधिक संस्कारशील वर्ग है और उसके परम्परागत संस्कार उसके मन-प्राण को इस प्रकार जकड़ लेते हैं कि वह जो करना चाहता है, नहीं कर पाता तथा जो नहीं करना चाहता, वह उससे बरबस हो जाता है। चेतना और अचेतन प्रवृत्तियों के दो पाटों के बीच जितना अधिक यह वर्ग पिसता है, उतना कोई नहीं। निम्न और उच्च-वर्ग ऐसी संस्कारिता में अपेक्षतया मुक्त रहते हैं। इसलिए वे कुण्ठा और घुटन को अधिक नहीं पालते।"

मुझे उखाड़ते हुए अश्क जी ने कहा - "आपके प्रश्न के पहले वाक्य से मैं सहमत नहीं हूँ। मेरे उपन्यासों में केवल काम की समस्याएँ नहीं है। काम, अर्थ और अह—मैं इन्हें ही जिन्दगी की परिचालक शक्तियां मानता हूँ। काम एक बहुत बड़ी शक्ति है, लेकिन अह से बड़ी नहीं—चेतन, जगमोहन अथवा संगीत सिंह काम की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही परिचालित नहीं हैं। तीनों के साथ अह की एक बहुत बड़ी समस्या है और ध्यान से उपन्यास को पढ़ने वाला इस तथ्य से निश्चय ही अवगत होगा। फिर आपके प्रश्न में शब्द 'सभी' पर मुझे आपत्ति है। मेरे उपन्यास 'पत्थर-अलपत्थर (बर्फ का दर्द)' को कुछ लोग मेरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यास मानते हैं। रूसी, मराठी, असमी और अंग्रेजी में उसका अनुवाद भी हुआ है और उसमें कहीं काम की समस्या नहीं। आपके प्रश्न के दूसरे खण्ड से मैं सहमत हूँ।"

चर्चा को अश्क जी के उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' की ओर मोड़ते हुए मैंने पूछा "आपके औपन्यासिक पात्र किसी भी व्यक्ति और परिस्थिति से पूरी तरह समझौता नहीं कर पाते और न ही उनमें इतना दम है कि डट कर किसी से टक्कर ले सकें। फलत वे जीवन भर घुलते हैं और संघर्ष की आग में एक-एक करके उनके भस्म हो जाते है, पर उनकी व्यक्ति-चेतना अरमानों की राख को गर्म किये रहती है। 'गिरती दीवारें' से लेकर 'गर्म राख' तक ऐसा ही हुआ है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' में भी व्यक्ति चेतना की यह उष्णता नायक संगीत में प्राण फूँक सकती थी, पर आपने न जाने क्यों नायक-नायिका के स्वस्थ प्रेम को विकसित ही नहीं होने दिया, जब कि संगीत इस तथ्य को जानता है कि हर प्रेम के तल में कहीं जरूर वासना की हल्की धारा होती है, लेकिन ऐसा प्रेम भी है जो सिगना नहीं उठाता है।"

समाधान में अश्क जी ने कहा "मेरे अधिकांश उपन्यासों के पात्र निम्न मध्यवर्ग के बौद्धिक युवक हैं और जैसा मैंने उन्हें देखा है वैसा ही चित्रित कर दिया। समझौता करके प्रसन्न होने वाले अबौद्धिक होते है, लेकिन जो सोचते समझते है, चिन्तन और मनन करते है, घुटन, चिन्ता और जिन्दगी भर घुलना उनका भाग्य है, जब तक कि वे अपनी मनचाही राह नहीं पा लेते। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मेरे उपन्यासों की अवधि उन नायकों के दो-एक वर्ष के जीवन काल से ज्यादा नहीं—वे लोग युवा हैं, बदलने के क्रम में हैं, विद्रोही है और उनके बारे में कोई अन्तिम बात नहीं कही जा सकती। उपन्यास उनकी पूरी जिन्दगियों तथा उनकी समस्त सफलताओं और असफलताओं का ब्योरा देने के लिए नहीं लिखे गये। उनके माध्यम से जिन्दगी और उसकी यथार्थताओं को उजागर करने के लिए लिखे गये हैं ताकि उनको पढ़ने वाले लोग उन यथार्थताओं को देख कर अपनी जिन्दगियों के आदर्श बनायें। दूसरे शब्दों में यदि चेतना, जगमोहन या संगीत की जगह जिन्दगी से समझौता करने वाले पात्र होते तो उनकी निगाहों में कहीं कोई समस्या दिखायी ही न देती। यथार्थता की कटुता को देखने के लिए नायक का भावप्रवण होना आवश्यक है।

सौटें साल वाले के लिए न कहीं कोई समस्या है, न रास्ते में कहीं कोई दीवार है—आपने अपने प्रश्न में यह वाक्य गलत लिखा है—'फलतः वे जन्म भर घुनते हैं और मदर्द की आग में एक-एक करके उनके अरमान भस्म हो जाते हैं।' मेरे किसी भी उपन्यास में किसी नायक की पूरी जिन्दगी का ब्यौरा नहीं। उनके बचपन और लड़कपन का ब्यौरा है अथवा जवानी के उस एकाध वर्ष का जिस पर उपन्यास लिखे गये। इसलिए शब्द 'जीवन भर' पर मुझे आपत्ति है।—हाँ, आप यह कह सकते हैं कि अगर ये लोग अपनी अति भावप्रवणता का नहीं छोड़ते तो जिन्दगी भर के लिए घुलना उनके भाग्य में बदा है।

'बड़ी-बड़ी आँखें' प्रेम की समस्या को लेकर नहीं लिखा गया। इसलिए नायक-नायिका के स्वस्थ प्रेम के विकास और फल का प्रश्न मेरे सामने नहीं रहा। प्रेम की समस्या वह माध्यम है जिसके द्वारा मैंने देवनगर के ऊपरी आदर्शों के बीच छिपी हुई हकीकत को बेनकाब किया है। संगीत जब देवनगर को छोड़ता है तो उसे लगता है कि वह उस देश सरीखा है, जिसका प्रधानमन्त्री उदाराशय, स्वप्नशील और भविष्य-द्रष्टा हो, पर उसके सहकारी अवसरवादी, चाटुकार और खुशामदी हों और जिसके दफ्तरों में भ्रष्टाचार और स्वजन पालन का दौर-दौरा हो। देवनगर वास्तव में प्रतीक है—किसी ऐसे आश्रम, संस्था अथवा देश का, जिसके संचालक बड़े-बड़े दाँव करते हैं, पर चूँकि वे सत्य का सामना करने का और व्यवस्था को नीचे से बदलने का साहस नहीं रखते, इसलिए उनके सारे आदर्श धरे के धरे रह जाते हैं। मेरे उपन्यासों के नायक वे फलक हैं, जिन पर मैं अपने सामाजिक जीवन को चित्रित करता हूँ। इसीलिए वे भावप्रवण हैं और पूरी तरह समझौता नहीं करते, पर महत्त्व उन नायकों और उनके जीवन का नहीं, उन यथार्थताओं का है जिनका उद्घाटन उनकी इतनी भावप्रवणता द्वारा हुआ है।

'जो प्रेम उठाता है वह कई बार अपनी कीमत पर ही व्यक्ति जो उठाता है। यदि संगीत और वाणी का प्रेम सफल होता तो संगीत को उस सारे वातावरण से समझौता करके वहीं रहना होता, पर जैसा कि मैंने पहले कहा है प्रेम उपन्यास की मुख्य समस्या नहीं है।"

मेरा अगला प्रश्न था : "शहर में घूमता आइना" के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते चेतन को जो राहत मिली है वह उसकी भटकन का अन्त है या एक पड़ाव ? क्या इस बात की सम्भावना नहीं कि 'जो पास है उसे ठुकराने और जो नहीं है, जो नहीं मिल सकता उसके लिए परेशान रहने वाले चेतन का मन दो दिन में ही चन्दा से भर जाय तथा वह किसी और नीला के पीछे दीवाना हो ले ? मुझे लगता है, चेतन ने अभी आर मुक्ति नहीं पा सके हैं।

अश्कजी बोले : 'शहर में घूमता आइना' पाँच खण्डों में लिखे जाने वाले उपन्यास का केवल दूसरा खण्ड है और प्रकट ही यह पड़ाव है। लेकिन वह महत्त्वपूर्ण पड़ाव है, क्योंकि उसके माध्यम से वह चन्दा को समझने के ज्यादा निकट हो गया

है। और इसके आगे के उपन्यासों में उसकी भटकन को रोकने वाली वह एक बड़ी रुकावट हो जाती है और वही उसकी शक्तियों को निश्चित राह देती है। वह फिर ऐसे नहीं भटकेगा, यह तो मैं नहीं कह सकता, क्योंकि उपन्यास के चौथे खण्ड में, जिसका काफी भाग 'नयी कहानियाँ' में 'बाँधो न नाव इस ठाँव' के शीर्षक से छप गया है, फिर ऐसी स्थिति आती है, लेकिन वह उससे इसलिए उबर जाता है कि वह प्रेम और वासना की वास्तविकता को समझ गया है।

"जैसा कि मैंने पहले कहा, 'गिरती दीवारें' के पाँच खण्डों में काम, अर्थ और अहं की तीन परिचालन-शक्तियों का विवेचन करना चाहता हूँ। 'गिरती दीवारें' के पहले खण्ड में काम की समस्या प्रमुख है। 'शहर में घूमता आईना' में असफल काम के फलक पर अर्थ और अहं को—तीसरे खण्ड का नाम 'नन्हीं सी किन्दील' है और यह नन्हीं किन्दील उस अहं की ही किन्दील है जो इसमें से हर एक व्यक्ति के अन्तर में टिमटिमाती-सी जलती है। मेरा यह निश्चित मत है कि ज़िन्दगी की परिचालक-शक्तियों में अहं सबसे महत्त्वपूर्ण है। पेट कुत्ते, गधे और कौवे भी भर लेते हैं और अर्थ वेश्याओं के पास भी होता है, लेकिन आदमी को इन दोनों से ऊपर उठाने वाली शक्ति केवल अहं की है। और इसी को केन्द्र में रख कर मैंने 'गिरती दीवारें' का तीसरा खण्ड लिखा है। इस खण्ड में मैंने दिखाया है कि किस प्रकार इस अहं पर ज़रा-सी चोट आदमी की ज़िंदगी की धारा को बदल सकती है और उत्तर की तरफ जाता आदमी दक्षिण की ओर जाने की सोच बैठता है। उपन्यास का तीसरा खण्ड मेरे ख्याल में उसका आधारभूत खण्ड है और इसकी सफलता असफलता पर उपन्यास की सफलता-असफलता निर्भर है। तीसरे और चौथे खण्ड मैंने अधिकांशतः लिख लिये हैं, लेकिन वे साल-दो साल अभी मेहनत माँगते हैं। पाँचवें खण्ड का नाम मैंने 'इति नियति' रखा है और जहाँ ये चारों खण्ड ज़िन्दगी से उभरते हैं, पाँचवाँ मृत्यु से, जो ज़िंदगी की सबसे बड़ी हकीकत है।

"चेतन में मुक्ति नहीं मिल सकती क्योंकि चेतन ज़िन्दगी की किताब में प्रश्न चिह्नों का प्रतीक है और जब तक यह ज़िन्दगी है प्रश्न चिह्नों में कभी मुक्ति नहीं मिलती। तो भी यदि मैं इस बीच में स्वयं खत्म न हो गया तो पाँच खण्डों में चेतन के जीवन के पाँच वर्षों से मुक्ति पा लूँगा।"

इसी उपन्यास को लेकर मैंने एक और प्रश्न किया ? 'शहर में घूमता आईना' के समर्पण में आपने लिखा है कि "जो लोग सबकुछ ले कर पैदा हुए हैं अथवा कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिए इस उपन्यास में बहुत कुछ नहीं है। यह केवल बीच के लोगों के लिए है।" क्या आप कोई ऐसा गुर जानते हैं जिससे यह उपन्यास 'बीच के लोगों' तक ही सीमित रहे और अन्य लोगों के हाथ न पड़ने पाए ?"

प्रश्न के व्यंग्य को ताड़ते हुए अश्कजी ने कहा : "मेरे पास वैसा कोई गुर तो नहीं है, लेकिन इन पंक्तियों के माध्यम से मैंने वैसे लोगों को चेतावनी दे दी है और मेरा ख्याल है कि वैसे लोग इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद इसे नहीं पढ़ेंगे। और यदि

वे पढ़ेंगे और उन्हें कुछ नहीं मिलेगा तो मुझ से शिकायत नहीं करेंगे। दो-एक वर्ष पहले 'विवेचना' (इलाहाबाद) की एक गोष्ठी में जो इसी उपन्यास को लेकर हुई, आलोचनाओं के उत्तर में मैंने कहा था कि उपन्यास में जिन्दगी के बारीक सूत्र दिये गये हैं और यह उपन्यास केवल चेतन का नहीं हम सब का है—इसी में वह भी है और अमरनाथ (सरचश्मा-ए-जिन्दगी) भी, लालू भी, हमीद भी, सेठ हरदर्शन और गोविन्दराम भी—और उन्हीं के माध्यम से वे सूत्र दिये गये हैं और चूँकि उनके बारे में मैंने अपनी ओर से कुछ नहीं लिखा, इसलिए जब तक उपन्यास को दो-तीन बार न पढ़ा जाय, उन्हें नहीं पाया जा सकता।

"तब मिटिंग खत्म होने पर गोष्ठी के अध्यक्ष श्री विनयमोहन शर्मा के सामने डॉ० रघुवंश ने व्यंग्य से पूछा, अश्क जी यदि कोई तीन बार आपका उपन्यास पढ़े तो समझ लेगा ?"

मैंने कहा, "यदि वह्रा (उपन्यास का एक पात्र) इसे दस बार पढ़ेगा तो फिर भी उसके हाथ पल्ले कुछ नहीं आयेगा।"

तब उन्होंने कहा—"अश्क जी आप अपने आलोचकों की बात नहीं मानते, इसलिए आप महान रचना नहीं दे पाते।"

मैंने पलट कर कहा, "आप तो मानते हैं, और लिखते भी हैं, क्या आप दे पाये ?"

और वे चुप हो गये और वहां से खिसक गये।

"आपके प्रश्न के सदर्भ में इस घटना के उल्लेख का इतना ही अभिप्राय है कि ऐसे ही बेसमझ अथवा सर्वज्ञों के लिए मैंने वे पंक्तियां लिखी हैं कि वे पुस्तक पर समय नष्ट करके मुझे दोष न दें।"

सहज सम्बन्धों की काल्पनिक रेखाएँ[1]

•

गोविन्दलाल छाबड़ा

'और फिर लेखक की पूर्व नियोजित योजना के अनुसार गुरु महाप्रभु रत्नाम्बर के दोनों शिष्य—श्वेतांक और विशालदेव—एक ही नगर-पाटलिपुत्र में क्रमशः सामंत बीजगुप्त और योगी कुमारगिरि के पास रह कर पाप और पुण्य जैसी विकट समस्या के समाधान के लिए, जिसे गुरु कठिन परिश्रम और अनुभव के बाद भी हल करने में असमर्थ रहे, चल दिये। 'चित्रलेखा' की 'उपक्रमणिका' इस समस्या का प्रस्तुतीकरण है और 'उपसंहार' लेखक का मनमाना और पाठकों का अनचाहा समाधान। प्रश्न उठता है कि क्या आलोच्य उपन्यास की रचना का उद्देश्य बस पाप-पुण्य की समस्या ही है? उत्तर स्पष्टतः नकारात्मक है। पाप-पुण्य सम्बन्धी समस्या का विश्लेषण उपन्यास का एक पक्ष है। कृति की सफलता का रहस्य उसके दूसरे कलात्मक पक्ष में निहित है। अतः यहाँ उक्त दोनों पक्षों का विश्लेषण अनिवार्य है।

'चित्रलेखा' को पाप-पुण्य का विश्लेषण करने वाली कथा मानने पर आलोचक का मन सिहर उठता है, क्योंकि उसमें भारतीय दार्शनिक और धार्मिक विचारधारा को ठुकराया गया है। परिस्थितियों और नियति के वात्याचक्र में पात्रों के प्रारम्भिक व्यक्तित्व को झुलसा दिया गया है। दो त्रिकोणात्मक कथाओं के माध्यम से नये भ्रामक दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। 'चित्रलेखा' के सभी प्रमुख पात्र हमारे उक्त मत की पुष्टि करते हैं। आरम्भ का इन्द्रियजित अलौकिक शक्ति सम्पन्न योगी कुमारगिरि अन्त में मानव और पशु की कोटि से भी नीचे गिरा हुआ अधम प्राणी प्रमाणित होता है। वह योगी, साधन जिसका संयम था और स्वर्ग लक्ष्य जो तेज और प्रताप का पुंज था, संसार की सम्पूर्ण वासनाओं को जिसने जीत लिया था, जो शारीरिक और आत्मिक बल दोनों में वलिष्ठ था, वही कुमारगिरि अन्त तक आते-आते, मक्कार, झूठा, दम्भी, काम-लोलुप और भयंकर षड्यन्त्रकारी प्रमाणित होता है। प्रारम्भ का उसका अनुकरणीय चरित्र, योग और तप-त्याग अन्त में पशुता, क्रोध और घृणा को जन्म देने वाला सिद्ध करता है। आरम्भ का उसका गर्व और

---

१. चित्रलेखा : भगवतीचरण वर्मा

आत्मसम्मान अन्त मे अहंकार और कलुष प्रमाणित होते है। स्त्री को अन्धकार, मोह, माया और वासना समझने वाला बालब्रह्मचारी बाद मे चित्रलेखा के रूप-पुंज मे पागल पतंगे सा मंडराने लगता है। कल्पना और शून्य मे विचरण करने वाला योगी माया के वात्याचक्र मे पड कर जीवन की मस्ती और योग के कलुष कुंड मे ऐसा गिरता है कि पुनः उबरने की सम्भावना भी नहीं रह जाती। वासना को पाप (अत त्याज्य) समझने वाला योगी वासना का दास बन जाता है। दरबार मे योग-दर्शन के पूर्व का योगी झूठे गर्व और अहंकार मे आकर चित्रलेखा जैसी अपूर्व सुन्दर नर्तकी से प्रतियोग लेते-लेते अपने आप को पथ भ्रष्ट कर बैठता है। दम्भ के मद मे वह भरी सभा मे कह बैठता है—"इस सभा मे कोई भी व्यक्ति मुझे पराजित नही कर सकता और न मुझ को दण्ड देने का कोई व्यक्ति साहस ही कर सकता है।" और भी—"नही, पराजय असम्भव है। मैं पराजित हो ही नही सकता। क्या मेरी साधना का अन्त पराजय होगा? कभी नहीं, कभी नहीं।" और उसका यह दम्भ ही उसके पतन का प्रथम सोपान सिद्ध होता है। उसका यह दम्भ हम तभी चूर-चूर होते देखते हैं जब वह चित्रलेखा के सौन्दर्य की आभा मे अपने को गलाने लगता है। वह अतृप्त शराबी की भाँति नर्तकी को देख कर मज्ञाहीन सा खो जाता है। उसकी सोई हुई वासना भयकर विषधर बन उसे डसने लगती है। और अन्त मे अपनी साधना, अपने योग, अपने ज्ञान, अपने चरित्र सबका होम कर बैठता है।

'चित्रलेखा' इस उपन्यास का केन्द्र बिन्दु है। यद्यपि चित्रलेखाकार ने इस अनिन्द्य सुन्दरी को नर्तकी के रूप मे सम्बोधित किया है किन्तु हमारे विचार मे वह वेश्या हाँ वेश्या—वेश्या ही, संभवतः संभ्रान्त वेश्या—से कम नहीं। एक प्रेमी के रहते हुए दूसरे के प्रति उसका तीव्राकर्षण हमारे उक्त मत की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। है। वह विचारो से ही नही आचरण से भी वेश्या है। उसकी वासना सदा अतृप्त बनी रहती है। उन्माद, मस्ती और वासना को जीवन का सार-सर्वस्व समझने वाली यह प्रमदा बीजगुप्त के जीवन पर धूमकेतु सी छा जाती है। उपन्यास के प्रथम परि-च्छेद मे ही हम उसे जीवन की मस्ती और यौवन के मादकतापूर्ण उल्लास-विलास में किल्लोलें मारते हुए देखते हैं। विधवा का संयम उसने किया अवश्य था किन्तु कृष्णादित्य के सम्पर्क से वह पथ-भ्रष्ट हो गई थी। उसकी मृत्यु के उपरान्त पुनः उसने सयम का मार्ग अपनाया था किन्तु बीजगुप्त के वैभव और सौन्दर्य से पराजित होकर पदच्युत हो गई। नियति का विधान और वासना-प्यास-तृप्ति-मार्ग को श्रेयस्कर समझ कर वह उस पर बेतहाशा दौड़ पड़ी। सयम-नियम की राह पर चलना अब उसे अपमानजनक और अतात्विक लगने लगा। स्वाभिमानिनी और बुद्धिमति यह असाधारण नर्तकी कुमारगिरि जैसे महात्मा को पहली ही भेंट मे अपनी ओर आकृष्ट करने मे सफल होती है। योगी पर उसका मर्मान्तिक प्रभाव पडता है। अपनी प्रत्यु-त्पन्न मति, अपने चातुर्य, अपनी सुन्दरता, अपने गर्व और अहं से वह कुमारगिरि को प्रभावित करती है। "प्रकाश पर लुब्ध पतिंगे को अंधकार का प्रणाम है"—कह कर

वह योगी को अपनी बुद्धिमत्ता, शक्ति और सौन्दर्य का अहसास करवाती है। उसका अपूर्व सौन्दर्य कुमारगिरि के जीवन में उन्माद की भयंकर झँझा उत्पन्न कर देता है। योगी को अपनी तर्कना शक्ति से अभिभूत करते हुए वह एक स्थान पर कहती है—"योगी तपस्या जीवन की भूल है, यह मैं तुम्हें बतलाये देती हूँ। तपस्या की वास्तविकता है आत्मा का हनन।" और वास्तव में ही योगी तपस्या को आत्मा का हनन और एकांतवास को भ्रामक समझने लगता है। ऐसा है उस नर्तकी के आकर्षण का प्रभाव। उसके ऐसे ही प्रवृत्तिप्रधान विकृत दार्शनिक सिद्धान्त योगी को विचलित करने लगते हैं। इन्हीं ऊल-जुलूल तर्कों से वह कुमारगिरि जैसे एकांत साधक को भी अपनी ओर आकृष्ट करती ही है, दर्शन-स्मृतियों के ज्ञाता, व्याकरण के पंडित, अनुभवहीन पच्चीस वर्षीय युवक श्वेतांक को भी प्रेम के भ्रम में डाल देती है। "जिस समय चित्रलेखा की अधखुली मस्त आँखें श्वेतांक की आँखों से मिल जाती थीं, उस समय श्वेतांक पागल की भाँति झूमने लगता था श्वेतांक तो अभी अनुभवहीन बच्चा था।" *योगी तक उसके मादक सौन्दर्य से पथ भ्रष्ट हो गया। यह ठीक ही है कि वह योगी को ठगने चली थी, किन्तु उसे ठगते-ठगते स्वयं ठगी गई। कामलोलुपता और बदले की भावना ने उसे प्रवंचिनी* और धूर्त बना दिया। वह अपने उदात्त, निर्मल, पवित्र प्रेम को त्याग कर क्रमशः पतित पतिततर और पतिततम होती गई। आरम्भ की 'परम पवित्र नर्तकी' अन्त में विश्वासघातिनी रूप-लोलुपा विलासिनी और वेश्या बन गई। असंयमित भोग विलास उसके जीवन के लिए प्राणघातक विष प्रमाणित हुआ। निराशा, दुःख और बदले की भावना से पीड़ित होकर उसने कुमारगिरि को अपना शरीर समर्पित कर दिया। सम्हली वह तब, जब उसका सब कुछ लुट गया। सच्चाई को जानने पर वह चोट खाई सर्पिणी के समान कुमारगिरि पर फुंकार उठी "वासना के कीड़े! तुम मुझसे झूठ बोले। तुम्हारी तपस्या विफल हो जायगी और तुम्हें युगों-युगों नरक में जलना पड़ेगा।" आत्मग्लानि एवं भयंकर आक्रोश से पीड़ित वह अपने घर में तो लौट आई किन्तु बीजगुप्त से साक्षात्कार का आत्मिक बल उसमें न रहा। हाँ बीजगुप्त की देवत्व वृत्ति अवश्य उसे उबारने में सहायक सिद्ध होती है। बीजगुप्त से क्षमा का दान पा *कर सम्पूर्ण सम्पत्ति का त्याग कर वह उस देव-मनुष्य के साथ हो लेती है। मैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में बीजगुप्त-चित्रलेखा* के प्रायमिक चुम्बन, आलिंगन, परिरम्भन और अन्त के चुम्बन में महान् अन्तर है। प्रारम्भ में वे यौवन की मस्ती और मदिरा की मादकता में डूबे हैं और अन्त में वे सच्चे आत्मीय एवं तन्मयता से पूर्ण हैं।

पच्चीस वर्षीय हृष्ट-पुष्ट युवक बीजगुप्त 'चित्रलेखा' के प्रेम-त्रिकोण का तृतीय बिन्दु है। उन्मुक्त भोग-विलास में विश्वास रखने वाला यह सुदर्शन युवक मौर्य साम्राज्य का वैभवशाली और प्रभावशाली सामन्त है। उसकी विशाल अट्टालिकाओं में भोग-विलास नाचा करते हैं, रत्न जटित मदिरा के पात्रों में ही उसके जीवन का सारा सुख है। वैभव और उल्लास की तरंगों में वह केलि करता है। ऐश्वर्य की

उसके पास कमी नहीं है। उसमें सौन्दर्य है और उसके हृदय में संसार की समस्त वासनाओं का निवास। पाटलिपुत्र की अनिन्द्य सुन्दरी नर्तकी चित्रलेखा को वह अपने विशिष्ट आचरण और व्यक्तित्व से वशीभूत करता है। नर्तकी के व्यक्ति प्रधान विचारों के उत्तर में वह एक स्थान पर कहता है—"व्यक्तित्व जीवन में प्रधान है और व्यक्ति से ही समुदाय बनता है। जब व्यक्ति वर्जित है तो उस व्यक्ति को समुदाय का भाग बनना अपना ही अपमान करना है।" और अपने इसी विशिष्ट व्यक्तित्व को वह अन्त तक सुरक्षित रखता है। उसका यही व्यक्तित्व चित्रलेखा को आकृष्ट करता है। चित्रलेखा से वह पत्नी के समान व्यवहार करता है। समाज की मान्यताओं के विपरीत आचरण कर वह अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ देता है। वह जो बाहर है वही अन्दर है। अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को वह छिपाता नहीं। यद्यपि विलासी व्यक्ति धर्मभीरु और समाजभीरु होता है किन्तु बीजगुप्त में नैतिक साहस और स्पष्ट वादिता, आत्मविश्वास और मधुर संभाषण, त्याग और उदारता जैसी विशेषताएँ हैं जो उसे क्रमश. मनुष्यत्व, से देवत्व की ओर ले जाती है। चित्रलेखा की अनुपस्थिति में वह एक बार विचलित अवश्य होता है किन्तु उसकी मेधा एवं तटस्थता उसे अपने पथ से भ्रष्ट होने से बचा लेती हैं। आत्म-मथन कर वह यशोधरा को श्वेतांक के लिए छोड़ देता है। अपने वैभव और मान का त्याग कर वह मनुष्यत्व देवत्व की ओर अग्रसर होता है। मृत्युंजय उसके इस महान् त्याग और विशिष्ट व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर कहते हैं—"आर्य बीजगुप्त ! मैंने संसार को देखा है, मैं कहता हूँ आप मनुष्य नहीं देवता हैं।" सुख से उद्वेलित हो बीजगुप्त का हाथ अपने हाथ में लेकर सम्राट चन्द्रगुप्त कहते हैं—"बीजगुप्त तुम एक महान् आत्मा हो, तुमने असम्भव को सम्भव कर दिखाया। तुम मनुष्य नहीं हो देवता हो। आज भारतवर्ष का सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य तुम्हारे सामने मस्तक भवाता है।" महाप्रभु रत्नाम्बर द्वारा पूछने पर श्वेतांक कहता है···"बीजगुप्त देवता है। संसार में त्याग की वह प्रतिमूर्ति हैं। उनका हृदय विशाल है।"

बीजगुप्त का जीवन वासना एवं संयम का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। वह उन्मादी होकर चित्रलेखा की वासना में डूबा अवश्य है, उसके जीवन में मनुष्योचित ईर्ष्या-प्रवृत्ति भी जागी है, किन्तु न तो उसने भोग में संयम का पल्ला छोड़ा है और न ही ईर्ष्या में जीवन को कलुषित कलंकित किया है। घातक परिणामजन्य विलास और विराग की अनिवार्यता से वह परिचित है। विलास में भी वह मानवता को नहीं खोता और योगी बनकर भी अहंकारी और दम्भी नहीं बन पाता। संभवतः बीजगुप्त की इन्हीं महानताओं से प्रभावित होकर श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने लिखा है—"कुमारगिरि की अपेक्षा बीजगुप्त में अधिक मानवता है और इसलिये जिस तत्त्व की उपलब्धि कुमारगिरि को कठिन साधनों से न हो सकी थी, उसे बीजगुप्त ने हृदय की साधना से उपलब्ध कर लिया था। उसका हृदय इतना विशाल था, उसमें इतनी उदारता थी कि वैभव के रस में डूबे रहने पर भी कमल-पत्र के समान वह अछूता

था। जिस विलासिता में वह जीवन भर आकण्ठ डूबा रहा, समय आने पर उसे बिल्कुल ही त्याग देने में उसे तनिक भी हिचकिचाहट न हुई। भोग करते हुए भी वह भोगों में बँधा नहीं है।" बीजगुप्त का जीवन वास्तव में भोग और योग का सुन्दर सम्मिश्रण है - *उसका जीवन आज के युवकों के लिए अनुकरणीय है।*

"चित्रलेखा" में बीजगुप्त चित्रलेखा, कुमारगिरि के त्रिकोण के अतिरिक्त एक अन्य प्रेम त्रिकोण—श्वेतांक यशोधरा बीजगुप्त—भी है। किन्तु वह गौण है। यशोधरा की सृष्टि बीजगुप्त की प्रेम-परीक्षा के निमित्त की गई है जिस में वह सफल होता है। श्वेतांक के लाघव से बीजगुप्त द्वारा सर्वदान कराकर लेखक ने बीजगुप्त को और ऊपर उठाया है।

'चित्रलेखा' के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस चरित्र प्रधान उपन्यास के प्रमुख पात्र वस्तुत वे नहीं हैं जो वे हैं। आरम्भ का बीजगुप्त मानव है और अन्त का देवता। आरम्भ का योगी कुमारगिरि अन्त में पिशाच बन गया है। आरम्भ की चित्र की चित्रलेखा सम्भ्रान्त नर्तकी है अन्त की घृणित कलुषित (और पुन. सती-साध्वी) पात्री।

अब प्रश्न उठता है कि क्या उक्त दो प्रेमी त्रिकोणों में पाप-पुण्य की समस्या का समाधान हुआ है? महाप्रभु का यह अन्तिम समाधान द्रष्टव्य है—"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मन: प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मन प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दोहराता है। यही मनुष्य का जीवन है जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है। वह परिस्थितियों का दास है।—विवश है। वह कर्त्ता नहीं है, वह केवल साधक है। फिर पुण्य और पाप कैसा?" लेखक का स्पष्ट मत है कि संसार में पाप कुछ भी नहीं है, केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का प्रतिफलन है। विषम दृष्टिकोण के कारण ही पाप-पुण्य की परिभाषा अलग-अलग है। सुख जन्य पाप कर्म भी मनुष्य के लिए पाप नहीं है और दुःख जन्य पुण्य त्याज्य एवं पाप है। सुख प्राप्ति की लालसा मानव में सर्वदा रही है। सुख की तृष्णा भिन्न-भिन्न रुचियों के कारण अलग-अलग पदार्थों पर आधृत एक है। एक यदि उसे मदिरा में पाता है तो दूसरा *व्यभिचार में, कोई योग की लालसा में ढूँढता है तो कोई संसार के मोह में।* अतः इसी दृष्टिकोण की विषमता के कारण एक का पाप दूसरे के लिए पुण्य है। चूँकि मानव परिस्थितियों का दास है, वह परिस्थितियों से बाध्य होकर यदि विपरीत आचरण करता है, तो लेखक के अनुसार उसके पाप का उत्तरदायित्व उस व्यक्ति विशेष पर नहीं है। लेखक ने रत्नाम्बर के मुख से कहलवाया है—"यह मेरा मत है तुम लोग इससे सहमत हो या न हो तुम्हें बाध्य नहीं करता और न कर सकता हूँ।"

मेरे विचार में लेखक का पाप-पुण्य सम्बन्धी यह मत अनर्गल, अनुचित और घातक निष्कर्षों से भरा हुआ है।

इसी प्रसंग में लेखक ने कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भी उठाया है। जीवन का लक्ष्य और उचित तथा श्रेष्ठ जीवन-मार्ग आदि प्रमुख प्रश्नों के उत्तर में लेखक का स्पष्ट मत है कि जीवन का लक्ष्य सुख-शान्ति की प्राप्ति है जिसके लिए भोग और योग का मध्यम मार्ग श्रेयस्कर है। प्रथम प्रश्न के समाधान के लिए लेखक ने अनुभूति का सहारा लिया है। अतः प्रश्न के कई उत्तर सामने आते हैं। चित्रलेखा के लिए जीवन का सुख 'मस्ती' है, कुमारगिरि के लिए योग साधन और विराग ही इस जीवन का लक्ष्य है। श्वेतांक जीवन का लक्ष्य सुख और शान्ति मानता है। बड़ी कुशलता से लेखक ने चित्रलेखा की अतिमस्ती और कुमारगिरि की अतिसाधना का भयानक अन्त दिखा कर बीजगुप्त के जीवन द्वारा मध्यम मार्ग को श्रेयस्कर और सुखद प्रमाणित किया है। निश्चय ही उसने अतिप्रवृत्ति और अतिनिवृत्ति दोनों मार्गों का ज़ोरदार शब्दों में खण्डन किया है। वास्तव में पाप-पुण्य के माध्यम से वर्मा जी ने मानव की अस्वस्थ एवं निर्बल प्रवृत्तियों पर प्रहार किया है। कुमारगिरि के माध्यम से निवृत्ति जन्य मार्ग को हेय सिद्ध किया है और बीजगुप्त के चरित्र से जीवन की स्वस्थ प्रवृत्तियों की उपलब्धि व सफलता की ओर इशारा किया है। यशोधरा-श्वेतांक के गृहस्थाश्रम प्रवेश और बीजगुप्त के आशीर्वाद से इस भौतिक धरातल पर जीवन का उन्नयन दिखाया गया है।

लेखक की उक्त पाप-पुण्य सम्बन्धी धारणा आज के स्वतन्त्र विचारशील युवकों के गले से नहीं उतरती तो फिर क्या यह कह दिया जाये कि उपन्यास—एक साहित्यिक कृति के रूप में—सफल नहीं ? वास्तव में किसी साहित्यिक रचना की सफलता असफलता की कसौटी उसमें वर्णित विभिन्न समस्याएँ नहीं होतीं, प्रत्युत कृति की सफलता उसकी कलात्मकता पर आश्रित है। अतः इस उपन्यास की कलात्मक विशेषताओं का विश्लेषण आवश्यक है।

आलोच्य उपन्यास की घटनाएँ और पात्रों की स्वभाव विशेषताएँ ऐसी घुल-मिल गई है कि इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। घटनाओं और पात्रों की यही एकात्मकता उपन्यास के रूप और उसके सौष्ठव को सुन्दरता प्रदान करती है। जीवन के सिद्धान्तों का जीवन्त-पात्रों एवं सरस प्रसंगों द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और योग-भोग का कलात्मक संगम उपन्यास की विशेषता है। 'चित्रलेखा' की सफलता का दूसरा रहस्य इसके अन्तर्द्वन्द्वात्मक स्थल हैं। चित्रलेखा की अनुपस्थिति में बीजगुप्त की मनःस्थिति, यशोधरा की प्राप्ति के लिए श्वेतांक के मन का द्वन्द्व, चित्रलेखा द्वारा प्रताड़ित श्वेतांक की आत्मग्लानि के प्रसंग, कुमारगिरि का क्षोभ और ग्लानि जन्य पश्चात्ताप आदि अन्तर्द्वन्द्व के मर्मस्पर्शी उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त मध्यरात्रि के समय प्रेमातुर चित्रलेखा और बीजगुप्त के पास रत्नाम्बर का आगमन, मौर्य की भरी सभा

मे योगी-नर्तकी का बौद्धिक तर्क वितर्क, कुमारगिरि के सम्मुख चित्रलेखा की अनुनय-पूर्ण दीक्षा याचना, योगी और नर्तकी के एकान्तवास में विशालदेव का प्रवेश आदि स्थल नाटकीयता की सृष्टि करते है। उपन्यास की यही नाट्यात्मकता उसकी सफलता का तीसरा कारण है। इस साहित्यिक रचना की सफलता का चौथा कारण उसकी *विशिष्ट भाषा शैली है। यथासमय भावानुकूल ललित कवित्वमय स्थल*, दार्शनिक विचारों से भरी बोझिल-भरकम सुगठित संक्षिप्त और सांकेतिक भाषा वर्णनात्मक स्थलों पर शुद्ध साहित्यिक खड़ी बोली— भाषा के ये सभी रूप उपन्यास की कलात्मकता मे अभिवृद्धि करते हैं। जीवन की मस्ती, उन्माद और मादकता को कवित्वमय शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली कोमल भाषा पाठकों का मन अनायास ही मोह लेती है। ऐसे कवित्वपूर्ण स्थल अनुभव की वस्तु हैं, उनकी व्याख्या प्रायः दुष्कर है। विभिन्न भाषा रूपों के अनुरूप चित्रलेखा के रचयिता ने तर्क प्रधान, कथोपकथनात्मक और वर्णनात्मक—शैलियों का प्रयोग कर अपने कौशल का परिचय दिया है। लेखक ने वस्तु के गठन, कसाव, सक्षेप, पात्रों और प्रसंगों की कलात्मकता, भाषा-शैली की आवश्यकतानुसार विचित्रता की ओर जागरूक रह कर एक सफल कलाकार की भाँति कृति को दर्शन-ग्रंथ होने से बचाया है।

अन्त में इतना कहना अभीष्ट है कि 'चित्रलेखा' अपने प्रकाशन काल से लेकर अब तक लाखों हाथों में गई। इस बहुचर्चित रचना का आलोचक स्पष्ट स्वीकार करता है कि सब मिला कर यह एक सफल कलाकृति है। पाठक कृति के विचारों से असहमत होते हुए भी प्रभाव से अपने आप को अलग नहीं रख सकता यही इसकी कलात्मकता की कसौटी है, यही इसकी सफलता है।

कलात्मक अन्तर्दर्शन का व्यक्तिगत बोध[1]

●

जीवन शुक्ल

हर जन्म प्रेरित होता है अपने नये विकास के स्वप्न के साथ। जन्मों की शृंखला तत्व और ऊर्जा की भौतिक विवशता का विकास-शील इतिहास है। जीवाणु... अँबून...गिब्बन, ओरेंगुटन, गोरिल्ला, चिम्पेंजी...मनुष्य। मनुष्य अपने जन्म के श्रीगणेश काल में भी रसों की भूख, नसों की प्यास और आवास के भाव से ग्रसित रहता है। समुदाय में आने की स्थिति के बाद से जिस व्यवस्था और सभ्यता का विकास होता आया है वह वर्ग-संघर्ष की कहानी है। गोधूलि के ढल रहे सूर्य और दिन की व्यस्तता के शिथिल आंचल से मुक्त होते हुए धुकवा की कथा, अंधेरे और उजाले की नैतिकता का संघर्ष ही तो है!

जहाज के पंछी के सामने फैला होता है उफनाता हुआ अनन्त जल-राशि का सागर और दिशा हीन नीलाभ्र। वह लहरों की उर्मिलता में भोजन और आकाश की शून्यता में आवास खोजता है। आदि से वही क्रम...जैसे उड़ि जहाज को पंछी...। भूख और प्यास से व्याकुल मानव-राम, बिना स्वयंवर के ही जाति और धर्म का पिनाक तोड़कर परिस्थितियों से समझौता कर जिंदगी की सीता को वरण किये द्वार द्वार भटकता है—दो रोटी और दो गज जमीन के लिये।

दशरथ के राम ने क्षुधा के क्षणों में आतुर होकर देखा होगा वन-वृक्षों के फलों को, कैसा लगा होगा राजा के बेटे को निराश्रित तापस जीवन! "मुँह में मे पानी भर आता, पर आँखों का पानी सूख गया था, जैसे जीवन के अन्तहीन रेगिस्तान के भीतर दो अनादि और अतल धाराएँ सदा के लिये खो गई हों।" जीवन के अन्तहीन रेगिस्तान की बात सोचने वाला 'जहाज का पंछी' का नायक (अनामा) पूंजीवादी सभ्यता के समाज का शिकार है। 'फ्रीवर्ल्ड' को जोशी जी ने उस व्यक्ति के चश्मे से देखा है जो एक "दुम कटे सोशलिस्ट" की आँखों पर चढ़ा होता है। 'फ्री वर्ल्ड' और "सोशलिज्म" को एक दूसरे का पर्याय समझने का भ्रम तो परकटा "कम्यूनिस्ट" भी नहीं कर सकता। राजनीतिक-दर्शन पर अभिमत प्रकट करने के पूर्व

१—जहाज का पंछी : इलाचन्द्र जोशी

क्या ही अच्छा होता कि जोशी जी टेकनिकल शब्दों का अभिप्राय समझ लेते !

'पीड़ित मानवता की सेवा' 'संगमरमरों या संगमरमरनुमा पत्थरों से चमकती हुई' आलीशान इमारत' के 'फिल्दी ब्रूट्स, इनह्यूमन रैंचेज नहीं करते'''और यही कारण है कि मनुष्य का सबसे पहला-जीने का अधिकार' ही उससे छिन गया है। सदियों से जहाँ शोषण करने वाला समाज पीड़ित मानवता की सेवा का नाटक रचता आ रहा है वहाँ बेकार, बेघरबार लोगों का अरण्यरोदन जड़ पड़ गयी मानवी चेतना को स्पंदित करने की शक्ति खो देता है, *क्योंकि* असहाय मनुष्य अपनी विवशता की पोटली में भाग्य की पंजीरी बाँधे हवा की तेजी में उसके उड़ने पर विलाप करता है। वह निराकरण खोजता है भाग्य और संयोग की वीथियों में, परिस्थितियों के अभियोजन में नहीं। यही कारण है वह अपने को 'शतधा विभक्त' देखता है 'प्रत्येक अंश' को 'अपने आप में एक पूरी इकाई' मानता है। यह विद्रोही वृत्ति का वैयक्तिक दर्शन है।

अभियोजन हीन मस्तिष्क और समाज ही 'एक विशेष क्षण में मन ही मन रोते रहने पर'''मुक्त हास्य कर सकता है।' 'सच्चे हृदय' का प्रश्न ही वहाँ नहीं उठता; क्योंकि सत्य सबन्धित होता है अपने संवेग के इतिहास से। साथ साथ हँसना और रोना असम्पृक्त स्थितियों का ही सूचक है, स्वाभाविकता का नहीं। एक आँख से हँसने और एक आँख से रोने की स्थिति भी किसी जीवन किसी समाज में कभी आती है पर वह स्थिति होती है परिवर्तन के क्षणों की, स्थायित्व व विकास की नहीं। गोधूली बेला की स्थिति !

हर गरीब, वर्गों में बँटे समाज के देश में, दूसरे को गिरहकट ही दिखाई देता है। यहाँ भी सत्य का निर्णायक संदर्भ ही है—सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति। प्रथम पुरुष की शैली में लिखी इस कथा का नायक भी समाज की दृष्टि में, पुलिस की *आँखों में, ऐसा ही था। उस के अंतःकरण में एक विद्रोह था, ऐसा विद्रोह जिसका* सामाजीकरण नहीं हुआ था। आदर्शवादी विद्रोह, एक ऐसे व्यक्ति का विद्रोह जो जीने के अधिकार का हामी है, पूरी मानवता और कल्याण का स्वप्न-द्रष्टा है। जिसके पास न रहने को घर है और न खाने को रोटियाँ। ऐसी स्थिति में जब पुलिस के धक्का देने में नायक महोदय को अस्पताल में भर्ती कर दिया जाता है, उसे खाने को रोटियाँ और रहने को घर दोनों प्राप्त हो जाते हैं। वह वहाँ से जाना नहीं चाहता। स्वस्थ हो जाने पर भी रोग का बहाना करता है। यह मनोवैज्ञानिक स्थिति एक हारे हुए व्यक्ति की तो हो सकती है, विद्रोही की नहीं। विद्रोही जीवन से लड़ने की शक्ति सँजोता है, बच्चों की तरह उन स्थितियों से चिपके रहने की बात नहीं करता जो उसकी हो ही नहीं सकतीं। 'जहाज का पंछी' का नायक इतना ही नहीं करता वह जबरदस्ती निकाले जाने पर बौद्धिक प्रलाप करता है, 'फौवर्ल्ड' के मुँह पर तमाचे जड़ता है। इन सब तरीकों से वह अपने विषय में व्याप्त भ्रम दूर कर, अपने को परिस्थिति का मारा सिद्ध कर, वहाँ के अन्य प्राणियों के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न

करना चाहता है। आखिर किसलिये ? किन्तु तीर खाली नहीं जाता। एक डाक्टर उसे चुपचाप दस रुपये का एक नोट अपनी श्रद्धा के स्वरूप भेंट करता है। ऐसा होना असम्भव तो नहीं, अस्वाभाविक अधिक लगता है। एक वैयक्तिक अनुभूति ही इसे कहा जा सकता है।

जिस उपन्यास का नायक जीवन के हर नये मोड़ पर समझौते करता है, वह कृति भेंट है 'विद्रोही कवि निराला को।' एक ऐसे व्यक्ति को, जिसने जीवन में कभी कोई समझौता ही नहीं किया। जो अस्पताल की रोटियों के लिये रोग का बहाना नहीं कर सकता था। जिस प्रकार कृषि के यन्त्रों की नुमाइश इस बात का सबूत कदापि नहीं है कि देश की खाद्य समस्या पूर्ण है. उसी प्रकार समाज के घिनौने रूप को नजदीक से दिखाकर ही विद्रोही या प्रगतिशील होने का दावा भी अनाधार है।

अस्वाभाविक घटनाओं का वर्णन मनोवैज्ञानिक शैली में, कई स्थल पर मुखर है। उदाहरण के लिये—जब नायक महोदय पानी के जहाज में उसे देखने की उत्सुकता से प्रवेश करते हैं और एक यात्री के द्वारा संदिग्ध स्थिति में पाये जाने पर पुलिस को सौंप दिये जाते हैं, तब उन पर मुकदमा चलता है। पुलिस किस तरह अपने केस को मजबूत दिखाने के लिये अकल्पित सबूत इकट्ठे करती है और जब मजिस्ट्रेट के सम्मुख वे सबूत गलत सिद्ध होते हैं, मुकदमा खारिज हो जाता है। नायक महोदय बहाल कर दिये जाते हैं। उसी समय नायक की वह पुस्तक जो पुलिस के पास जमा थी—"कन्फेशन आफ ए ठग, मजिस्ट्रेट के सम्मुख भी पेश की जाती है। उस समय मुलज़िम नायक का यह कहना—यह किताब भी आप ही रखिये, मैं देख चुका हूँ। सचमुच बहुत दिलचस्प किताब है। आपको बहुत पसन्द आयेगी। पढ़कर बताइयेगा।" अदालतों में ऐसा होते नहीं देखा जाता।

जेल से छूटने के बाद एक आदमी का गली के मोड़ पर अचानक मिलना, नायक महोदय को रोकना, फिर खाना खिलाना तथा एक लड़की के लिये हिन्दी पढ़ाने के वास्ते उसे नियुक्त कर लेना आदि किसी जासूसी उपन्यास का प्लाट तो हो सकता है. यथार्थ नहीं। यथार्थ का जन्म रहस्य के आँगन में नहीं होता। चमत्कारिक कथानक, जिसे कभी देवकीनन्दन खत्री ने शिल्पगत किया था, इस घटना से पूरी तरह सम्बद्ध है। साहित्य उस यथार्थ को लेता है जो स्वाभाविक रूप से सम्भाव्य है, मात्र काल्पनिक नहीं।

स्थल ऐसे अनेक हैं, किन्तु काम दो और उदाहरणों से पूरा हो सकता है।··· करीम चाचा के यहाँ से नाता तोड़ कर जब नायक महोदय पुनः सर ढकने की तलाश में निकले, एक श्रेष्ठ रेस्तराँ में भोजन करने गये। वहाँ एक अपरिचित व्यक्ति से उनकी भेंट होती है, जो उनका भी बिल भुगतान कर देता है और अंत में नायक महोदय को गिरहकट बता कर उन्हें पुलिस में दे देने की धमकी देता है। इतना ही नहीं जोशी जी उस व्यक्ति को सहायक इन्सपेक्टर सी० आई० डी० बताते हैं। सी० आई० डी० में

भी पुलिस की तरह सब इन्सपेक्टर अर्थात् उप इन्सपेक्टर ही होते हैं, असिस्टेंट नहीं। क्या तुक था ऐसी घटना के जोड़ने का जो न तो रस बोध की दृष्टि से और न कथानक की दृष्टि से ही घनी थी।...लीला के यहाँ रसोइये की नौकरी के लिये जाना और बैठक में सितार देखकर अपनी स्थिति भूल कर तन्मय हो उसे बजाकर गाने लगना क्या स्वाभाविक कहा जायेगा? किसी भी घटना का स्वाभाविक कहा जाना मन स्थिति परिस्थिति दोनों के समान होने पर सम्भव है, अन्यथा वह स्त्र् लूज होने वाली कहावत के ही अधिक निकट की बात होगी, स्वाभाविक नहीं।

भादुड़ी महाशय के यहाँ रसोइये की हैसियत से काम करने वाला व्यक्ति, चाहे वह स्वयं डब्ल्यू० बी० यीट्स ही क्यों न हो, निजी साहित्यिक बैठक में रवीन्द्रनाथ पर भाषण देने का अधिकारी उस समाज में, तो हो ही नहीं सकता, जो अभिजात वर्गीय ढाँचे का समाज हो। अपेक्षा ही कर्तव्यों व अधिकारों को जन्म देती है, निजी अभिरुचि नहीं।

बेला का सेक्स हुगर स्वाभाविक चित्रण है। उसका आर्तस्वर "मुझे ले चलो, कहीं भी ले चलो! यहाँ से मुझे किसी तरह उबारो! बोलो, ले चलोगे?" उस नारी की वेदना है जिस का अपनी भूख के कारण समाज से विद्रोह करने को जी चाहता है। विद्रोह उस घेरे से, जिसमें उसके यौवन के अरमान बंदी थे। नारी को उसकी भावनाओं को अभिव्यक्ति देने वाला पति चाहिए, चाहे वह किसी भी जाति या वर्ग का क्यों न हो। सेक्स की भूख जिन्दगी का प्रतीक है और रोटियों की भूख जीने की आवश्यकता। आदमी को दोनों चाहिए। यही जीवन की शुरुआत भी है और यही क्रम भी।

मशीनों का निर्माण सर्वहारा के उपभोग के लिये नहीं बल्कि धीचदों के हितों के लिये हुआ। साड़ियाँ लुगी, धोबियों की आमदनी मारी गयी। "एक दिन धोबी भी मशीनों के मालिक होंगे।" प्यारे ने भी अपनी गिरती हुई आमदनी को ड्राई खोल कर सम्हालने का इरादा किया। यह स्थिति उस समाज में सदैव आती है, जो समय की धूल में दबी अधिकार-रेखा को पा सकने को सजग हो रहा होता है। वहाँ स्पर्धा के पूर्वाभास में ईर्ष्या छिपी होती है।

एक व्यक्ति दयावान प्रकृति का हो, उसके लिये यह मनोवैज्ञानिक है कि शत्रु पर भी आपदा पड़ने पर दया भाव दिखाये व कुछ कर सकने का प्रयास करे। ऐसा व्यक्ति, बिना तर्क के, असहाय मनुष्य के प्रति सहानुभूति रखता है। नायक ने भी चकलेखाने की लड़की को बहन माना था। उसके कष्टों के प्रति सहानुभूति दिखाई थी। वेश्या भी परिस्थिति की मारी एक नारी होती है, जो बहन भी हो सकती है और माँ भी कही जा सकती है। ऐसा व्यक्ति मानवतावादी दृष्टिकोण वाला होता है। मानवतावाद, जिस में हर दर्शन की अच्छाइयाँ मात्र ही होती हैं, अपने आप में कोई स्पष्ट विचारधारा का द्योतक नहीं होता।

वेश्याएँ समाज की कोढ है। हर समाज सुधारक यही मत व्यक्त करता है, किन्तु किसी न किसी रूप में वे हर युग में, हर समाज में विद्यमान रही हैं। तो क्या समाज उनकी आवश्यकता हर युग में अनुभव करता रहा है? एक ओर अनेक का भेद ही सती और वेश्या की स्थिति का अन्तर है। यह भेद भी आर्थिक ही रहा है। अर्थ के साथ साथ वर्ण-प्रथा भी इस वर्ग को बढाने में सहायक रही है। नारी और पुरुष दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। आध्यात्मिकता का प्रभाव इसे रोकने में सफल हो सकता, कानून का नहीं। जोशी जी ने वेश्याओं के उद्धार, विशेष रूप से उनके आर्थिक ढाँचे को मर्यादित करने का एक अच्छा सुझाव आलोच्य कृति में दिया है—सिलाई का काम। मिस साइमन के चकलेखाने को "ग्रैंड टेलरिंग हाउस" में बदल, उन्हें खोई हुई सामाजिक स्थिति दिलाने का प्रयास स्तुत्य है। यह निर्देश सहकारी उद्योग की एक दिशा है। यदि वेश्याओं का जन्म आर्थिक विषमताओं के कारण है तो ऐसे कार्य जो ये संगठित श्रम द्वारा कर सकती हैं, उनके जीवन को नयी दिशा दे सकते हैं। फिर भी यह सुझाव एकांगी है। आवश्यकता है सामाजिक ढाँचे के परिवर्तन की, आर्थिक विषमता को दूर करने की, अध्यात्मिक प्रकृति के प्रसार की। जब तक बाह्य उपादान नहीं बदलते, आन्तरिक स्थितियाँ वैसी ही रहती हैं।

जिस समाज में औरत को पैसा केवल तन बेचने पर ही प्राप्त हो सकता हो वह समाज श्रम के महत्त्व से अनभिज्ञ ही कहा जायगा। शरीर बेच कर जीने वालों का समाज वह सागर है जिसमें हर नदी मिलती है, इसीलिये उसका जल खारी कहा जाता है। अकर्मण्य सागर की तरह औरों का विष अपनी छाती पर ढोने वालों के समाज का पूर्णरूपेण उद्धार इसलिये संभव नहीं है क्योंकि औरत का आर्थिक मूल्य विलासिता की आँखों से आँका जा चुका है। और फिर हमें मानव की प्रति स्वाभाविक ऐंद्रिक भूख का ध्यान भी तो रखना पड़ेगा। जब तक सतीत्व का आवरणीय विचार स्थिर रहेगा, तब तक वेश्याओं का जीवन अपने बदले हुए अनेक वेशों में जीता रहेगा। प्रवृत्ति से वेश्या होने वाली नारियाँ कम ही होती हैं, परिस्थितियोंवश वारांगना बन जाने वाली अनेक 'जहाज का पंछी' भी यही कहता है। यदि समाज में पुरुष के समान ही नारियों को भी अपनी जीविका कमा सकने का अधिकार प्राप्त हो जाय तो सम्भव है मध्य श्रेणी के घरों की असहाय औरतें अपना जीवन-यापन सामाजिक मर्यादा के अनुकूल कर सकें।

लीला चालीस लाख की सम्पत्ति की अकेली स्वामिनी है और हमारे नायक बच्चू चालीस करोड की पीड़ा के धनी! दोनों कला प्रेमी हैं, कलाकार भी। एक ने कला को 'जीवन की कठोर यथार्थता के बीच से, विकट संघर्षों के भीतर से पाया है' और दूसरे ने जीवन-संघर्ष के अभाव से, अवकाश जनित बौद्धिक विकास से।" इसीलिये वह उसके लिए मानव-वेदना की अभिव्यक्ति है, विलासिता के क्षणों की नहीं। कला का उद्देश्य सम्पूर्ण जीवन के साधारणीकरण की अभिव्यक्ति है। कला का जन्म मानव जीवन के लिये होता है, उसके द्वारा होता है। यदि कोई उसे जीवन

के कठोर यथार्थ के बीच पाने की बात कहता है तो इसका अर्थ केवल इतना ही हो सकता है कि उसने कला के दर्शन जीवन संघर्ष के काल में किये। उसे चाहे अवकाश जनित बौद्धिक विकास में आप पाइए या संघर्ष में, कला की परिभाषा में अन्तर नहीं आने का। हाँ, इतना फर्क अवश्य आ जाता है कि एक के लिये वह जीवन की आलोचना अथवा उसका परिवर्धित स्वरूप हो सकती है और दूसरे के लिये उसका उद्देश्य मात्र मनोरंजन हो सकता है। प्राप्ति का अन्तर उद्देश्यों में अन्तर ला सकता है, कला के स्वरूप में नहीं। वैसे जो परिस्थितियाँ उपन्यास में दिखाई देती हैं उनके अनुसार नायक ने भी कला को तुलसीदास के शब्दों में 'स्वान्तः सुखाय' प्राप्त किया और लीला ने भी। किन्तु कला का जन्म भी स्वान्तः सुखाय नहीं हुआ। अन्तर केवल इतना ही समझ में आता है कि नायक महोदय जिन्दगी भर संघर्ष करते रहे और लीला जीवन को जीती रही, संघर्षों के अभाव में। वैसे तो कला का जन्म ही संघर्ष की वेदना से हुआ माना जाता है।

कला को कला के लिये मानने वाला समाज ही उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की बात कर सकता है। स्वतन्त्र अस्तित्व की बात का अर्थ होता है उसे जीवन से पृथक् करके देखना। कला सामाजिक अभिरुचि का एक अंग है, जीवन से उसकी स्वतन्त्र सत्ता उपयोगिता के आधार पर भी नहीं की जा सकती। 'लोक-कल्याण' और 'अलौकिक आनन्द' का भ्रम कला को लेकर उन मनीषियों ने अधिक उठाया है जो जीवन के यथार्थ को विस्मृति के प्रकोष्ठों तक पहुँचा कर, कल्पित तथ्य को अलौकिक आनन्द की संज्ञा देते रहे हैं। 'आत्मिक सत्य' और 'भौतिक सत्य' दोनों की बात उस युग का ही व्यक्ति कर सकता है जो इस जीवन के पार और उसके पूर्व की स्थितियों की मान्यता से फँसा होने पर भी वर्तमान सत्य को अस्वीकार नहीं कर पाता। उसे दोनों स्थितियाँ सत्य की पर्यायवाचक लगती हैं, जबकि आज की मान्यता यही हो सकती है कि सत्य न तो पूर्व जीवन में था और न इस जीवन के पार कहीं है। लौकिक अलौकिक की चर्चा धर्म के क्षेत्र में अपेक्षित है कला के लिये नहीं। कला धार्मिक प्रभावों से प्रभावित हो सकती है, किन्तु किसी भी प्रकार धर्म की अभिव्यक्ति उसका अभीप्सित नहीं हो सकता।

यथार्थ अपने आप में पूर्ण नहीं होता, वरन् वह सत्य की ऐतिहासिकता का सापेक्ष्य इतिहास होता है, किन्तु सत्य को द्वन्द्वात्मक अर्थों में ही देखना चाहिए। सत्य सदैव सप्राण होता है। अपने सही अर्थों में देखने पर पता चलता है, कि कला मानव व सत्य के बीच की कड़ी है। यथार्थ साहित्य में जीवन की प्रतिच्छाया ही है। अतएव कला का जन्म, विकास और उसका उद्देश्य जीवन अर्थात् समाज में ही है। उससे परे उसके अस्तित्व की कल्पना ही निरर्थक है। हावर्ड फास्ट का मन्तव्य है कि यथार्थवादी साहित्यिक कृति के लिये आवश्यक नहीं है कि उसका सम्बन्ध किसी ठोस यथार्थ से हो। यथार्थवाद के मान दण्डों का सम्बन्ध बाह्य सत्य के निचोड़ में है।

"आत्मिक सत्य, लौकिक सत्य से निश्चय ही बड़ा है, पर बिना भौतिक सत्य

की पूर्ण उपलब्धि के उसकी उपलब्धि हो ही नही सकती।" आत्मिक सत्य मे बाह्य उपादानो की स्थिति अस्वीकार होती है, और जो सम्बन्धित ज्ञान को अस्वीकार कर सत्य की खोज मे निकलता है, वह स्पुतनिक की तरह नक्षत्रो की परिक्रमा करके ही लौट आता है उन तक पहुँच नही पाता।। "शारीरिक ढाँचा अर्थात् भौतिक सत्य के निखार और उन्नयन मे जो कला सहायक नही होती वह निराधार होने के कारण कभी वास्तविक अर्थ मे अलौकिक आनन्द का रस ग्रहण नही कर सकती।" भौतिक सत्य, आत्मिक सत्य और अलौकिक आनन्द ऐसे दर्शन शास्त्र के टेकनिकल शब्दो के अर्थों मे जोशी जी किस तरह खो गये हैं, इसके कथन की आवश्यकता नही है। भौतिक सत्य केवल शारीरिक ढाँचा ही है, सम्पूर्ण गोचर नही ? जीवन मे विद्यमान वे प्रतीक, शरीर के अतिरिक्त जिनका अस्तित्व है, उन्हे अलौकिक की देन मान कर ही सन्तुष्ट होने वाला कथाकार 'जहाज का पछी' ही हो सकता है, क्योकि आत्मा उसके लिये बैक्टरिया के कीटाणु की तरह एक शरीर को छोड कर दूसरे शरीर मे प्रवेश करते रहने का ही एक क्रम है, जो चेतना का अश है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त यह भी कह देने को मन हो आया है कि जो कलाकार कला को अलौकिक आनन्द की प्राप्ति का माध्यम मानता है और साथ ही भौतिक सत्य के निखार और उन्नयन की बात करता है वह धर्म और कला की परिभाषा और उनके उद्देश्यों मे बुरी तरह भ्रमित विचारक ही कहा जायेगा। कला मोक्ष का साधन है, यह बात बुद्ध के काल मे कही गयी होती तो और बात थी। प्लेटो, अरिस्टाटेल आदि आदर्शवादी दार्शनिको ने भी कला को अनुकृति माना है। अनुकृति अर्थात् गोचर सत्य मे कृति के महत्त्व की प्राप्ति की बात, पेशकार के माध्यम से मजिस्ट्रेट से मिलने की बात सी लगती है, जबकि कला इसी जीवन की देन है और इसी जीवन के लिये है। स्वर्ग, यदि कही है भी, तो भी उसे कला के माध्यम से प्राप्त करने वाला कलाकार मन की अतृप्ति के पूर्णतत्व की कल्पना का रोगी ही कहलायेगा, क्योकि कला जीवन की बात करती है, जीवनेतर स्थितियो की नहीं, यह काम तो दर्शन का है, धर्मशास्त्रों का है। इतना तो जोशी जी भी मानेंगे कि कला एक अध्यात्मिक विधा नहीं है। कला की उपलब्धि मे विस्मृति की स्थिति मे पहुँच जाना ही यदि अलौकिक आनन्द है तब तो यह कह कर मैं भी मौन हो जाना चाहूँगा कि शराब पीकर सो जाने वाला व्यक्ति भी इसे ग्रहण कर लेता है अकेला कलाकार ही क्यों !

नीरो का उदाहरण जो रोम को अग्नि की लपटो मे झुलसता देख छत पर चढ़ कर वीणा बजाने मे लीन हो जाता है, 'लोकोत्तर आनन्द' की प्राप्ति न होकर सामूहिक सुख-दुख से पृथक् ऐकान्तिक आनन्द की प्राप्ति ही कहलायेगी। यह आत्म-निष्ठ सत्य है, जिसे 'कला को कला के लिये' मानने वाला कलाकार ही जीता है।

इतिहास दर्शन या मनोविज्ञान से सम्बन्धित विषयों पर जब कभी भी जोशी जी की कृतियो को देखने का अवसर मिला, एक क्षोभ की ही उपलब्धि हुई। मन-

गठन आधारों पर निजी विवेचन प्रस्तुत करना ही जैसे मौलिकता है ! बुद्ध के महा-वैराग्य, उनके काल की सामाजिक व्यवस्था तथा बुद्ध दर्शन पर कल्पना के आधार पर जो तर्क पृष्ठ ३६१ से ३६६ पर नायक के मुख से लेखक ने प्रस्तुत किया है, उसे पढ़ कर इतिहासकार पाल मैसन-आर्सल, दार्शनिक बेर्ट्रेंड रसल तथा भारतीय दर्शन के प्रामाणिक विद्वान राधाकृष्णन की खोजों व ज्ञान पर कालिख पुतती नजर आती है। यदि मुझे लीला के डायलाग नायक के कथन के उत्तर में लिखने का अवसर मिले तो मैं उपलब्ध खोजों व मतों के आधार पर उसे इस प्रकार लिखूँगा—"ऐसा प्रतीत होता है कि आपने बुद्ध के जीवन काल को, जो ईसा में ६ शताब्दी पूर्व का है, बीसवीं शताब्दी में खड़े होकर, कल्पना के माध्यम से समझने का प्रयास किया है। मेरा इस विषय में निजी ज्ञान भी इतिहास के आधार पर ही है।"

बुद्ध के काल में 'सम्पूर्ण आर्यावर्त' की कल्पना ही असम्भव थी। स्वयं बुद्ध का जन्म नेपाल की सीमा के पास स्थित कपिलवस्तु में हुआ था, जिसे किसी प्रकार से भी हम केन्द्र-बिन्दु शायद उस समय भी मानने की स्थिति में न रहे होंगे। बुद्ध ने जिस सामूहिक पीड़ा का अनुभव किया, वह 'सांत्वना' की भूखी न थी। उसे समाधान की अपेक्षा थी, दिशा के निर्देश की भूख थी। वेदों की रहस्यात्मक महत्ता स्थापित हो चुकी थी। मनु के द्वारा निर्मित विधान प्रचलित था। नैतिक जीवन आध्यात्मिक तथा धार्मिक विवादों से ग्रसित था। दिश्चित सिद्धान्तों से हीन समाज तिरोहित विचारों की स्वीकृति था। संसार की सूक्ष्मता तथा स्थूलता का प्रश्न चर्चा की सामग्री थी तथा इस जीवन के पार के जीवन की समस्या प्रमुख थी। आत्मा का पुनर्जन्म और उसकी स्वतन्त्रता का विषय प्रचलित था। बुद्ध ने इन उलझनों में प्रतीकात्मक रूप में साक्षात्कार प्राप्त किया—बुढ़ापा, पंगुता, मृत्यु और वैराग्य।

अंतर की घुटन और बाह्य की विद्रूपता ने सिद्धार्थ को बुद्ध बनाया था। उपनिषदों में मिलत रहे संकल्पों ने बुद्ध को गति दी थी। इसीलिये बुद्ध धर्म में, उपनिषदों के वातावरण को ठोस विचारों के रूप में, मानव जीवन के मध्य में पाते हैं। वैदिक परम्परा स्थूल जगत के जीवन से दूर कहीं आकाश के पार अपना तादात्म्य कर रही थी। "बुद्ध ने जीवन को मूलतः अस्वीकार करने का उपदेश दिया," आपका यह कथन इतिहास और कल्पना दोनों के छोर से दूर की परछाईं है। बुद्ध ने आध्यात्मिक वीथियों में भ्रम रहे मनुष्य को जीवन के चौराहे पर लाकर खड़ा किया, जिसने प्रेम में ही मुक्ति मार्ग के दर्शन किये थे, वह जीवन को अस्वीकार करने का उपदेश कैसे दे सकता था? जिसने कर्म को ही भाग्य माना हो, जो मानव को बुढ़ापा, रोग और मृत्यु से बचाना चाहता था, वह जीवन को कैसे अस्वीकार कर सकता था?

जिसने ईश्वर के ईश्वरत्व को अस्वीकार कर प्रेम का उपदेश दिया हो, वह आपके निर्णय का दयापात्र है। बुद्ध ने ईश्वर की पूजा को छोड़कर मानव की सेवा का उपदेश दिया था। राधाकृष्णन तो बुद्ध धर्म को आध्यात्मिक ही नहीं मानते।

उनके अनुसार यह मूलतः मनोविज्ञान, तर्क शास्त्र व नीतिशास्त्र है। रही भिक्षु आश्रमों की बात, वह भी आपने जिस दृष्टिकोण से समझायी है, वह बुद्ध के बाद की स्थिति मात्र है, बुद्ध का उद्देश्य नहीं।

"संघ में वे लोग सम्मिलित नहीं हो सकते थे जो बीमार, अपराधी, कृषक-दास या पारिवारिक दायित्वों से मुक्त न होते थे। इनकी स्थापना वैचारिक क्रान्ति के संचालन व प्रसार के लिए थी, पूरे समाज को भिक्षु बनाने की दृष्टि से नहीं। बुद्ध ने संघ की शरण में चलने का उपदेश दिया था, जीवन को अस्वीकारने वाला संघ शक्ति की ओर इंगित नहीं करता। 'करतल में भिक्षा लें, तरुतल में वास करो,' की संहिता सामाजिक प्राणियों के लिए नहीं थी, यह तो भिक्षुओं के लिए महामानव का आदेश था। भिक्षा उन्हें सामाजिक प्राणियों से लेने के निर्देश के पीछे क्या जन सम्पर्क की भावना के दर्शन आप को नहीं होते ? फल-फूल भक्षण का उपदेश देने वाला पलायनवादी ही हो सकता है, सामाजिक क्रान्ति का नायक नहीं और बुद्ध तो प्रथम महापुरुष थे, जिन्होंने योगियों के मार्ग को पूर्व परम्पराओं को अस्वीकारा था, एक नयी क्रान्ति को जन्म देकर, जहाँ तक धार्मिक छिन्नता का प्रश्न है, वह बुद्ध के 'धम्म' में नहीं, बाद में आ गये आडम्बरों का कारण भले हो ही।" जोशी जी भिक्षु धर्म पर प्रहार करते हैं जबकि उन्हें भिक्षा की प्रवृत्ति पर आक्रोश व्यक्त करना चाहिए। बुद्ध धर्म मानव को भिक्षाथियों में भर्ती होने का आवाहन नहीं था।

गाँधी ने कहा था व्यक्ति को बदलो, समाज अपने आप बदल जायगा, यह बात भी 'हृदय-परिवर्तन' की समवयस्क है। व्यक्ति, समाज या हृदय तभी बदला करते हैं जब वाह्यनिष्ठ परिस्थितियाँ बदलती हैं। आज मनोविज्ञान का स्नातक इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा कि परिवर्तन एक आतंरिक व्यवस्था है।

नायक बुद्ध और ईसा को उच्चकोटि का कवि स्वीकारता है, 'योग्य समाज संचालक' नहीं। कवि द्रष्टा होता है, मनीषी नहीं। बुद्ध और ईसा मनीषी थे। यह केवल कवि की सृष्टि करने की शक्ति से सम्बन्धित विचार ही है। वह स्रष्टा है। स्रष्टा नियता भी हो यह आवश्यक नहीं। बुद्ध और ईसा नियता थे। इनके दर्शन ने अनेक महाकवियों को जन्म दिया किन्तु किसी महाकवि की रचनाओं ने बुद्ध या ईसा को जन्म नहीं दिया, उनको जन्म देने वाली परिस्थितियाँ भले ही काव्यात्मक रही हों।

"ज्ञान-विज्ञान की ऊँची से ऊँची चोटियों को मानवता माउन्ट एवरेस्ट की चोटी को छूने के बहुत पहले ही छू चुकी थी।" ज्ञान का जन्म मनुष्य के जन्म के बाद की कथा है। सब कुछ पहले ही था, हम जब सम्पर्क में आते गये, उसे संज्ञा देते गये। विज्ञान के जन्म की कथा को अभी तीन-चार सौ वर्ष ही पुराना माना जाता है। माउन्ट एवरेस्ट को छूने के पूर्व मनुष्य अन्तराल को वीथियों की दीवारें छूता था। विकास के क्रम में अभी इति नहीं आयी है, अतः मानव का दर्शन और कला के क्षेत्र में पूर्व समय में, आगे बढ़ा होना मानवता की इतिश्री नहीं मानती

चाहिए। यदि जोशी जी आज की प्रगति को पुराने मूल्यों के समक्ष नगण्य सिद्ध करने की चेष्टा करना चाहते हैं, तो मैं यही कह सकता हूँ कि एवरेस्ट की चोटी छूने के पूर्व मानव ने आकाश की ओर निहारना प्रारम्भ किया था, नक्षत्रों में अपने रहने की जगह नहीं खोजी थी। और फिर मानव नहीं, मानवता की बात जोशी जी करते हैं अर्थात् मूर्त की नहीं अमूर्त की उपलब्धि की चर्चा।

लीला ऐसी धनाढ्य लड़की के अन्दर यदि नायक अपने विचारों का प्रभाव जमा कर उसके चालीस लाख रुपयों को निर्धनों के हित में व्यय करा कर समाज के उद्धार की बात सोचता है, ऐसी स्थिति में उसे समाजवादी विचारधारा का न तो प्रवर्तक ही माना जा सकता है और न विद्रोही ही। यह बात भी गाँधी के विचारों के अनुसार व्यक्ति को बदलने की है, समाज के बदलने की नहीं। व्यक्ति के बदलने से समाज नहीं बदलता, समाज के बदलने से व्यक्ति बदलता है। यदि वह वास्तव में 'टैनाट' के दुःखों से दुःखी था तो उसे उनके अधिकारों के लिए आंदोलन चलाने के लिये उन्हें ही संगठित करना चाहिए था। उनके संगठन को मजबूत बनाने के लिये आर्थिक सहायता यदि लीला द्वारा प्राप्त करने की बात आती और समाज की जर्जर रूढ़ियों पर कुठाराघात वह करता, तब जाकर कहीं यह उपन्यास प्रगतिशील कहा जा सकता था। अन्यथा यह सब मिलाकर प्रतिक्रियात्मक सुधारवाद का ही हामी है, किसी स्पष्ट दिशा का प्रवर्तक नहीं।

रागात्मक अभिव्यक्ति की नूतन उपलब्धि[1]

•

दिलीपकुमार

'चलते-चलते' को मैंने चलते-चलते पढ़ा था। चलते-चलते थके, बहकते हुए पगों की डगमगाती गति में एक ठहराव आ गया। 'चलते-चलते' में वाजपेयी जी की लेखनी का परिष्कार, रोचकता, मध्यवर्ग के समाज की गहन अध्ययनशीलता, घटनाओं की यथार्थता, पात्रों की सजीवता और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के प्रभावशाली वास्तविक चित्रण का चमत्कार देखने को मिलता है।

यह कृति मध्य एवं उच्च वर्ग के समाज का एक चित्रण है। उसके सभी पात्र वर्तमान युग के हैं। समाज में हम उन्हें यत्र-तत्र बिखरे हुए पाते हैं। संवेदनशील पाठक के हृदय में प्रत्येक पात्र सजीव हो उठता है और वह अनुभव करता है कि प्रत्येक पात्र में उसकी स्वयं की आत्मा किसी न किसी रूप में निहित है।

लगभग सभी पात्र यौन-तृष्णा से संत्रस्त हैं। यहाँ तक कि उपन्यास का नायक राजेन्द्र भी इसी रोग से ग्रस्त है। किसी भी सुन्दरी को देखते ही वह विकल-विह्वल हो उठता, किन्तु उसका यह स्खलन मन तक ही सीमित रहता है। शारीरिक सम्पर्क स्थापन की ओर अग्रसर नहीं होता। उसने स्वयं स्वीकारा है—'क्या करूँ, आदत से लाचार हूँ।'

उपन्यास के कथानक का मुख्य आधार हमारे समाज में चतुर्दिक् व्याप्त यौन तृष्णा है जिसने आज एक महान् समस्या का रूप धारण कर लिया है। स्वयं वाजपेयी जी के शब्दों में 'आज भारतीय संस्कृति की सारी मान-मर्यादा नारकीय भोग-विलास-पूर्ण षड्यन्त्रों का शिकार बन रही है' जिसे देख कर उनका हृदय द्रवित हो उठा है। तभी तो उन्होंने वर्तमान समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का साहस किया है। उनका मत है—'अधिक पढ़ी-लिखी लड़कियों को यहाँ एक ऐसी संस्कृति पनप रही है, विवाह-विच्छेद और स्वच्छन्द विहार जिसका एकमात्र उद्देश्य है। इस दल में उच्च पदाधिकारियों और बड़े से लेकर कम-से-कम प्रान्तीय ख्याति के नेताओं और

---

१. चलते चलते : भगवतीप्रसाद वाजपेयी

मिल मालिकों की लड़कियां प्रमुख हैं, जहां तक वर्तमान भारतीय समाज के जर्जर स्वरूप का सम्बन्ध है उसके वास्तविक चित्रण में उपन्यासकार को पर्याप्त सफलता मिली है।

उपन्यास पढ़ जाने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है, कि हमारे समाज की नींव कितनी खोखली है, स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध का मान कितना पतित एवं हेय हो गया है। यह घुन लगा वर्तमान समाज कितनी क्षिप्र गति से धराशायी होता जा रहा है। वाजपेयी जी ने यह सिद्ध कर दिया है, कि पूंजीवाद किस प्रकार समाज की जड़ों को जर्जर बनाता, समाज में अनैतिकता, भ्रष्टाचार एवं व्यभिचार फैलाता है और किस प्रकार उसकी स्वस्थ मान्यताओं को नष्ट कर, समूची जाति को यौन-तृष्णा का शिकार बनाता है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—हमारी वर्तमान मान्यताओं का *राजप्रासाद कुछ ऐसा बना है, कि जिसकी सीढ़ियाँ एकदम सीधी गई हैं। एक बार* ऊपर से गिरने भर की देर है और पतन का गहर गर्त नीचे है।' उपन्यास में मध्य वर्ग के दैनिक जीवन-संघर्ष और भौतिक समस्याओं का ही चित्रण नहीं, वरन् उसके अध पतन का चित्रण है और है पूंजीवाद के भीषण अभिशाप का उद्घोष।

'चलते-चलते' में वाजपेयी जी एक कथानक को लेकर नहीं चलते, वरन् उसमें व्यक्तियों के अनेक समूह एवं घटनाओं की अनेकानेक शृंखलाओं को लेकर आगे बढ़ते हैं। अगर नायक राजेन्द्र को उनके बीच से निकाल दिया जाय, तो व्यक्तियों के एक समूह का, दूसरे समूह से और घटना-चक्र की एक शृंखला का, दूसरी शृंखला से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता।

'चलते-चलते' नायक राजेन्द्र की आत्म कथा है। शिल्प की दृष्टि से प्रस्तुतीकरण की यह विधा सब से कठिन है, क्योंकि आत्म-विश्लेषण, चिंतन एवं मानसिक द्वन्द्व के विभिन्न स्थलों पर प्रवाह गतिहीन हो जाता है और पाठक का जी ऊबने लगता है लेकिन वाजपेयी जी का सर्जक इतना सजग है, कि उपन्यास में ऐसे अनेकानेक स्थल आते हैं जहाँ कथा प्रवाह की गति भले ही मंद पड़ जाय, किन्तु चिंतन का स्फुरण क्रम भंग नहीं होता। जब पाठक का चिंतन तर्क-वितर्क एवं दार्शनिक प्रवचन के उत्तुंग शैल-शृंग पार करता है, तब उसकी गति मंद होती है। पर उसी प्रकार *जैसे एवरेस्ट-अभियान दल का एक सदस्य मंद-मंथर गति से आगे बढ़ता है और उस* स्थल पर जहाँ वह सहज गति से दौड़ सकता है, भाग सकता है लेकिन भाग नहीं पाता वरन् विस्मय से अभिभूत होकर ठगा-सा खड़ा रह जाता है क्योंकि प्रकृति का कोई न कोई लुभावना दृश्य उसके पांव थाम लेता है।

यौन-पिपासा के साथ ही वाजपेयी जी ने समाज के अन्यान्य अंगों की ओर भी दृष्टि डाली है तथा उनके विविध चित्र भी दर्शाये हैं। उन्होंने केवल प्रेम का ताना-बाना ही बुना हो, ऐसा नहीं है। वे समाज की नाना स्थितियों और ज्वलन्त *समस्याओं की ओर भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं।* उपन्यास का नायक राजेन्द्र सौन्दर्य-द्रष्टा एवं सौन्दर्य-स्रष्टा है। वह अपने सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक

सुन्दरी के प्रति आकृष्ट होता है। सौन्दर्य की सजीव प्रतिमा लाली जब उसकी ओर देखती हुई ठिठक जाती है तो राजेन्द्र यह अनुभव करता है कि 'क्या यह सब मेरे लिए निमंत्रण नहीं है ?' लेकिन आदर्शवादी होने के कारण उसे अपनी इस भावना पर दुःख होता है। उसका यह गुण दुर्बलता और मनोविकार की सृष्टि तो करता है लेकिन उसमें भी वे ही मनोविकार एवं और दुर्बलताएँ हैं जो सौन्दर्य के प्रति आसक्त होने वाले एक भावुक हृदय में हो सकती हैं। यह सब होते हुए भी उसमें सहृदयता एवं अन्य मानवीय गुणों की भी कमी नहीं। उसने स्वयं स्वीकारा है—'जब मैं सौन्दर्य के आकर्षण का अनुभव करता हूँ तब यह नहीं भूलता कि संसार में कितनी कुरूपता है।'

राजेन्द्र एक सुशिक्षित, सम्पत्तिशाली, आदर्श परायण मातृभक्त युवक है। उसे विधवाओं से विशेष सहानुभूति है क्योंकि विधवा-हृदय पर पड़ने वाले आघातों एवं चीत्कारों को उसने सुना है, लाली के रूप में उसने विधवाओं के जीवन को देखा है, कि किस प्रकार से वे आँसुओं के घूँट पीकर, अधरों पर मुस्कान लेकर अपना जीवन काट देती हैं। और देखा है समाज के कोप की लाल-लाल भयावनी आँखें किस प्रकार उनको खाने के लिए तत्पर रहती हैं। उसने यह भी समझा है कि समाज का दण्ड और बहिष्कार विधवाओं की मानसिक शान्ति और संतुलन को किस प्रकार नष्ट कर डालता है तथा आवेश और भावना के उद्दाम प्रवाह में पड़ कर वे आत्मघात तक कर डालती, पागल हो जाती अथवा समाज का कलंक बनकर वेश्यालयों की शोभा बढ़ाती हैं। वह सोचता है कि यह अनाचार सदियों से बराबर चला आ रहा है और कौन जाने कब तक चलेगा ? सम्भवतः इसीलिए कहता भी है—'एक पति के स्थान पर दूसरा आ जाने से उसकी (समाज की) नानी नहीं मर जानी चाहिए।'

एक अवसर पर वह हीरा मालिक को देखकर आकर्षित होता है पर वैशाली तो उसके हृदय के तारों को ही झंकृत कर देती है। लेकिन इन सबमें प्रमुख है एक मात्र छोटी भाभी (रानी)। जो प्रथम मिलन के पश्चात् उसकी स्वप्निल तरंगों की एक शृंखला बनकर अनुभूति का सा रूप ग्रहण करने लगती है। कभी-कभी लगता है कि छोटी भाभी (रानी) को लेकर उसका हृदय कवित्व से परिपूर्ण हो उठता है। जब कभी उसका मन चंचल हो जाता है तब उसे स्वयं आश्चर्य होता है, कि वह छोटी भाभी के साथ इतना उच्छृंखल क्यों हो जाता है; किन्तु इसे कवित्व की संज्ञा क्यों दी जाय ? भावना के उन अंकुरों का विश्लेषण क्यों न कहा जाय ? जो प्रत्येक स्वच्छन्द मानस की भाव-भूमि में नैसर्गिक रूप से फूटते ही रहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी लगता है, कि कृतिकार इस विषय में नायक के माध्यम से नैतिकता की तथा कथित मान्यताओं के आगे बढ़कर जीवन के उपलब्धि-संयोजन में खुलकर खेल लेने की भावना रखता है।

वह अपने मन और समाज को देखता है तो गम्भीर हो उठता है। अपने हृदय को वह छोटी भाभी (रानी) के समक्ष को पराभूत पाता है, वह उसकी मान-

सिक विदग्धता का ही एक रूप है। उसे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उसका अस्तित्व दिन प्रतिदिन क्षीण से क्षीणतर होता जा रहा है, उसके हृदय मे छोटी भाभी (रानी) बैठती चली जाती हैं, तब वह इस बात को स्वीकारता है—'सौन्दर्य मेरी सबसे बड़ी दुर्बलता है।' यहाँ पर कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है, जैसे लेखक नैतिक मान्यताओं के आगे उनकी प्रभुसत्ता तो स्वीकरता है, पर प्रकारान्तर मे यह भी प्रकट किये बिना नहीं मानता कि यह दुर्बलता सर्वथा मानवीय है। और एक स्वच्छन्द विहारी नायक में यदि हो, तो कोई आश्चर्य नही। वरन् न हो, तो विचारणीय अवश्य है।

जब वह समाज की वर्तमान सभ्यता के ऊपर कटाक्ष करता है, तो सामाजिक *विषमता पर उसका व्यंग्य मुखरित हो उठता है। वह देखता है कि पद नियुक्ति का* का वचन देने पर भी, जब सजातीय आशार्थी की संस्तुति के कारण अन्य की प्रतिष्ठा भुला दी जाती है तो उसे दुःख होता है, टीस उत्पन्न होती है और वह तिलमिला उठता है। समाज के यही विकार उसे द्रवित करते हैं। उसकी विद्रोही भावनाएं जागती है, लेकिन वह स्वय कुछ नही करता। सम्भवतः वाजपेयी जी का शिल्प इन विकारों की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करके छोड़ देने की विधा में इसलिए विश्वास करता है क्योंकि उनकी कल्पना चाहती है कि आज का नवयुवक स्वय इसको समझे और इन सामाजिक बुराइयों को दूर करने की दिशा मे सक्रिय प्रयास किये बिना न माने।

राजेन्द्र समाज मे जातीय पक्षपात, काला बाजार, घूंसखोरी, स्वार्थों के बट-वारों तथा शिक्षा संस्थाओं और विश्वविद्यालयों की देन—गुण्डों के व्यवहारों को देखता है। और देखता है अपराधों को मिटाने के लिए कारावास तक भोगने वाले उन नेताओं को, जो आज वैसे ही अपराध करते हुए नहीं हिचकिचाते। निम्नवर्ग के *व्यक्ति—रिक्शेवालों आदि से भी उसे सहानुभूति है। उनकी विवशताओं को वह भली* प्रकार समझता है। इस वर्ग की ओर दृष्टि डालने से यह भी ध्वनित होता है कि यह कृतिकार मानवतावाद का पोषक है। पूँजी मानव-मानव में इतना अन्तर डाल दे, उसे स्थापित करे—यह राजेन्द्र को स्वीकार नही। वह व्यक्ति होकर भी समाज है तथा अपने दायित्वों को भली-भाँति जानता है। वह यह भी जानता है कि यदि हम दूसरों की बहू-बेटियों की नैतिकता का ध्यान न रखेंगे, तो एक दिन स्वयं हमारे मुख पर कालिख पुत जाएगी।

वह विशाल हृदय और उदारमना व्यक्ति है। उपकार करके उसे इधर-उधर न कहना उसके आदर्श प्रेमी स्वभाव का लक्षण है। माँ के प्रति पिता का जो व्यवहार रहा है उससे वह अत्यन्त क्षुब्ध है। राजेन्द्र की आत्मा उस श्रद्धा पर विश्वास नही करती जिनमे प्रदर्शन हो। प्रदर्शन कुछ और वास्तविकता कुछ। सभ्यता का मुखौटा लगा कर भीतर का कलुष छिपाने वाले व्यक्तियों मे उसे घृणा है, विष रस भरा कनक घट उसे लुभा नही पाता, धोखा नहीं दे पाता।

वह अन्याय और कलुष का सहयोगी नहीं है। यहां-वहां, कर पैर रखना वह कठोर संयम की अमानवीय रक्षता मानता है, पर सामाजिक दोषों से बचने के लिए वह कठोर संयमी भी है। नैतिक विधान के अनुसार वह अपने छोटे भाई उपेन्द्र को सम्पूर्ण अधिकार तक देने को तत्पर है।

व्यक्तित्व तो उसका इस प्रकार का है कि जमना की तरह से विक्षिप्त स्थिति में मिलने वाले प्रत्येक प्राणी के लिए उसका मन-प्राण व्याकुल हो उठता है। वह एक सहृदय सौन्दर्योपासक आदर्शपरायण एवं कर्त्तव्य-निष्ठ युवक है। उसमें मानव के श्रेष्ठ गुण हैं तो दुर्गुणों का भी अभाव नहीं। वह न देवता है न राक्षस।

राजेन्द्र के जीवन को जब हम कर्म की दृष्टि से देखते हैं तो वह हल्का पड़ता है। उसने जमना को खोजने एवं उसका उपचार करने के अतिरिक्त अन्य कोई ठोस कार्य नहीं किया। वह अपने चतुर्दिक् फैले हुए जीवन-प्रवाह का द्रष्टा अधिक है, उससे संघर्ष करने या मोड़ने वाला नहीं। वह जीवन को देखता है, तर्क वितर्क करता है, विश्लेषण करता है, समाज की विषमताओं और विकृतियों पर आक्रोश भी व्यक्त करता है किन्तु स्थिति को अपने अनुरूप ढालने के लिए कुछ भी नहीं करता। दलित और शोषित वर्ग के प्रति उसको सहानुभूति तो है लेकिन केवल बौद्धिक अनमेल विवाह और विधवा विवाह की स्थिति के सम्बन्ध में उसके मन में रोष उठता तो है मगर किसी भी दिशा में वह सक्रिय कदम नहीं उठाता। समाज की विकृतियों के प्रति उसका आक्रोश केवल चिंतन के रूप में उभरता है। यह चिंतन कर्म के अभाव में उसके व्यक्तित्व को उन्नत आकांक्षा के अनुसार महामानव बनाने के पथ पर बढ़ाने में सहायक नहीं होता।

इस प्रसंग पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहते कि राजेन्द्र का चित्रण कर्माभिमुखी न होकर चिंतनाभिमुखी है। क्या इसका अभिप्राय यह है कि वह कर्म-क्षेत्र का वीर योद्धा न बनकर, केवल चिंतक भर रह जाने में संतोष कर लेता है। क्या इसके मूल में—उसकी प्रकृति का वही दोष है, जो किसी ऐसे चिंतक में होता है जिसकी सीमा—कर्म नहीं, उसकी प्रयोगवादी प्रवृत्तियों का सम-सामयिक उद्घोष होता है। अथवा ऐसा कुछ है, कि वह इतना साहसी नहीं है कि नैतिक मानों को तोड़कर आगे बढ़ सके।

किन्तु इसी स्थल पर सहसा प्रश्न उठता है कि चित्रण की इस विधा के प्रति कृतिकार उदासीन क्यों हैं। ऐसे अनेक प्रश्नों पर जब हम विचार करते हैं तो हमें कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि कृतिकार अपने नायक को भी मनोग्रंथियों का शिकार तो नहीं चित्रित करना चाहता?

राजेन्द्र जीवन-सरिता में उतरता नहीं, और समाज का भय उन्मुक्त रूप से उसे धारा में बहने नहीं देता। धारा को एक मोड़ देने की सामर्थ्य भी उसमें नहीं। प्रखर धार में बैठ कर अपनी जगह अडिग खड़ा रह सके, इतना आत्म विश्वास भी उसमें

नही। हाँ, इतना अवश्य है कि किनारे बैठकर लहरो के साथ क्रीड़ा करने का मोह वह नही छोड पाता। इस स्थल पर ऐसा प्रतीत होता है कि कृतिकार अपनी रुचि के अनुरूप राजेन्द्र को भी एक कवि—एक सौन्दर्य द्रष्टा के रूप मे देखने लगता है।

राजेन्द्र जीवन-नाटक को एक तटस्थ दर्शक की भाँति देखता है, उसके गुण एव दोषो की ओर दृष्टि डालता है। जीवन की विषमताएँ उसके मर्मस्थल को छू लेती हैं पर उन्हें सुधारने का कोई प्रयत्न नही करता। मानो वह जानता है कि यह कार्य केवल समाज-सुधारको का है। उपन्यासकार नायक को समाजोद्धारक न बनाकर प्रत्येक पाठक को समाज-सेवी की प्रेरणा देते हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि कृतिकार अभी तक क्रान्ति की स्थिति मे नही आया किन्तु वह क्रान्ति का स्वप्न अवश्य देखता है।

'चलते-चलते' उपन्यास के नारी-पात्र जाने पहचाने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हम उनसे जीवन मे कहीं-न-कहीं मिले हैं। उनका चरित्र-चित्रण और चरित्र-निर्माण का रहस्य ही वाजपेयी जी की कला का मेरुदण्ड है। नारी-पात्रों के माध्यम से उन्होने समाज की यथार्थ भाव-भूमि का स्पर्श किया है एव उनके दुख दर्द, शोषण उत्पीडन, तृष्णा और करुणा के आँसुओ मे डूब कर वे तलदर्शी हुए हैं। यदि एक ओर इन चरित्रो से समाज के असंगत, अस्वस्थ सम्बन्धो एवं उच्छृंखल प्रेम की परीक्षा हुई है तो दूसरी ओर उन्होंने ह्रासोन्मुख सामाजिक विकलता का भी चित्रण किया है।

वाजपेयी जी ने नारी की यौन तृष्णा के औचित्य का वास्तविक रूप समझा है। पाठक के सवेदनशील हृदय में अनुभूति का दीप प्रज्वलित कर वे चाहते हैं, कि समाज की इस उपेक्षित इकाई का जीवन शान्तिकर तथा सुखमय बनाने की दिशा में सतत प्रयास किया जाय। नायक के माध्यम द्वारा अन्य पात्रो की तड़पन, कसक के चित्र उभार कर वे उसको सदा-सदा के लिए मिटाने का आमंत्रण देते हैं। उनके शिल्प का यह कौशल कहीं पाठको के हृदय को झंकृत कर देता है और कहीं झक-झोर देता है। नारी-हृदय की तृष्णाकुल अतृप्ति का चित्र पाठक का मनोरंजन ही नही करता वरन् उनमें सहज सहानुभूति भी उत्पन्न करता है। सामाजिक विसगतियों के चित्रण मे वह नारी-मात्र के दुख से अत्यन्त विह्वल हो उठता है। अगर नायक ने अथवा कथानक ने सुधारक का रूप धारण किया होता, तो सम्भव था कि यथार्थ का यह चित्र इतना सजीव न होकर निष्प्राण हो जाता और तब हम उनके प्रयास को देख कर आत्म-तुष्टि का अनुभव भी करते, पर हमारी वेदना और सहानुभूति कालान्तर मे मर जाती और हम कभी भी नारी के जीवन को सुखी बनाने की दिशा में प्रयास ही न करते।

नारी-चरित्रो के प्रस्तुतीकरण की यह विधा नारियो को यौन सम्बन्धों के प्रति सावधान रहने, अनैतिकता से घृणा करने एव युग-युग आदर्शों की निधियाँ बचाने आदि का संकेत दे जाती है।

आधुनिक जीवन की प्रमुख समस्या है—आदर्शहीनता जो वही मनुष्य को विलासिता की ओर खींचे लिये जा रही है। वैवाहिक जीवन के गोपनीय सम्बन्धों में इस आदर्शहीनता के कारण हम शुरू में ही एक बड़ी भूल कर बैठते हैं। अवसर आने पर औपचारिक शिष्टाचार में पड़कर अप्रसन्न वृत्ति को भी संतोष देने लगते हैं। मनुष्य में कौतुक और कौतूहल की जो सहज वृत्तियाँ विद्यमान हैं, उनको हम चरम लक्ष्य मान लेते हैं जब कि बिना सदुपयोग के उनका कोई मूल्य नहीं, उपभोग में कोई उपलब्धि नहीं। उपन्यासकार ने छोटी भाभी के द्वारा सम्भवतः यही कहना चाहा है।

उपन्यासकार ने 'चलते-चलते' में जिन नारी चरित्रों को चित्रित किया है उनमें से उपन्यासकी नायिका छोटी भाभी (रानी) पाठकों के ध्यान को सर्वाधिक आकर्षित और केन्द्रित करती हैं। इस उपन्यास में उनका जो चित्र उभरा है वह एक कौतुक प्रिय वासना लुब्ध एवं अतृप्ता के रूप में है। मूर्धन्य नैतिकता की दृष्टि से देखें तो दूसरे शब्दों में, छोटी भाभी (रानी) कुलटा की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं, अन्यथा पति से छिपकर, एक अन्य व्यक्ति को, जो पारिवारिक सम्बन्धों में देवर होता है, सांकेतिक रूप में असामाजिक यौन-सम्बन्ध के लिए क्यों उकसाती ! वे स्वयं तो अपने आदर्शों से गिर गयी हैं पर नायक राजेन्द्र जो आदर्श प्रिय है, उसको भी आदर्शों से डिगाने में नहीं चूकतीं। कुछ आलोचकों का यह आरोप है कि यदि उपन्यास का नायक राजेन्द्र अधिक साहसी, क्रान्तिकारी एवं विचारवान होता, तो सम्भवतः छोटी भाभी क्रान्तिकारिणी महिलाओं का प्रतिनिधित्व करतीं। पर राजेन्द्र तो केवल आदर्श का पुजारी और अन्तर्द्वन्द्व में घुलने वाला व्यक्ति है। वह प्रेम की भावनाओं को स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का साहस नहीं रखता। लेकिन राजेन्द्र रूप ज्योति पर शलभ के समान टूट पड़ने वाला कीड़ा मात्र नहीं, उसके पास सिद्धान्त भी है। जब कि छोटी भाभी में यौन-अतृप्ति इतनी तीव्र है कि राजेन्द्र की आदर्श प्रियता और कर्त्तव्य-निष्ठा को उसकी साहसहीनता और दुर्बलता कहकर उस पर खीझ उठती हैं और यहाँ तक कह देती हैं—'मेरे प्राण अधूरे छूटेंगे—केवल तुम, तुम्हारा आदर्श पूरा रहेगा।'

राजेन्द्र जब आत्मरत रहता है, समाज का भय उसे बना रहता है। जब वह अपने हृदय में झाँकते हुए प्रेम तक को व्यक्त नहीं करता तो रानी अत्यधिक खीझ उठती है तथा राजेन्द्र के व्यवहारों से मर्माहत होकर यहाँ तक कह देती है—'वह आहों निश्वासों और अनदेखे स्वप्नों की अपेक्षा आग में कूद पड़ने को अधिक मानवी मानती है।' वह अपने भावों को छिपाती है और अपने पैरों के नीचे फिसलती हुई धरती पर ध्यान नहीं देती। वह स्वयं दूसरों से तो ऐसा कहती है पर पति से अपने मन में बसी आकांक्षा को प्रकट करने का साहस नहीं करती। यह नहीं कह सकती कि मैं राजेन्द्र पर मन से समर्पिता बन चुकी हूँ। अन्यथा वह तलाक ले सकती थी।

सहसा यह भी प्रश्न उठता है कि वह कौन सी आग है जिसमें कूदने के लिए

वह उन्मुख रहती है। क्या वह केवल यौन-पिपासा है ? क्योंकि वह स्पष्ट शब्दों में राजेन्द्र से कह देती है—'तुम मुझे प्राप्त कर लो।' उसके इस कथन मे राजेन्द्र को उसकी तृषित दृष्टि मे ऐसा आभास मिला, मानो वह कह रही हो इस विषय मे क्यों न 'आँख मूँद लो माँ की ओर से ?'

पर कृतिकार ने छोटी भाभी के चित्रण मे पूर्णता लाने की कम चेष्टा नही की। उसमें नारी-ईर्ष्या भी है। राजेन्द्र के साथ वह किसी नारी का घनिष्ठ सम्पर्क नही देख सकती। यहाँ तक कि बड़ी भाभी के साथ उसका हँसना बोलना भी नही देख सकती। इसीलिए वह राजेन्द्र से कहती है—'मुझको भी किसी किसी दिन हँसाया होता, क्या मैं तुम्हारा कुछ छीन लेती। क्या मैं सिर्फ रोने के लिए हूँ ?' पर जब राजेन्द्र कहता है, कि मैंने किसी के चमन का एक अंगूर तक नही चक्खा, किसी उर्वशी के दिगचल को भी मैंने नहीं छुआ तो इसके परिणाम मे वे कह उठती है—'इधर कई दिनों से मैं अपनी मृत्यु की कामना करने लगी थी पर अब मैं जीना चाहती हूँ।'

यहाँ कृतिकार परम्परा-पीड़ित जीवन-मूल्यों के परिवर्तन का स्पष्ट प्रत्याशी प्रतीत होता है। किन्तु इस नारी मे यौन-अतृप्ति इतनी तीव्र है कि वह अपने प्रेम के नाटक द्वारा राजेन्द्र पर विजय पाना चाहती है और जब उसमे भी सफलता नही मिलती तो उसमे स्पष्ट कहती है—"मैं आज तक तुमको समझ नहीं पाई।' वह उसको समझ भी कैसे पाती क्योंकि छोटी भाभी (रानी) का तो जीवन सिद्धान्त है—'जिनसे हम जीवन भर का नाता नही निबाह सकते, अवसर आने पर, घड़ी दो घड़ीया क्षण भर का नाता भी न निबाहें।' सम्भवतः इसीलिए जब राजेन्द्र अपने आदर्शों से नहीं डिगता तो वह निराश हो जाती है और एक नये अस्त्र का प्रयोग करती है। आत्मदान नाटक रचती है और अपने पति से छिपाकर पचास हजार रुपये का ड्राफ्ट देती है जिससे राजेन्द्र को मुँह खोलने का अवसर भी न मिले और छोटी भाभी (रानी) का काम भी चलता रहे। संयोग से तब तक इनके सम्बन्धों का ज्ञान उसके पति बड़ी को हो जाता है तो इस प्रवचना की उन पर कुछ ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि अपनी डायरी मे रानी तथा राजेन्द्र के मिलन की सम्भावित कामना भी प्रकट कर जाता है। लेकिन क्या यह सब राजेन्द्र को फँसाने की चेष्टा है अथवा इसी मे स्वप्निल तृप्ति का भान करती है !

हमारे समाज मे छोटी भाभी की तरह ऐसी भी नारियाँ हैं जो केवल स्वयं को ही नही देखती, वरन् यदि कोई प्राणी अधिक व्यथित पीड़ित है, तो उनका हृदय एक सहज सम वेदना से उद्ग्रीव होकर करुणा विगलित हो उठता है। डॉ॰ सिन्हा के यहाँ मिली विक्षिप्त मजदूरिन माँ का, अपने पति से यह कथन 'सूरज शाम को आ ही जाय तब मैं तुमको कहाँ खोजती फिरूँगी' सुनकर रानी का हृदय दहल उठता है। वे मूर्छित तक हो जाती हैं। चेतना आने पर उसके इलाज के लिए रुपये देकर ही उनको संतोष मिलता है।

इस स्थल पर छोटी भाभी की ममता चरम उत्कर्ष पर जा पहुँचती है। जहाँ एक ओर नैतिक मान के प्रति उसमें अनास्था है। वहीं दूसरी ओर वह महत्त्व की भावना से इतनी विकल मर्माहत हो जाती हैं कि उसके लिए यह समझ लेना कि वह कुल्टा है, सर्वथा असंगत प्रतीत होने लगता है। तभी हम यह सोचने को विवश हो जाते हैं कि छोटी भाभी के चरित्र को चित्रित करने के लिए वाजपेयी जी ने जिस विधा को ग्रहण किया है उसमें क्रान्तिपरक विचारों का उत्कर्ष भले ही मंद प्रतीत हो, किन्तु उनका कलाकार बड़ा ही सशक्त है। छोटी भाभी, जो एक विवाहिता स्त्री है, का पर-पुरुष से स्नेह-सम्बन्ध हमारी रूढ़ धारणाओं के अनभ्यस्त, अनुदार दृष्टिकोण पर चोट भले ही करता हो, पर पाठकों को यह भी सोचने के लिए बाध्य कर देता है कि आज की स्थितियों में कुछ तो हमें बदलना और उदार होना पड़ेगा और कुछ इन उच्छृंखल प्रवेगों को कम होना पड़ेगा। इस स्थल पर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि स्वस्थ सतुलन की आज अधिक आवश्यकता है, यह मानते हुए भी कि संकुचित मनोवृत्ति का दुराग्रह न तो कल्याणकारी है और न नवीन रूप लोलुपता का अबाध अतिचार ही।

समाज में ऐसी भी नारियाँ हैं जो कपटाचरण में अत्यन्त व्यवहार कुशल तथा स्वार्थी हैं। उपन्यासकार ने बड़ी भाभी (विमला) का चरित्र चित्रित करके यही प्रस्तुत किया है। बड़ी भाभी में भी यह गुण विद्यमान है। विवाह के पूर्व उनका रामलाल से प्रेम रहा है। निस्सदेह समाज में आज भी ऐसी विवाहिता नारियाँ हैं, जिनके अनेक रामलाल हैं। बड़ी भैया की तरह भले ही उनके पति का, बड़ी भाभी जैसी नारी पर सदेह रहे मगर अपने पति का ध्यान हटाने के लिए तथा खुलकर खेलने के लिए, वे बड़ी भाभी की तरह अपने पति को दूसरा विवाह करने की सलाह भी दे देती हैं। बड़ी भाभी छोटी भाभी को तभी तक स्नेह करती है जब तक कि वे स्वयं गर्भवती नहीं हो जाती। पति को किस प्रकार से अपनी मुट्ठी में कर उससे आमोद-प्रमोद, सुख-सुविधा और मनोरंजन के साधन जुटाये जा सकते हैं बड़ी भाभी जैसी स्त्रियाँ इसको अच्छी तरह से जानती हैं।

जान पड़ता है यहाँ कृतिकार ने एक कटु यथार्थ की ओर इंगित किया है। ऐसे संकेत इस उपन्यास में अनेक हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी भान होने लगता है, कि उपन्यासकार का उद्देश्य केवल समाज की अनैतिक, गर्हित, असगतियों के रौरव से परिपूर्ण दिशाओं का पर्यवेक्षण करना है? अथवा जीवन की आदर्शपरक वृत्तियों के उत्कर्ष के साथ-साथ विघटन के उन सूत्रों पर प्रकाश डालना है, जो अभी तक समसामयिक कृतिकार से अछूते पड़े रहे हैं।

पूँजीवाद के रंग में रँग जाने पर आधुनिक युग में समाज एवं व्यक्ति की जो ह्रासोन्मुखी दुर्गति है बड़ी भैया के माध्यम से उपन्यासकार ने उसे चित्रित किया है। बड़ी उपन्यास का एक ऐसा पात्र है, जिसके पिता उसके लिए इतना ही छोड़

कर गरे थे कि वह एक सप्ताह तक खाना खा सकता था। बाद में उन्होंने व्यापार से लाखों की सम्पत्ति अर्जित कर ली। विवाह के पश्चात् बहुत दिनों बाद तक कोई सन्तान न होने पर, अपनी पत्नी के अनुरोध पर दूसरा विवाह कर लिया। वे एक मौजी प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं और अपनी मौज के साधन वे सर्वत्र जुटा लेने में परम प्रवीण हैं। यहाँ तक कि अवसर निकाल कर विधवा लाली को भी प्रलोभने में नहीं चूकते।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या कृतिकार तृप्ति वैचित्र्य की कुंठा पाले हुए है? अथवा ऐसा कुछ है कि वह भी मूल रूप में समाज के विघटन का ही पक्षधर है। आज समाज में जो कुछ भी प्रचलित है, क्या वह सभी ग्राह्य है?

आधुनिक युग में समाज के अन्तर्गत अनैतिकता और व्यभिचार का निरन्तर प्रसार होता जा रहा है। ऐसे समाज में युवती विधवाओं की क्या स्थिति है—लाली के माध्यम से उपन्यासकार ने इस बात को प्रस्तुत किया है। समाज में जब राजेन्द्र जैसे व्यक्ति उसको रास्ता तक नहीं बतलाते, वह भी केवल इसलिए कि कहीं वे अपने आदर्शों से डिग न जायें, तब लाली जैसी नारियाँ उन जैसे पुरुषों से स्पष्ट रूप में कह भी तो देती हैं—'मेरी चोटें देखना कौन है।' लाली अपने वैधव्य जीवन को अध्यापन कार्य करके बिताने का स्वप्न देखती है पर प्रकृति की दारुण बुभुक्षा के एक ही उन्मेष में वह अधूरा का अधूरा रह जाता है। यहाँ लेखक प्रकारान्तर से यह बतलाना चाहता है कि सबलहीन विधवा आज समाज के हाथों की कठपुतली मात्र है।

इसके अतिरिक्त समाज में वे भी नारियाँ हैं जिनके आचार-विचारों में थोड़ा भी परिवर्तन नहीं हुआ है, जिनको नये युग की सभ्यता की हवा छू तक नहीं गयी एवं जिनके पुत्र आदर्श प्रिय और कर्त्तव्यनिष्ठ हैं, उनके पारिवारिक सम्बन्धों को देखते बनता है। उपन्यास के नायक राजेन्द्र की माँ इसी प्रकार की नारी हैं। वे पुराने विचारों की हैं। समय से पूर्व ही उनके केश श्वेत हो गये हैं। यह चित्रण बड़ा ही मार्मिक है। पाठक सहज ही मान लेता है, कि वे यथार्थ में माँ हैं। पुत्र के प्रति उनका अगाध वात्सल्य है। वे रसोई घर में इस प्रतीक्षा में बैठी रहती हैं कि कब बेटे की आँख खुले और भूख का अनुभव करके वह रसोई घर की ओर चला आये। यह ऐसा मर्मस्पर्शी स्थल है कि जिस किसी पाठक की माँ इस पार्थिव जगत में उपलब्ध नहीं, वह यकायक रो पड़ता है। ऐसे स्वभाव की नारियाँ अत्यन्त सहृदय होती हैं। वे किसी के दुख को अपनी आँखों से नहीं देख सकतीं। सम्भवतः इसीलिए लाली के बिना इलाज के मर जाना उन्हें सह्य नहीं, यहाँ तक कि वे स्वयं व्यय करने को प्रस्तुत हो जाती हैं। उनके दिल और गर्जन की ही चिन्ता सबसे रहती है, कि लाली और भाभी के सम्बन्धों को लेकर समाज अँगुली न उठाये, राजेन के प्रति उनका कथन है—'सब लोग तेरी तरह तेरी माँ तो है नहीं।

समाज में आज ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो बहिन कहकर भी उसे एक भोग्य नारी दृष्टि से देखते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी वासना-पूर्ति में आगा-पीछा नहीं सोचते। इस प्रकार के लम्पट, आवारा एवं सफेद पोश व्यक्ति समाज के बीच मे रहते हैं। ये ही व्यक्ति समाज को पतन के गर्त की ओर तीव्रता से ले जा रहे हैं। ऐसे व्यक्तियों को उपन्यासकार ने राजहंस के माध्यम से प्रस्तुत किया है। मुरली मनोहर राजहंस का नाम रखकर समाज के समक्ष प्रकट होते हैं। युवतियों को फुसलाना, धोखा देना एव परिस्थिति के अनुसार स्वय को ढाल लेना उनके बाएँ हाथ का खेल है। मुरलीमनोहर जिसके भी सम्पर्क मे आता है उसको धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करता है। उसने अनेक लडकियो का जीवन नष्ट किया है। अर्चना जो दूर के रिश्ते से उसकी बहिन है, उसको इसने बिना सामाजिक ढग से विवाह किये हुए पत्नी बनाकर रक्खा है। मुरली मनोहर ने राजहंस के नाम मे जमना के जीवन मे प्रवेश किया। जमना इसके बहकावे मे आकर फिल्म की हीरोइन बनने के मोह में भाग जाती है पर जब राजहंस से परेशान हो उठती है तो नशे मे धुत्त राजहंस को चलती ट्रेन से धक्का देकर नीचे गिरा देती है। बाद मे पता चलता है कि राय चन्द्रनाथ महोदय नपुंसक हैं। इन सब विकृतियो का मूल कारण है—जमना की यौन-अतृप्ति।

आजकल शिक्षित मध्यवर्ग मे तरुण व्यक्ति अपने मन मे यौन-सम्बन्धी विकार को दबाकर प्रत्यक्ष रूप मे भाई-बहिन का सम्बन्ध प्रकट करना एक शिष्टाचार मानने लगे हैं। 'चलते चलते' में इसका चित्रण उपन्यासकार ने केवल इसलिये किया है कि थोथे आदर्श को लेकर या नैतिक पथ जोड़ कर चलने वाले व्यक्ति कैसे होते हैं? उन्होंने मुरली मनोहर उर्फ राजहंस के चरित्र को प्रकाश मे लाकर पाठकों को एक ऐसी दिशा दी है, जिससे युवक यह ग्रहण कर लें कि थोथे आदर्श एवं अनैतिकता का पथ ही अधःपतन का आधार है। पाठक मुरली मनोहर जैसे तथा कथित भाइयों से सावधान बने रहें। यही कृतिकार की परोक्ष कामना प्रतीत होती है।

समाज मे यौन लिप्सा दिन प्रतिदिन इतनी फैलती जा रही है कि पास-पड़ोस का सारा वातावरण विषैला होता जा रहा है। उसमें पड़ कर आज प्रत्येक व्यक्ति घुटन की पीड़ा से संत्रस्त है। आज का हमारा सामाजिक जीवन ही भार स्वरूप हो गया है, पारिवारिक जीवन मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की विद्युदारा इतनी तीव्र गति से प्रवहमान हो गयी है कि सम्बन्धित सौख्य सर्वथा असह्य हो उठा है। व्यक्ति के नैतिक मूल्य दम तोड़ रहे हैं। पर नये युग के आगमन के फलस्वरूप नारियों मे इस प्रकार का वर्ग पनप रहा है जो सिद्धान्तो के साथ तो समन्वय स्थापित करने को तत्पर है, किन्तु वे पाणि व्यक्ति से सम्बन्ध नहीं चाहतीं। अर्चना इसी वर्ग की नारी है जो मुरली मनोहर उर्फ राजहंस की पत्नी है पर उनके आचार-व्यवहार से अत्यन्त क्षुब्ध है। उसको पतिव्रत धर्म मान्य है, तो केवल उस प्राणी के लिए, जो उनके प्रति सच्चा और कर्तव्यनिष्ठ हो। आज नारी वर्ग की स्थिति यह है कि अर्चना जैसी नारियों का, अपने पति पर विश्वास भले ही न रह गया हो मगर वे आज भी

सहृदय बनी हुई हैं, नारी हृदय की निखिल करुणा से वे स्वतः श्रोत प्रोत है। वे इतनी परिपूर्ण हैं कि अन्याय और अत्याचार सहन करती हुई भी प्रतिहिंसा का अवलम्ब नहीं लेतीं। यहां भी लेखक अपनी आदर्श स्थापना के मोह से विलग नहीं हो पाया है। किन्तु एक अन्य नारी जमना है, जब राजहंस उसे बहका कर ले आता और उसका शील-भंग करने को सर्वथा उद्यत जान पड़ता है, तब जमना उसे चलती ट्रेन के नीचे ढकेल देती है। एक वीरांगना नारी के इस रूप के चित्रण में कृतिकार प्रकारान्तर से कदाचित यह कहना चाहता है कि कोई व्यक्ति नारी के साथ अनुचित व्यवहार नहीं कर सकता, यदि वह अपने आचार धर्म के प्रति सदा सजग बनी रहे। इसी परिस्थिति का दूसरा रूप यह भी है कि नारी यदि धोखा न खाना चाहे तो उसे कोई पतन के गर्त में डाल नहीं सकता। केवल एक सत्ता है, जो पतित बनाती है उसे, और वह है यौन अतृप्ति।

जिस नयी सभ्यता एवं नवीन युग के उदय की बात लेखक ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से व्यक्त की है, उसका सर्वाधिक गहन और तीव्र प्रभाव आधुनिक शिक्षित युवतियों पर पड़ रहा है। उनकी वेशभूषा, चपलता, आकर्षित करने का ढंग, हठ आत्माभिमान उसकी निजी विशेषताएँ हैं। वेशभूषा में तो वैशाली पुरुषों से दस कदम आगे ही है—पीछे नहीं। उसके स्वभाव में संकोच नहीं है, जबकि अहं तो उसकी रग-रग में समाया हुआ है। वह अपनी बात और कार्यक्रम का सम्मान चाहती है। वह चाहती है कि राजेन्द्र उसकी इच्छा, उसके शासन पर चले। राजेन्द्र को वह भली-भांति समझ लेना चाहती है अतः उससे पत्र-व्यवहार भी आरम्भ कर देती है। नायक राजेन्द्र वैशाली जैसी बहिनों और लड़कियों को सभ्यता के लिए आवश्यक मानता है। उसकी छवि-माधुरी और सांस्कृतिक रुचियों ने उसके मन में मोह उत्पन्न किया है।

वाजपेयी जी ने वैशाली के चरित्र को अपने इस उपन्यास में सम्भवतः इसलिए अधिक नहीं उभारा क्योंकि नायक राजेन्द्र वैशाली को अपनी बहिन स्वीकारता है तथा इसी रूप में उसको सम्बोधित भी करता है। वह वैशाली के इतना कहने पर भी 'ऐसा जान पड़ता है जैसे युग-युग से मैं तुम्हें बुला रही हूँ,' राजेन्द्र उसको लिपट नहीं देता। उसका कथन है ऐसा होने पर सभ्यता की आँखें फूट जाएंगी। हाँ, सधे व्यक्ति की दृष्टि छाया और प्रकाश के भेद से परे होनी है। इस उपन्यास में वैशाली का अन्य किसी पात्र के साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं है, जैसा वैशाली राजेन्द्र से मानती है, जिससे उसका चरित्र उभर कर सामने आ जाता। तब यह प्रश्न ही नहीं उठता कि रेशमी आकर्षक और मनोहर धागा होते हुए भी अनावश्यक समझ कर उपन्यासकार ने क्यों काट दिया। राजेन्द्र के जीवन में उसका इतना ही प्रवेश है। नायक के व्यक्तित्व को निखारने में जितनी सहायक वह हो सकती है उतना ही उसका उपयोग कृतिकार ने किया है अतः उसका चरित्र अपने में पूर्ण है।

व्यक्ति जब अपने जीवन में अतृप्त होता है तब वह कल्पनाओं के द्वारा एक स्वर्णिम संसार का स्वप्न देखता और हवा महल बनाता है। मगर जीवन की प्रत्येक स्थिति अपूर्ण है, तृप्ति कहीं भी नहीं है और आदर्शवादी का मन भी कभी-कभी विकारपूर्ण एवं खोखला होता है। 'चलते चलते' उपन्यास मे इसी तरह पांडे जी भी अतृप्त रहे। वे भी अवसर मिलते ही सुनहले स्वप्नों और अभिनव कल्पनाओं के आधार पर अपना नया जीवन आरम्भ कर देते हैं। इनके जीवन को देख कर पाठकों को जो अनुभव प्राप्त होता है वह यह है कि स्वप्न स्वप्न है, और कुछ नहीं; भले ही वह स्वर्णिम हो, क्योंकि जीवन की स्थिति अपूर्ण है।

यहाँ ऐसा जान पड़ता है कि कृतिकार अपने इसी जीवन मे बदले हुए समाज का स्वप्न देखना चाहता है। जो आकांक्षाएँ उसके आसपास रही हैं उससे वह सतुष्ट नहीं है। इसीलिए वह समाज के बीच रहने की अभिलाषा रखता है, जो अब तक उसके लिए दुर्लभ रहा है। पर आगे चल कर जब हम इन सब प्रयोगों पर विचार करके देखते है, तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जीवन को विविध दृष्टियो से देखने की विधा मे लेखक का यह प्रयोग चौंकाने वाला है। बड़ा ही मौलिक और सजीव। हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासो से सर्वथा अलग।

वाजपेयी जी के इस उपन्यास के विरुद्ध कुछ आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि उसमें अनेक नपुंसक पात्रों की सृष्टि की गई है लेकिन उनका यह आरोप खरा नहीं उतरता। क्योंकि उपन्यास का नायक राजेन्द्र विभिन्न सुन्दर नवयुवतियों को देख कर उनके प्रति मन ही मन आकर्षित होता है जिसको वह स्वीकारता भी है 'क्या करूँ आदत से लाचार हूँ।' वह आवृत वक्ष के उभार को देख कर विचलित और अनावृत वक्ष के उभार को देख कर पागल भी हो उठता है। मैं यह भी मानता हूँ कि अतृप्त तथा मन-प्राण-धन से समर्पणयुक्त छोटी भाभी (रानी) पर पूर्ण रूप से आसक्त भी है। मगर यह कहना कि 'किसी सन्तान के पिता बनने की क्षमता रखता है या नहीं?' अधिक संगत नही मालूम पड़ता। क्योंकि सौन्दर्य देख कर मन मे आकर्षित होने का तात्पर्य यह तो नही है कि वह अपने आदर्शों से डिग जाय, अपने सामाजिक सम्बन्धों को एक किनारे रख कर, यौन सम्बन्ध स्थापित कर ले और किसी सन्तान के पिता होने की क्षमता उसमे है या नहीं इसको प्रमाणित भी कर दे। क्या उसके इस कथन का कोई अर्थ नहीं 'जिनके साथ सीमाओं का सम्बन्ध है उनसे दूर रहने मे ही कुशल है।' जो आदर्श रक्षा मे तत्पर और कर्तव्यनिष्ठ हो तथा जिसकी आत्मा का यह स्वर हो—'आदर्श के ही साथ तो मैं मैं हूँ, आदर्श के बिना मैं—मेरा अस्तित्व—जड़ है, निर्जीव।' तब फिर उसके सम्बन्ध में यह आरोप कहाँ तक उचित है?

एक और आरोप है कि अधिकांश पात्रों को बिना किसी संघर्ष या परिश्रम के भोजन वस्त्र और निवास की सब सुख सुविधाएँ उपलब्ध हैं। किसी को भी अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए तिल भर भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। वस्तुतः

जबकि स्थिति इसके विपरीत है; क्योंकि राजेन्द्र को जमींदारी है, खेत है और इन सबका एक प्रबंधक भी है। अतः इस ओर से यदि वह चिन्तामुक्त भी है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। बन्नो के पिता तो इतनी ही सम्पत्ति छोड़ मरे थे कि वह केवल एक सप्ताह तक खाना खा सकता था। वे एक कुशल जौहरी हैं इसलिए बाद में लाखों की सम्पत्ति अपने पुरुषार्थ एवं कौशल से अर्जित कर ली। लाला सावरे का भी सूद पर रुपया उठाने का व्यवसाय है और रामलाल तो चोरी डकैती के द्वारा पैसा पैदा करता है। मुरली मनोहर उर्फ राजहंस भी रुपये छापकर, समाज के व्यक्तियों से पैसा ऐंठकर, ऐश करते हैं। नायक राजेन्द्र के पिता के पुनर्जीवित होने के पश्चात् जब सोने की माँ के साथ दाम्पत्य जीवन प्रारम्भ कर देते हैं तो उपेन्द्र की माँ के निर्देशन में कार्य प्रेरणा चलता है और उसी से पैसा पैदा होता है। भोने लाल जैसा पात्र भी बेचारा दिन भर मुनारी करके अपनी पत्नी तथा बच्चों का भरण-पोषण कर पाता है। इसलिए यह आरोप भी न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। ये सभी पात्र यौन-प्रवृत्ति के कारण मानसिक उन्मादग्रस्त हैं जरूर, मगर इसका तात्पर्य यह नहीं कि खानेपीने पहिनने और रहने के लिए धन जुटाते ही नहीं! यदि ऐसा है तो वे जीवित कैसे है? हाँ, मगर यह कहा जाय कि उनकी समस्याएँ भौतिक जीवन के संघर्ष की कम पर मानसिक धरातल की अधिक हैं, तो उचित प्रतीत होता।

'आत्म कथा' शैली में उपन्यास लिखने में लेखक को अधिक सतर्कता और कला कुशलता की आवश्यकता होती है। उसकी कथावस्तु तो सीमित होती है जब कि उस पर आधारित भावनाओं का आधार अधिक विस्तृत। उपन्यासकार केवल द्रष्टा के रूप में रहता है और उसका व्यक्तित्व विभिन्न पात्रों में विभक्त हो जाता है। पात्रों से सम्बन्धित अत्यावश्यक वर्णन का सहारा लेकर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों के यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करने होते हैं। सम्भवतः इसीलिए इस उपन्यास का नायक राजेन्द्र विचारक, दार्शनिक और समाज का आलोचक है। यह उसका निजी व्यक्तित्व है। यदि इनको भी अपने भावों की अभिव्यक्ति का आधार वह न बनाता तो निश्चित रूप से उपन्यास 'हल्का' हो जाता। इसके लिए न तो स्वयं उपन्यासकार जिम्मेदार है और न ही राजेन्द्र। क्योंकि है तो अन्ततः आत्मकथा ही। तब उस 'हल्केपन' को उपन्यास की दृष्टि से आलोचकों का उपयुक्त मानना कहाँ तक समीचीन है?

'चलते चलते' में लेखक से एक दो असावधानियाँ भी हुई हैं जो पाठकों का ध्यान अनायास अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। सर्वप्रथम यह कि इस उपन्यास में बड़ी भाभी विमला का आगमन कैसे हुआ, कहाँ से हुआ, क्या वे राजेन्द्र के घर में पहले से ही थीं, तो राजेन्द्र के आगमन पर या माँ द्वारा छोटी भाभी का परिचय देते समय वे कहाँ थीं? सम्पूर्ण वैवाहिक कार्यक्रम नायक राजेन्द्र के घर में होते हैं और समाप्त भी हो जाते हैं मगर उनके दर्शन नहीं होते और न ही उनका इस अवसर

पर नाम ही आता है। यहाँ तक कि राजेन्द्र छोटी भाभी से तो समय असमय मिला करता है पर बडी भाभी विमला की याद उसे एक क्षण मात्र को भी नहीं आती। उनका जिक्र यदि इस उपन्यास मे राजेन्द्र करता है तो इस रूप मे—'इधर कई दिन से छोटी भाभी से भेंट हो ही नही रही है और बडी भाभी से जब कभी मिलना चाहता हूँ, तो पडोस की किसी न किसी नारी के साथ ताश मे लीन पाता हूँ।

दूसरे, जो मकान लाला सांवरे से नायक राजेन्द्र ने लिया है वह किसका है ? स्वय लाला सांवरे का या सोने की माँ का ? यदि लाला सांवरे का है तो सूदखोर एव पूँजीपति होते हुए वे उसको बेचना क्यो चाहते हैं और वह भी पन्द्रह हजार रुपयो का होते हुए भी दस हजार मे ? और यदि सोने की माँ का है तो वे राजेन्द्र से लाली द्वारा यह क्यो कहलवाती हैं कि दस हजार रुपयो से वह आगे न बढ़े अर्थात् अपने पुत्र सोने का गला क्यो काट रही हैं। वह स्वय क्यो नही सोचता पन्द्रह हजार रुपये का मकान, दस हजार मे प्राप्त होने मे क्या रहस्य है तथा वह इसका पता क्यो नही लगाता। यदि ऐसा कुछ भी नही है तब तो एक ही रहस्य बच रहता है कि वह मकान लाला सांवरे का ही हो।

मनोविश्लेषण प्रधान चितामूलक शैली मे साधारण सी कथा मे औपन्यासिकता लाना सरल कार्य नही है। 'चलते-चलते' मे कथा-कौशल और शैली शिल्प की विशिष्टता निर्विवाद रूप से सुन्दर बन पडी है। नायक का मनोविश्लेषण रोचक है। मानसिक क्रिया-कलाप का वर्णन आधुनिक कथा-साहित्य की विशेषता है अवश्य, पर मन की कोई तरग निश्चित नही है एक क्षण मे कुछ और दूसरे क्षण कुछ। कलाकार कुशलतापूर्वक मन की प्रत्येक तरग को पकडता है। जो कलाकार जितनी ही कुशलता से मन के घाताघातों को प्रस्तुत करता है। उसकी रचना उतनी ही श्रेष्ठ होती है। इस दृष्टि से 'चलते-चलते' उस कोटि का उपन्यास है जिसमे मानसिक धारा के द्वारा अनेक स्थलो पर उपन्यास के कथानक की छूटी हुई शृखला भी जुड गई है। इस दृष्टि से 'चलते चलते' मे मनोविश्लेषण बडा ही रोचक और उपयोगी रूप मे है।

वाजपेयी जी मानवतावादी होने के साथ-साथ व्यक्तिवादी भी है। व्यक्ति ही उनके कथा साहित्य की इकाई है। व्यक्ति की उन्नति के द्वारा ही वे समाज का कल्याण चाहते हैं। उनके शिल्प की यह विधा वैचारिक उपलब्धि की अपेक्षा अप्रतिम है। इस दृष्टि से वे एक टेक्नीशियन अधिक हैं। उनका शिल्प अधिक सशक्त है।

'चलते-चलते' मे वाजपेयी जी ने समाज और मानव जीवन मे प्रचलित ज्वलता मुखी—प्राकृतिक यौन-प्रवृत्ति का चित्र, राजेन्द्र की आदर्शप्रियता, छोटी भाभी (रानी) की स्वच्छन्द आसक्ति, बडी भाभी के कपटाचरण की प्रवृत्ति, लाली का विधवास्वरूप और उसकी उपेक्षा, अर्चना का युगानुरूप रूप, जमना की चंचलता एव विकृति, वैशाली द्वारा आधुनिका कुमारिकाओ की चित्तवृत्ति, वडीभैया के माध्यम से धनिकों का रंग ढंग और विवशता, राजेन्द्र के पिता द्वारा पारिवारिक जीवन में

असतोप की वृत्ति, सोने की माँ का रंगीलापन, लाला साँवरे के माध्यम से पूँजीवाद और सूदखोरी का स्वरूप, मुरली मनोहर उर्फ राजहंस द्वारा लम्पटता की प्रवृत्ति, रामलाल जैसे राष्ट्र विरोधी स्वार्थ लोलुप गुण्डे और गौरीशकर जैसे सच्चे देश प्रेमी आदि का चित्रणकर पाठको को सोचने-समझने और समाधान ढूँढने के लिए एक दृष्टि प्रदान की है। इससे पाठकों के अन्तर्मन मे दृढ़ आस्था, निष्ठा एवं विश्वास उपजता है। 'चलते-चलते' इस कला का एक उत्कृष्ट एव प्रतिनिधि उपन्यास है।

सघर्ष

अँधियारे पथ पर जीवन दीप की खोज[1]

•

सुदेश तायल

सियारामशरण गुप्त मूलतः कवि हैं। परन्तु उपन्यासकार के रूप मे भी उन्हें पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। उन्होने यद्यपि प्रचुर परिमाण मे उपन्यास रचना नही की। कुल तीन उपन्यासों की ही रचना उन्होंने की है—'गोद' .१९३३: 'अंतिम आकांक्षा' : १९३४ : व 'नारी' : १९३७ : जो अपनी सरलता, सरसता व प्रस्तुतीकरण की सहज शैली के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुए। इन तीन उपन्यासो ने ही उन्हे हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों की पंक्ति मे आसीन कर दिया। सियारामशरण जी के साहित्य का मूल स्वर मानवतावादी है। वे मानव की मानवता मे, उसकी सच्चाई मे विश्वास करते है। उनके अनुसार मनुष्य स्वभाव मे बुरा नही होता उसमे मानवता का सहज उद्भूत अक्षय स्रोत विद्यमान है, दैवी प्रवृतियों की अंत.सलिला उसके मानस मे निरन्तर प्रवहमान रहती है। परिस्थितियाँ ही उसे मानव से दानव या पशुत्व की ओर अभिमुख करती है। परिस्थितियाँ उसे बाध्य करती हैं फलतः वह एबसर्ड की ओर उन्मुख हो जाता है। उसकी यह उन्मुखता बाह्य आरोपित न होकर स्वयं सभवा है। मानव को इसी एबसर्डिटी से बचाकर मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठापित करना ही साहित्यकार का लक्ष्य होता है, इष्ट और उद्देश्य होता है। वे यथार्थ के साथ साथ आदर्श की प्रतिष्ठापना के प्रति भी पूर्ण सतर्क, सचेष्ट व जागरूक हैं। मानवतावादी आधार को लेकर लिखा 'नारी' उपन्यास यथार्थवादी विचार सरणियों से चलता हुआ भी इसी कारण आदर्शवादी सीमाओ मे सिमिट कर रह गया है, यथार्थ की पृष्ठभूमि पर आदर्श की स्थापना ही उनके साहित्य का लक्ष्य है।

सियारामशरण जी मानते हैं कि सत्य का उद्घाटन मात्र समाज के लिये कल्याणकारी नही होता, उससे समाज किसी भी रूप मे लाभान्वित नही हो सकता, उसे शिवत्व की स्थापना व संवर्धना मे सहायक होना ही चाहिए—उसी मे उसकी सफलता व सार्थकता है। इसीलिए उनके उपन्यासो में आदर्शवादी प्रवृति का चित्रण

---

१. नारी : सियारामशरण गुप्त

मिलता है। सियारामशरण जी के उपन्यासों का रचनाकाल आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का काल है। उस युग मे प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जयशंकर प्रसाद आदि उपन्यासकार मात्र मनोरंजन के क्षेत्र का परित्याग कर, समाज की समस्याओं व उनके आदर्शवादी समाधान को अधिक महत्ता प्रदान कर रहे थे। उस युग के अधिकांश उपन्यासों मे यथार्थ की पृष्ठभूमि पर आदर्श की ही प्रतिष्ठापना की गई है। "कंकाल" मे समाज को निरावृत कर देने वाले जयशंकर प्रसाद भी अन्ततः आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करने के लिये विवश हो गए। अपने युग की सामान्य प्रवृत्ति के अनुरूप ही सियारामशरण जी नैतिकता का उत्थान चाहते हैं, व्यक्ति के चारित्रिक एव आत्मिक विकास के इच्छुक हैं, असत् पर सत् की व हिंसा पर अहिंसा की विजय के समर्थक है। वैयक्तिक स्वर के प्रति उनके मन मे घोर अनास्था है, वे समष्टि को व्यष्टि के लिये नही वरन व्यष्टि को समष्टि के लिये मानते है, केवल यही नही वे समष्टि के लिये व्यष्टि का बलिदान करने से भी नहीं चूकते है। 'अन्तिम आकांक्षा' मे रामलाल का बारम्बार अपमानित किया जाना लेखक की इसी मान्यता का समर्थन करता है। लेखक ने कही भी उसके विद्रोह को स्वर प्रदान करने का प्रयास नही किया "नारी" मे भी जमना समष्टि के लिये स्वय को तो बलिदान कर ही देती है, अपने पुत्र हल्ली के वैयक्तिक स्वर के प्रति घोर अनास्था होने के कारण ही वे समाज मे किसी क्रान्ति का आह्वान नही करते, कोई भयकर उलट फेर नही चाहते, वे तो व्यक्ति के व्यक्तित्व को समाज के अस्तित्व मे मिलाकर उसी प्रकार एकाकार कर देना चाहते हैं जिस प्रकार जल की एक-एक बूंद मिलकर जलधारा बनती है। समुद्र मे विलीन हो कर जिस प्रकार जलधारा को कोई असन्तोष नही होता है, उसी प्रकार व्यक्ति को भी चाहिए कि वह अपने अस्तित्व के लिये समाज को तोड़ने फोड़ने, नष्ट-भ्रष्ट करने, का प्रयास न करके उसकी रक्षा मे ही, उसके अस्तित्व मे ही स्वयं को विलीन कर दे। वे किसी प्रकार की उत्क्रान्ति की अपेक्षा भारतीय सस्कृति के प्रगतिशील तत्वो एव रूढि विहीन प्रथाओं को पुनर्जीवित करके, मरणासन्न परम्पराओं मे प्राण संचार करके एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की रचना करना चाहते हैं जिससे व्यक्ति को अपने चारित्रिक व आत्मिक विकास के अधिकतम अवसर उपलब्ध हो सकें जिस व्यवस्था में पुरुष के साथ साथ नारी का भी सम्मान हो उसे भी गौरवमय जीवन व्यतीत करने की सुविधाएँ प्राप्त हों।

सियारामशरण जी का युग गाँधी जी के नेतृत्व का युग था। उन्होने राजनीतिक मच पर पदार्पण करने के साथ ही साथ आदर्शवादी मान्यताओं को राजनैतिक सिद्धान्तो का रूप प्रदान किया। राजनैतिक आन्दलनों द्वारा यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि सशस्त्र क्रान्ति के बगैर भी देश को स्वतन्त्र किया जा सकता है। उनके सत्य प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्तों को अपने युग की एक महान् व अनुपम देन के रूप स्वीकार कर लिया गया। उस युग के समस्त साहित्य पर गाँधीवादी विचार-

धारा का प्रभाव परिलक्षित होता है। सियारामशरण जी भी इसके अपवाद न थे। उन पर गांधी जी की विचारधारा सिद्धान्तों व मान्यताओं का पर्याप्त प्रभाव है। उन्होंने व्यक्ति के प्रति घृणा प्रदर्शन के स्थान पर सहानुभूति, स्नेहभाव पर ही बल दिया है।

ये प्रेमचन्द युगीन उपन्यासकार हैं। इसलिये युगीन परिप्रेक्ष्य में उनकी मान्यताएँ भी प्रेमचन्द जी से मिलती जुलती हैं। यह सम्मिलन किसी आग्रहशीलता के आधार पर नहीं वरन् स्वाभाविक रूप से हो गया है। वे वैयक्तिकता के स्थान पर समाज की मर्यादा पालन के समर्थक हैं। सामाजिक व्यवस्था को दोषी नहीं मानते अपितु व्यक्ति को ही उसके लिये उत्तरदायी समझते हैं, इसीलिये सामाजिक व्यवस्था को बदलने की माँग नहीं करते। उसे ईश्वरीय विधान मानते हैं जिसे पूर्णतः बदला नहीं जा सकता है। थोड़ा बहुत सुधार या परिवर्तन अवश्य किया जा सकता है। सभी व्यक्तियों को ईश्वर ने बनाया है। किसी को सम्पन्न व किसी को विपन्न, किसी को शोषक व किसी को शोषित, किसी को उच्च व किसी को नीच—सबको अपने अपने कर्मों के अनुरूप अच्छा या बुरा जीवन मिला है जिसमें किसी भी प्रकार का उलट फेर करना, या संघर्ष करना ईश्वरीय विधान का उल्लंघन करना है, उसके कार्य में हस्तक्षेप करना है। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरों को कष्ट देने की अपेक्षा, उनके सुखों का अपहरण करने की अपेक्षा, आत्म व्यथा में ही शान्ति एवं संतोष का अनुभव करे। दूसरों के या समाज के हित के लिये कष्ट सहन ही मानव की मानवता को जागृत कर सकता है। मानव की मानवता पर सियारामशरण जी की अटूट आस्था है। वे मानवमात्र की सद्भावना में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार मानवात्मा स्वभाव से पूर्ण पवित्र है। वह सांसारिक तृष्णाओं में लिप्त होकर ही असत्य व अन्याय का अवलम्ब ग्रहण करती है। यदि उसे यह स्पष्ट ज्ञान करा दिया जाये कि पाप व असत्य उसका स्वभाव नहीं है, प्रकृति नहीं है, तो वह कभी अनुचित कर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होगी। वे मानव को जन्म से बुरा नहीं मानते उसकी बुराई या दौर्बल्य को परिस्थिति सापेक्ष मानते हैं तथा उसके सुधार की संभावना में विश्वास रखते हैं। मानव में दैवी व आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ सत्य व असत्य, पाप व पुण्य, प्रकाश व अंधकार के समान साथ साथ विद्यमान रहती है जब उसमें दैवी प्रवृत्तियों का प्रभाव बढ़ जाता है वह सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होता है तथा इसके विपरीत स्थितियों में दुष्कर्मों की ओर। वे साहित्य का उद्देश्य मानव की दैवी प्रवृत्तियों का विकास तथा सच्चा सकल्प व कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की दृढ़ शक्ति का उन्नयन मानते हैं। वे कला को कला के लिये न मान कर मानवोत्थान के लिये, सत्यम्, शिवम्, व सुन्दरम् की स्थापना के लिये मानते हैं। उनके सभी उपन्यासों के कथानक ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित हैं परन्तु उन्होंने ग्राम्य जीवन को विस्तार से चित्रित करने का प्रयास नहीं किया। उनके कथानक प्रायः ग्राम्य जीवन से सम्बद्ध होकर भी असम्बद्ध से लगते हैं।

सियारामशरण जी का "नारी" उपन्यास जमना नामक एक असहाय, विवश व असमर्थ नारी की कथा है। जिसके माध्यम से उपन्यासकार ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि नारी जीवन की सार्थकता विवाह की मर्यादा के पालन करने मे है या प्रवृत्यात्मक उपभोग मे ? जमना का एक बार अजीत मातो को विवाह की स्वीकृति दे देने पर भी पुन. एकाकी जीवन को स्वीकार करके पातिव्रत धर्म के पालन की ओर प्रवृत्त हो जाना इस बात का प्रमाण है कि उपन्यासकार विवाह की मर्यादा की रक्षा के पक्ष मे है। सियारामशरण जी समाज की मर्यादा के पालन, उसकी परम्पराओं के निर्वाह के लिये व्यष्टि के बलिदान को श्रेयस्कर मानते हैं, क्योंकि समाज व्यवस्था ईश्वरीय विधान है। उसकी मर्यादाओं का पालन मानव का परम पुनीत कर्त्तव्य है। जमना पति के शहर चले जाने पर भी विवाह के अनेक प्रलोभन होने हुये भी अपनी उजडी गृहस्थी बनाने की इच्छुक नही है। वह नेत्रो मे पतिस्मृति के अश्रु लिये अपने एकमात्र पुत्र हल्ली को ही अपने जीवन का आधार बना कर जीवन पथ पर अग्रसर हो जाती है। उसे किसी सहयात्री की आवश्यकता का अनुभव नही होता, जो उसके मन की पीडा बाँट सके, नेत्रो से बहते अश्रुओ को पोछ सके। प्रवंचक पति के प्रति भी उसके अन्तर मे पूर्ण निष्ठा, आदर व विश्वास है। वह उसके गृह परित्याग का कारण भी उसका रगीन स्वभाव नही वरन् स्वय को, अपने कर्मों व पापो को ही समझती है। अपने जीवन के एकमात्र आधार हल्ली के भाग जाने पर हम उसे परिस्थितियो के समक्ष विवश होते हुए, अजीत के समक्ष विवाह प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए पाते हैं। अंतत. वह नारी उस भीषण वात्याचक्र से उबर कर विवाह की मर्यादा की रक्षा मे प्रवृत्त हो जाती है। सियारामशरण जी का मत है कि किसी दुर्बलता या हीनता से घृणा करने का किसी को अधिकार नही है। प्रत्येक व्यक्ति मे कोई न कोई दुर्बलता अवश्यम्भावी है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी दुर्बलता पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करे। जमना भी अपनी दुर्बलता पर विजय प्राप्त करने मे सफल हो जाती है। उसकी क्षणिक दुर्बलता उसके जीवन का कलक नही बन पाती।

सियारामशरण गुप्त जीवन व समाज के विधान पर सन्देह अवश्य करते हैं किन्तु उनके सन्देह मे कटुता नही है, इसलिये वे उसमे कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नही करना चाहते। वस्तुत. परिवर्तन के लिये जिस उष्मा की आवश्यकता होती है उसका उनके उपन्यासकार मे अभाव है, वे सामाजिक विषमताओ को जला कर नष्ट नहीं कर सकते उसके स्थान पर किसी नवीन सामाजिक व्यवस्था की प्रतिष्ठापना नही कर सकते। यद्यपि कभी कभी उनके मन मे उस व्यवस्था को तोड डालने की भावना अवश्य उत्पन्न होती है, तोडने का प्रयास भी करते हैं किन्तु क्रान्तिकारी परिवर्तन उनके स्वभाव के प्रतिकूल है, वे पुरानी इमारत ढहा कर नई इमारत बनाने के इच्छुक नहीं हैं अपितु उसी मे कुछ सवर्द्धन, परिवर्द्धन या एडिशन आलटरेशन करके ही सन्तुष्ट हो जाने वाले शिल्पी हैं। वे समाज का यथावत् चित्रण भी नहीं चाहते, समाज को उसके सच्चे वास्तविक व निरावृत्त रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास भी नहीं

करते हैं। उसमें अपनी ओर से कुछ मिला कर उन्हें अपना बना कर चित्रित करते हैं। वे पीडा में ही जीवन की सार्थकता मान लेते हैं। साथ ही समाज की मर्यादा व विधान की रक्षा के लिये हीन प्रवृत्तियों के दमन का समर्थन करते है। उसे समाज के लिये आवश्यक व उपयोगी मानते हैं। सियारामशरण जी का अपना जीवन नैतिकता की रक्षा, प्रवृत्तियो व अह के दमन, अहिंसा व आत्मपीडा के विकास की साधना है। उनमे बुद्धिपक्ष की तुलना में हृदय पक्ष, तर्क की अपेक्षा भावुकता अधिक है, वे स्वभाव से आस्तिक हैं तथा सामाजिकता की भावना से आकठ ओतप्रोत। उन्होंने अहिंसा के आदर्श को भी किसी सीमा तक प्राप्त कर लिया है, यही कारण है कि उनकी 'नारी' मे तीव्रता की अपेक्षा आर्द्रता का, उग्रता की अपेक्षा सौम्यता का, रुक्षता की अपेक्षा स्निग्धता का आधिक्य है। वह आजीवन घुटती रहती है, तिल तिल कर जलती रहती है किन्तु आदर्श का परित्याग नही कर पाती।

जैसा कि इसके पूर्व भी कहा जा चुका है कि सियारामशरण गुप्त गाँधीवादी दर्शन से अत्यधिक प्रभावित है, यह प्रभाव उस युग के समस्त साहित्य की ही विशिष्टता है। वे गाँधी जी के समान ही आत्मव्यथा को जीवन शक्ति का मूल-स्रोत मानते हैं। "लोग ऊपर ही ऊपर देखते हैं इसी से कहते हैं कि इसे दुख है, किसी को दुख ही दुख हो तो वो जिन्दा कैसे रहे ?...आनन्द इसमें भी है। सो बात की एक बात यह है, जाही विध राखे राम ताही विध रहिए।" अजीत के जीवन का आधार उसका यही कथन है, जीवन मे दुख और पीडा की अधिकता भी उसे मलिन व खिन्न नही होने देती। वह दुःख को भी ईश्वरेच्छा कहकर न केवल स्वीकार ही करता है वरन् उसमें आनन्द की कल्पना भी करता है। कष्ट के कारणो से घृणा न करते हुए, कष्ट की अनिवार्यता से त्रस्त व भयभीत होने की अपेक्षा उसमे आनन्द की कल्पना करना ही अहिंसा है।

फिर वे कष्ट यदि व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन मात्र से सम्बन्धित न होकर समष्टि के जीवन से, समाज के विधि विधान से, धार्मिक व नैतिक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं, तब तो उसको वरेण्य मानना ही सर्वोत्कृष्ट है। समाज नीति का उल्लघन किसी भी दृष्टि से श्लाघनीय नही है—वह भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थमात्र के लिये जमना अनेक प्रकार के वैयक्तिक व सामाजिक कष्ट सहन करते हुए भी समाज की नीति का उल्लंघन नही करती। विवाह की मर्यादा भंग नही करती। वह व्यक्ति कम है समाज की इकाई अधिक। उसका व्यक्तित्व समाज समुद्र में बूँद के समान विला जाने के लिए ही है। वह उच्च वर्ग की नारी नही है उसकी जाति में दूसरे पति का वरण करने का निषेध नही है, पुनर्विवाह या दूसरा घर बसा लेना अनुचित नही है, फिर भी वह पातिव्रत धर्म का पालन करती है। प्रवंचक पति के प्रति एकनिष्ठ रहती है, पतिपरायणता के आदर्श की प्रतिष्ठापना करती है।

सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन सियारामशरण जी को किसी भी रूप मे स्वीकार नही है, विशेषकर उच्चवर्गीय समाज मे। उनके अन्य दोनो उपन्यासो की

कथा उच्च वर्णों से सम्बन्धित है जहाँ नारी जीवितावस्था मे पति की अनुगामिनी होती है, तथा पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी स्मृति मे जीवन व्यतीत करती है। किन्तु 'नारी' की कथा उनसे कुछ भिन्न है। जमना उस वर्ग की सदस्या है जिसमे पति की मृत्यु के पश्चात् पुन किसी अन्य व्यक्ति से विवाह कर लेना सामाजिक विधि के प्रतिकूल नही है। उन्होने अपनी नायिका का चयन ऐसे वर्ग से किया है जहाँ युगो से नारी भी पुरुष के समान पुनर्विवाह के लिए स्वतन्त्र है। ऐसे वर्ग की सदस्या के माध्यम से पातिव्रत धर्म के आदर्श की प्रतिष्ठा करके उन्होने समस्त भारतीय समाज को, प्रत्येक भारतीय नारी को पवित्रता व सतीत्व के आदर्श की शिक्षा देने का प्रयास किया है। आज उच्चवर्ग की नारी की पतिनिष्ठा भी समाप्तप्राय होती जा रही है, ऐसे मे उपन्यासकार का भाव-प्रवण, आस्तिक, धर्म व सामाजिक मर्यादाओ का समर्थक हृदय विषम वेदना का अनुभव करता है। वे नारी को उस ऊँचे आदर्श पर, गौरव मडित भूमि पर, प्रतिष्ठित कर देने के लिए कटिबद्ध हो जाते है जहाँ जीवन के गहन अधकार मे, उसकी अपनी पवित्रता, सतीत्व एव सत्य ही आलोक बन कर बिखर जाय।

सियारामशरण जी ने अपने पात्र के बाह्य व्यक्तित्व के साथ-साथ उसके आतरिक रहस्यो के उद्घाटन का भी प्रयास किया है। वे चरित्र के बाह्य एव आन्तरिक दोनो ही पक्षों के चितेरे है। चित्रण की दृष्टि से वे यथार्थवादी हैं, अपने पात्रों का चयन भी उन्होने यथार्थ जगत से किया है। इसीलिए उनके पात्र अनिश्चित, अस्पष्ट व अविश्वसनीय नही है। 'नारी' की नायिका जमना के माध्यम से उन्होंने नारी जीवन की विडम्बना व आदर्श को साकार कर दिया है। जमना यदि चाहती तो उस गाँव का कोई भी व्यक्ति उसे अपनाने मे गौरव का अनुभव करता। किन्तु नारी होने के साथ-साथ वह जननी भी है। उसका नारीत्व यदि पति के द्वारा अपमानित, उपेक्षित व अनादृत हुआ है, तो मातृत्व की उपेक्षा वह स्वय क्यो करे। विधुर अजीत भातो की मत्र विद्या का गाँव मे बडा मान है। कैसा ही बड़े से बडा प्रेत हो वह चुटकी बजाकर भगा सकता है—वह जमना का सजातीय होने के कारण उससे विवाह करने का इच्छुक है। तथा अनेक प्रकार से उसकी सहायता करके उसका हृदय परिवर्तित करके अपने प्रति आकृष्ट करने का प्रयास करता है। जीवन की रिक्तता उसके व्यक्तित्व को तोड़ डालती है, यहाँ तक कि वह व्यथा मे ही आनद की कल्पना करने के लिए विवश हो जाता है। वह आरम्भ मे ही जमना के प्रति आकृष्ट था। जगराम को लाकर वह उसको वृन्दावन की मृत्यु का विश्वास दिलाता है किन्तु जमना के समक्ष किसी की एक न चली। वह किसी भी प्रकार इस बात को स्वीकार नहीं कर पाती कि उसके पति की मृत्यु हो गई है।

परिस्थितियो से विवश होकर जमना अजीत से विवाह की स्वीकृति दे देती है, किन्तु उसमे भी उसे अपने वैयक्तिक आनंद, हर्ष या आह्लाद की अपेक्षा पुत्र की हित रक्षा का ध्यान ही अधिक था। पुत्र ही उसके जीवन का एकमात्र अवलम्ब है,

वही जहाँ रहता हो उस घर के लिए अजीत के मुतखाना कहने पर उसका रोष देखते ही बनता है। उसी पुत्र के खेल खिलौने रखने के ताक में से अजीत के साँप पकड़ने पर वह उसके प्रति कृतज्ञता का अनुभव करती है। पुनः हल्ली के भाग जाने पर उसकी खोज में रात-दिन एक कर देने पर उससे विवाह की स्वीकृति भी दे देती है किन्तु उसमें नारीपक्ष की अपेक्षा मातृपक्ष की ही प्रधानता है।

गाँव के प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करना अजीत का स्वभाव है, साथ ही किसी की विवशता से लाभ उठाना स्वभाव के विपरीत। हल्ली के भाग जाने पर जमना की विवाह की स्वीकृति इसके अन्तर्मन को स्पर्श कर जाती है। वह पीड़ा से तिलमिला उठता है।...."तुम्हारे साथ घर गृहस्थी चलाकर मेरा जन्म सफल हो जायेगा। मेरे भाग मे ऐसा सुख कहाँ था। पर इस समय यह बात क्यों उठती है ? मैं भला आदमी नहीं हूँ, पर इतना बुरा भी नहीं कि जो ऐसे मे कोई बात पक्की करा लेना चाहूँ।" जमना के प्रति अपने आकर्षण को संयमित रखने का वह निरन्तर प्रयत्न भी करता है। संयमित आकर्षण मे उष्मा नहीं होती, संयम व सहनशीलता विकास में सदैव साधक नहीं होती। वह निरंतर भीतर ही भीतर घुटता रहता है। किन्तु संयम के आधिक्य के कारण अपनी भावनाओं को साकार नहीं कर पाता। उसकी आत्मा उसे भीतर ही भीतर धिक्कारती रहती है—"कोई अच्छे भले रास्ते से चली जा रही हो तो उसे गुमराह करने का क्या हक है ? सोचते-सोचते जमना के एक विचित्र रूप का उसे अनुभव हुआ।...कोई महिमामयी घृत का दीपक आँचल की ओट करके किसी मन्दिर की ओर बढ़ती आ रही है इधर-उधर से प्रकट हो पड़ने वाले किसी भय की आशंका उसे रत्ती भर नहीं है।...अजीत की इच्छा हुई कि वह कहीं से लाकर इस देवी के ऊपर फूलों की वर्षा कर दे।" उसकी कल्पना उसके हृदय को आहत कर देती है उसके आकर्षण की कटु स्वर मे भर्त्सना करती है। स्वयं को अनेक प्रकार मे समझाने का प्रयास किया किन्तु उसके विचार उसी का उपहास करने लगे। जमना का गरिमामय रूप व अपना दौर्बल्य उसे वृन्दावन की खोज के लिए प्रवृत्त करता है। वह उसके मातृत्व के साथ उसके नारीत्व को भी सार्थक करने के अभियान मे जुट जाता है। अजीत में गुणों व दुर्बलताओं का मणि-कांचन संयोग है। उसके चरित्र का कभी एक पक्ष उभरता है तो कभी दूसरा। यही स्थिति जमना की भी है। वह कहीं अत्यन्त दृढ़ है तो कहीं अत्यन्त मृदु।

जमना सहज सरल विश्वासमयी नारी है। उसकी दृष्टि मे किसी पर अविश्वास करना सबसे बड़ा पाप है। उसकी प्रवृत्ति से लाभ उठा कर मोतीलाल चौधरी उसका खेत, कुआँ तथा पति—सभी कुछ उससे छीन लेता है। वृन्दावन किसी बात को पूर्णतः जाने बगैर उसपर अविश्वास करता है, उसके साथ इतना बड़ा अन्याय करता है परन्तु वह उस पर भी किसी प्रकार का रोष या अविश्वास प्रकट नहीं करती। वह बुराई से घृणा कर सकती है बुरे व्यक्ति से नहीं, पाप से घृणा कर सकती है पापी से नहीं। अपनी समस्त कठिनाइयों का मूलाधार उसे अपना दुर्भाग्य ही प्रतीत होता है। जो

उसके साथ-साथ उसके पति और पुत्र को भी पीड़ित करता है यहाँ तक कि अजीत मातोपर भी कलंक लगवा देता है। इतने कष्ट सहन करने पर भी जमना के चरित्र मे अपरिमित दृढता है, जीवन के संघर्षो ने, भाग्य की विडम्बनाओं ने उसके स्वभाव की परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी है। "वह कट-कुट सकती है, टूट-फूट सकती है, चूर-चूर हो सकती है, सब कुछ सह सकती है परन्तु ऐसी नही हो सकती कि आंच देकर, गलाकर अपने मन के माफिक ढालकर चाहे जैसी बना ली जाय।" वैसे जमना के चरित्र मे प्रखरता व तीक्ष्णता का अभाव है, वह घृत का स्निग्ध दीपक है, लैम्प की प्रखर लौ नही। उसका प्रकाश क्षीण होते हुए भी विषाक्त धुएँ से रहित है, उसमे हृदय को आलोकित करने वाला स्निग्ध आलोक है, नेत्रो मे चकाचौंध उत्पन्न करने वाला प्रकाश नही। अपने पति, पुत्र, श्वसुर, परिचितो, स्त्रियों यहां तक कि विरोधियो के प्रति भी उसका औदार्य श्लाघनीय है। जमना के रूप मे सियारामशरण जी ने भारतीय नारी की सहनशीला, कर्त्तव्यपरायणा, पतिव्रता, सहज, सरल, विश्वासमयी, विश्वनीय, नारी को साकार कर दिया है जो आत्मकथा में ही जीवन की सार्थकता मानती है, पीड़ा मे ही आनन्द की कल्पना करती है।

'नारी' मे एक ओर जहाँ आत्मव्यथा मे ही जीवन की सार्थकता मानने वाले अजीत मातो व जमना है वहीं पर पीडा मे जीवन की सार्थकता मानने वाले पात्रो का भी अभाव नहीं है। चौधरी मोतीलाल सफल महाजन है, महाजन की सफलता इसी में है कि वह ऋणग्रस्त व्यक्ति की विवशता से लाभ उठाता रहे, जोंक की भाँति उसके शरीर का सारा रक्त चूसकर उसे तड़पने के लिये छोड़ दे। चौधरी के माध्यम से उपन्यासकार ने महाजनों के काले कारनामो को साकार कर दिया है। महाजन उस विषधर के समान है जिसके काटे का इलाज किसी के पास नही है। तथा उस युग का समग्र सामाजिक जीवन ही महाजनो के अत्याचारों की जीवन्त गाथा है। उनका पुत्र हीरालाल भी उसी की प्रतिकृति है। वृन्दावन भी अपने व्यक्तिगत आनन्द के लिये जमना जैसी नारी के नारीत्व की उपेक्षा करके उसका जीवन विषाक्त बना देता है। हल्ली की स्थिति उपन्यास मे विशिष्ट है। वह अपनी जननी जमना के अनुरूप ही सरल स्वभाव का, बड़ो के प्रति आदरयुक्त, समवयस्को के प्रति स्नेहमय है। सामाजिक मर्यादाओ के निर्वाह का वह भी समर्थक है परन्तु उसमे जमना की की अपेक्षा वैयक्तिक चेतना व विद्रोह का स्वर अधिक प्रखर है। धन के आधार पर व्यक्ति व्यक्ति का भेद उसे स्वीकार नहीं, निर्धनता को वह अपमानजनक नहीं मानता, न सम्पन्न को किसी को अपमानित करने का अधिकारी। वृन्दावन का दुर्व्यवहार तो उसके विद्रोह की अग्नि मे घी का कार्य करता है। वह पिता के प्रति भी विद्रोही हो जाता है, "मै बप्पा-बप्पा करके मरा जाता हूं और वे ऐसे खराब आदमी निकले। आप खुद तो बुरे-बुरे काम करके जेल तक हो आये और तुम्हें भूटमूट के लिये इतना बड़ा दुख दे डाला है—अब मै बुरा नहीं मानूंगा। कोई कुछ कहे, इसका डर मुझे नहीं है। मा अब तुम यह घर छोड़ दो। हम लोग अजीत काका के घर

यहाँ से भी अच्छी तरह रहेंगे। इस घर में रंज के मारे तुम बच न सकोगी। अब मैं अपने बप्पा को बप्पा न कहूँगा।"

व्यक्ति का विद्रोह, उसकी वैयक्तिक चेतना व सत्ता सियारामशरण जी के स्वभाव के प्रतिकूल है, वे हल्ली का विद्रोही स्वर कुचल डालते हैं तथा उसे गांधीवादी दर्शन के आत्मपीड़ा के के मार्ग पर अग्रसर कर देते हैं—"अजीत के घर जाकर भी तेरे बप्पा ही तेरे बप्पा रहेंगे। इस बात को कोई बदल नहीं सकता। सह ले, पक्का होकर इसे सह ले, कमजोर क्यों पड़ता है। जितना अधिक सह सकेगा, उतना ही अधिक तू बड़ा होगा।" गुप्त जी ने अपने पात्रों का चित्रण पूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। उनके अतर्मन में उठने वाली तरंगों के, विचारों के ऊहापोह के चित्रण में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उनके पात्र न पूर्ण उज्ज्वल हैं न एकान्तत श्यामल, परन्तु वे अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील अवश्य हैं। उपन्यासकार ने पात्रों का चयन व चित्रण यथार्थ की पृष्ठ-भूमि पर किया है किन्तु अंततः वे आदर्श की ओर अग्रसर हो जाते हैं। वे मानव को परिस्थितिजन्य एवसर्डिटी से बचाकर मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करना ही साहित्य का लक्ष्य मानते हैं। वे स्वभाव से आदर्शवादी हैं, उसी के अनुकूल उनके पात्रों का चित्रण हुआ है।

नारी का कथानक यद्यपि ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित है तथापि उनमें प्रेमचंद के समान भारतवर्ष के ग्रामों को साकार कर देने की प्रवृति नहीं है। ग्राम्य जीवन की अपेक्षा पारिवारिक जीवन के चित्रण में ही उनकी लेखनी प्रमुखत रमी है। फिर भी ग्राम्य जीवन की प्रमुखतम समस्याओं यथा महाजनों के अत्याचारों, रुढ़िवादिता आदि का चित्रण अवश्य मिलता है। ऋण की समस्या भारतीय ग्रामीण समाज की सबसे बड़ी समस्या है, तथा महाजन समाज का सबसे बड़ा जोंक है। वह ऋणग्रस्त व्यक्ति की विवशता से, उसके अज्ञान व अशिक्षा से लाभ उठाना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है।

रुढ़िवादिता हमारे ग्राम्य जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। परम्पराओं के पालन में ही जीवन की चरम सार्थकता का अनुभव करने वाले ग्रामीण जन उन्हें मानव हृदय की भावनाओं व विश्वासों से भी अधिक महत्व देते हैं। गाँव में वृन्दावन की मृत्यु का समाचार फैल जाने पर जमना के दहाड़े मार-मार कर न रोने से उसे पर्याप्त आलोचना व व्यंग वचनों का शिकार होना पड़ता है। यहाँ तक कि माता व पुत्र के मध्य भी कटुता उत्पन्न हो जाती है। इन सबका चित्रण पारिवारिक पृष्ठ-भूमि में ही हुआ है। ग्राम्य जीवन से उनका कथानक प्रायः असबद्ध सा ही रहा है। परिणामतः ग्रामीण वातावरण के चित्रण का उनके उपन्यासों में प्रायः अभाव ही है।

सियारामशरण जी के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी शैली की कोमलता, सरलता व हृदयग्राहिता। उनके सभी उपन्यास लघु कलेवरीय हैं। फलतः

उनमे विस्तृत वर्णनो का अभाव है। वे न कथानक की सयोजना विस्तृत पट पर करते हैं, न अपरिमित पात्रो के माध्यम से। एक समस्या का प्रश्न जो वे लेकर चलते हैं उसी के समाधान मे अपनी कला का प्रयोग करते हैं। उनके उपन्यासो मे उपदेश या प्रचार के स्वर का अभाव है। वे भावनाओ के चितेरे हैं। उनके उपन्यासो में यौवन मुस्कराता हुआ, प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था जीवन को अनुभव की दृष्टि से देखती हुई व बचपन का आलोक क्रीड़ा करता हुआ चित्रित किया गया है। स्निग्धता व मर्मस्पर्शिता कला का प्रमुख गुण है। नारी की कथा पढ कर ऐसा प्रतीत होता है मानो जमना की पीड़ा पाठक के मानस मे धीरे-धीरे घुल रही हो। उसमे पारिवारिक स्निग्धता व तरलता व्याप्त है। नारी की नायिका यद्यपि आत्मकथा ये विश्वास करती है सहिष्णुता को ही विकास का साधन मानती है तथापि वह अपने पति के प्रति पूर्ण करुण एवं स्निग्ध है। पति की अवस्था की सूचना उसके मानस को आलोकित कर देती है। उसका सुप्त प्रेम जागृत होकर धधक उठता है।

सियारामशरण जी ने यूँ भी जागरूक होकर उपन्यास की प्रभावात्मकता को तीव्र करने का प्रयास नहीं किया है। यदि कहीं किया भी है तो इतने सरल भाव से कि वह स्पष्ट नहीं हो पाता। यथा अतीत के प्रति जमना के आत्मसमर्पण का दृश्य इतनी सरलता पूर्वक चित्रित किया गया है कि वह पाठक को चोंकाता नहीं, उनके मानस को झकझोरता नही वरन् बड़ी सरलता से वह उसे आत्मसात् करके आगे बढ जाता है। उपन्यासकार के लिये प्रभावात्मकता व कलात्मकता से भी सहजता व सहजता का प्रलोभन ही अधिक बडा है। सरलता की यह चाहना अस्वाभाविक भी नही है। उनका शीतलता का सच्चा आलय घना छायादार वृक्ष नही, खेत के नन्हे पौधे हैं जो मद पवन के साथ हिलडुल कर क्रीडा कर रहे हैं, मस्त होकर झूम रहे हैं। उन्होने प्रतिशय स्नेहार्द्र भाव से अपनी कृति की सृष्टि की है।

शैली के समान ही वे भाषा को भी साधन मानते हैं साध्य नही। उनके शब्द चयन में क्लिष्टता व कलात्मकता का अभाव है। भाषा सम्बन्धी कोई विशेष आग्रह भी उनके हृदय मे नही है। उनकी भाषा में न तो संस्कृति की तत्समता के प्रति मोह है न उर्दू की सरलता के प्रति आग्रह। उन्होने ग्राम्य शब्दो का प्रयोग भी कम ही किया है क्योंकि उनका लक्ष्य ग्राम्य जीवन को चित्रित करना भी नहीं है वे तो पारिवारिक जीवन के व्याख्याता हैं तथा सहज सरल वार्तालाप की भाषा मे ही उन्होंने पात्रो के कथोपकथन की सृष्टि की है जो कथा को विकसित करने के साथ-साथ पात्रों को चित्रण मे सहायक हुए हैं। नारी मे लम्बे लम्बे दार्शनिक कथोपकथनों व रगमचीय भाषणो का प्रायः अभाव है। कहीं-कहीं पात्रो के मानसिक ऊहापोह के प्रसंग मे अवश्य काव्यात्मकता, दार्शनिकता व भावुकता का समावेश हो गया है किन्तु इस प्रकार के प्रयोगों ने उनके उपन्यासो को सरलता ही प्रदान की है। क्लिष्ट या दुरुह नहीं बनाया। जमना व अजीत के मानसिक संघर्षों का चित्रण नारी के प्रमुख

आकर्षण हैं, जहाँ उपन्यासकार की कल्पनाशक्ति, कलात्मकता व भावाभिव्यक्ति का चमत्कार दर्शनीय है।

नारी जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह मातृत्व के लिये नारीत्व को उपेक्षा की वस्तु मान ले। जमना एक बार परिस्थितियों के समक्ष परास्त होते हुए दर्शायी गई है किन्तु उसमें भी उसकी वैयक्तिक भोग लिप्सा की भावना के स्थान पर पुत्र की हित रक्षा का विचार ही प्रमुख था। वह ऐसी नारी है जो अपने हाथ से आरोपित आम्र वृक्ष के प्रति भी मातृत्व मात्र का, ममता व वात्सल्य का अनुभव करती है उसे वृक्ष से फल प्राप्ति की कामना उतनी नहीं है जितनी कि उसकी रक्षा की। उसका जीवन गहन अंधकार से परिव्याप्त है, प्रकाश की कहो कोई किरण नहीं, आशा का कोई आलोक नहीं, ऐसे गहन अंधकार में वह जीवन दीप की खोज में निकल पड़ती है, जीवन दीप उसे मिलता है आत्मव्यवस्था में, पीडा में ही आनन्द की कल्पना में तथा मातृत्व भावना में। वह नारी की लालसाओं की उपेक्षा करके मातृत्व को ही विधाता का अनुपम वरदान, जीवन का आलोक मानकर स्वीकार कर लेती है। 'कर्तव्य की कंटक शैली पर भीष्म व्रत धारण करके दु:ख को वरण कर लेना ही जीवन का चरम लक्ष्य है'—अपने सृष्टा की इसी मान्यता को स्वीकार करके वह चिरंतन नारी अंधकार की उपेक्षा करके, उसे तुच्छ करके दुःख और विपत्ति के अधियारे पथ को पददलित करके अपने एकमात्र पुत्र का हाथ पकड़े पतिपरायणता के आदर्श पथ की ओर अग्रसर हो जाती है।

सम्भावनाओं की पहली क़िस्त[1]

●

आदित्यप्रसाद त्रिपाठी

सन् १९२७-२८ में प्रकाशित उपन्यास 'गढ़-कुण्डार' वृन्दावनलाल वर्मा की प्रथम रचना है। इसका मूल्यांकन इतने लम्बे अन्तराल के बाद करते समय मैं अपने को बहुत उलझन और संकट की स्थिति में पा रहा हूँ। ऐसी स्थिति में यह भय बराबर बना हुआ है कि मैं कहाँ तक इसके मूल्यांकन में न्याय कर सकूँगा। वृन्दावनलालवर्मा पर बहुत अधिक लिखा-पढ़ा जा चुका है। वर्मा जी की रचनाओं को मैं भी स्वतन्त्र पाठक के रूप में कई बार पढ़ चुका हूँ, पढ़ा चुका हूँ और उन पर वाद-विवाद भी कर चुका हूँ। आज 'गढ़-कुण्डार' की समीक्षा करते समय वह पहले का माल-मसाला और मेरी व्यक्तिगत धारणाएँ अपनी जगह बरकरार हैं। जाने-अनजाने दूसरों के विचार भी, भले ही वे बोझ रूप में हों, अपना थोड़ा-बहुत प्रभाव तो रखते ही हैं। सिद्धान्त रूप में मैं अपनी अभिव्यक्ति में कामू, एजरा पाउण्ड, सार्त्र और टी. एस. इलियट की साझेदारी की दुकान चलाने के पक्ष में नहीं हूँ। यह बात दूसरी है कि कभी हम उन्हें अपनी प्रतिक्रिया और अभिव्यक्ति में अपने जैसा ही पाते हैं। अपनी बात उगलने के लिए इन दिग्गजों के 'लेबल' से युक्त 'टैब्लेट' खाना जरूरी नहीं है। अपनी बात बिना इन लोगों की बैसाखी लगाये भी कही जा सकती है। अतः अभिव्यक्ति और प्रतिक्रिया को मैं पूर्णतया 'प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी' ही मानता हूँ। विश्वास दिलाता हूँ कि 'गढ़-कुण्डार' को देखने और परखने का मेरा अपना चश्मा है, भले ही वह थोड़ा-बहुत रंगीन हो।

इसके पहले कि 'गढ़-कुण्डार' की ब्योरेवार चर्चा हो, वर्मा जी के पूरे साहित्य के कुछेक महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर एक विहगम दृष्टि डाल ली जाय ताकि 'गढ़-कुण्डार' को समझने में उससे कुछ मदद मिल सके। वर्मा जी ऐतिहासिक उपन्यास के सम्बन्ध में एकाधिक बार अपना यह मत व्यक्त कर चुके हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास की रचना-प्रक्रिया में ऐतिहासिक घटनाओं एवं तथ्यों के साथ खिलवाड़ नहीं किया जा सकता, और न ही उन्हें विद्रूप करने तथा तोड़ने-मरोड़ने की छूट उपन्यासकार को

---

[1]—गढ़-कुण्डार : वृन्दावनलाल वर्मा

दी जा सकती है। इससे यह स्पष्ट है, कि वर्मा जी उपन्यासों में ऐतिहासिकता का कड़ाई के साथ पालन करने के पक्ष में हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकार का काम कल्पना और ऐतिहासिक तथ्य के बीच चलने का है। दोनों के बीच से होकर उसे अपना मार्ग प्रशस्त करना पड़ता है। ऐतिहासिकता की बात का कड़ाई से पालन करने में कल्पना और भावना के लिए कम गुंजाइश रह जाती है। इसी बात को दूसरे ढंग से इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्मा जी ऐतिहासिक उपन्यास को उपन्यास के नजदीक कम, इतिहास के अधिक करीब रखने के पक्ष में हैं। ऐसा करने में कोई विशेष हानि तो नहीं है, पर कठिनाई अवश्य है। वह यह कि पाठक पढ़ने के लिए उसे उपन्यास समझ कर ही उठाता है, इतिहास समझकर नहीं। उपन्यास के नाम पर अब उसे इतिहास पढ़ना पड़ता है तो उसे बड़ी निराशा होती है। वर्मा जी के ही वक्तव्य को थोड़ा और बारीकी से देखा जाय, तो कुछ और मुद्दे उभरते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास में कल्पना का स्थान गौण होता है। रचनाकार को सोचने-विचारने और सूझ-बूझ का परिचय देने के लिये विशेष कष्ट नहीं करना पड़ता है वह भी ऐसी स्थिति में जबकि उपन्यासकार कल्पना के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहता। इससे उसका काम बहुत कुछ आसान हो जाता है। ऐतिहासिकता के फ्रेम में वह तथ्यों एवं घटनाओं को कसकर पूर्वनियोजित 'टाइप' उपन्यास गढ़ देता है। कुण्डार का यह गढ़ ऐतिहासिकता के ऐसे ही फ्रेम में गढ़ा गया उपन्यास है। ऐसे पूर्वनियोजित 'टाइप' उपन्यासों में पात्रों का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता है। और न ही उपन्यास उपन्यास बन पाता है। ऐसे उपन्यासों को पढ़ते समय पाठक अपने को इतिहास की कक्षा में पाता है और वर्मा जी को इतिहास के अध्यापक के रूप में। इसीलिए आंशिक रूप में ही वर्मा जी के इस 'ऐतिहासिक वक्तव्य' को स्वीकार किया जा सकता है। ऐसे वक्तव्य के साथ चिपक जाने पर सबसे बड़ा खतरा रचना की औपन्यासिकता का है। और तब ऐसे उपन्यासकार को ऐतिहासिक उपन्यासकार न कह कर, औपन्यासिक इतिहासकार कहने की तबियत होने लगती है। 'गढ़-कुण्डार' में यह दुर्बलता है।

वर्मा जी के उपन्यासों में ऐतिहासिकता के बोझ के कारण चरित्रों का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता है। सभी पात्र 'टाइप' बनकर रह जाते हैं। 'गढ़-कुण्डार' में केवल उन्हीं पात्रों का स्वाभाविक विकास हुआ है जो काल्पनिक हैं। अन्य पात्र जो ऐतिहासिक हैं, कमजोर और शिथिल हैं। 'गढ़-कुण्डार' के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं जो अस्वाभाविक लगते हैं। काल्पनिक पात्रों का विकास बड़ा ही सहज और स्वाभाविक ढंग से हुआ है। काल्पनिक पात्रों में दिवाकर और तारा मुख्य रूप से आते हैं। ये दोनों पात्र पाठक के हृदय में अपना स्थान बड़ी आसानी से बना लेते हैं और बराबर गुद-गुदाया करते हैं। पूरे उपन्यास में ही दो ऐसे पात्र हैं, जो कमजोर और लचर नहीं हैं। ये अपने निश्चय को सदैव क्रियान्वित करते हुए दिखाई पड़ते हैं। लाभ-स्वार्थ की सीमा से ऊपर उठे हुए हैं। गलत और अमानवीय कार्यों में से अपने

स्वजनों का भी विरोध करते हैं। दिवाकर में अन्याय के प्रति विद्रोह का माद्दा है। इसके लिए पागल खाने की कोठरी मे भी बन्द होना पड़ता है खंगारो का वह भी शत्रु है और उन्हें युद्ध मे हराने की उसकी भी लालसा है। पर षड्यन्त्र और छलावे के द्वारा खंगारों का नाशकर 'गढ़-कुण्डार' पर कब्जा करने की नीति उसे नही जँचती और वह अन्त तक उसका विरोध करता रहता है। बुन्देलों की गुप्त मन्त्रणा के वक्त वह ललकार कर कहता है—"ठीक कहता हूँ। जिस दिन आप लोगो ने षड्यन्त्र को अपना विवेक समर्पित कर दिया, उसी दिन आपकी उज्ज्वलता अन्धकारमय हो गयी। जिस दिन आप लोगो ने खगारो को धोखा देकर मारने का निश्चय किया, उस दिन धर्मराज की पुस्तक मे आप लोग क्षत्रियों की नामावली से काट दिये गये। दो हाथ *भूमि के लिए आप लोग कितना भीषण उपद्रव करने को कटिबद्ध हुए हैं। वैर शोध* के लिए अपने क्षत्रियोचित उपाय को कितना दूर छोड़ दिया है। कल तो आपकी अपकीर्ति की अन्तिम आहुतिमात्र है। क्या आप कल्पना करते हैं कि अधर्म-संचित राज्य बहुत दिनों तक चलेगा?" दिवाकर उपन्यास का मुख्य पात्र न होते हुए भी अपने व्यक्तित्व के कारण पूरे उपन्यास पर छाया रहता है। उपन्यास का कोई भी पुरुष पात्र उसके सामने नही ठहर पाता। इसकी तुलना मे सभी बेजान लगते हैं। एक कुशल योद्धा के साथ-साथ वह प्रेमी भी है। पर नायक नागदेव की तरह वह लद्धुआ प्रेम मे बिलकुल विश्वास नही करता। मनुष्य की बड़ी पवित्र ऐकान्तिक अनुभूति है। तारा दिवाकर से प्रेम करती है या *नहीं, इसे वह तारा पर प्रकट नहीं होने देता, उसकी पूजा करता रहता है। इसके मुकाबिले मे सभी का प्रेम या तो कम-*जोर है या छिछला। मानवती प्रेम के नाम पर जैसे गुनाह करती हुई दिखाई देती है। नाग के प्रेम मे प्रवचना और अहंकार है। दिवाकार का प्रेम बड़ा ही शालीन है। समय आने पर तारा दिवाकर से ज्यादा 'एक्टिव' और 'स्मार्ट' हो उठती है। तारा उपन्यास मे पाठक को सबसे अधिक आकर्षित करने वाली नारी पात्र है। भारतीय संस्कृति की साकारमूर्ति के साथ-साथ भारत के भविष्य की नारी है। वह कठिन व्रत और पूजा करने मे भी समर्थ है, और समय आने पर प्रेमी दिवाकर की मुक्ति और भाई अग्निदत्त की तलाश के लिए पिता से विद्रोह, धन-वैभव छोड़ हाथ मे तलवार ले घोड़े पर जा बैठती है। ध्यान रखना होगा कि ये दोनों पात्र ऐतिहासिक नहीं, *कल्पना प्रसूत हैं।*

उपन्यास की दो समस्याएँ हैं—जातीयता सम्बन्धी ऊँच-नीच की भावना और अन्तर्जातीय विवाह। समीक्षा के प्रारम्भ मे ही कथावस्तु की चर्चा होनी चाहिए थी, लेकिन चर्चा ऐतिहासिकता और कल्पना को लेकर चल पड़ी और कथा-वस्तु की बात *रह गयी। बातों का सिलसिला आगे होगा, यह थोड़ी अप्रासंगिक चर्चा ऐतिहासिकता* और कल्पना के सन्दर्भ मे अनायास हो गयी। ऐतिहासिक घटनाओं के कलेवर में उपन्यासकार ने हमारे समाज की दो बड़ी प्रमुख और भयंकर समस्याओं को उठाया है। रचनाकार ने इतिहास की सीमा में रहते हुए अपने उपन्यास मे आज का जीवन

देखने का प्रयास किया है। हमारे समाज का बड़ा पुराना रोग जात-पाँत सम्बन्धी ऊँच-नीच की भावना एवं अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को उपन्यास का विषय बनाया गया है और बड़ी खूबी से उनके दुष्परिणामों को दर्शाया गया है। जीवन के वास्तविक मूल्यों को न पकड़ सकने के कारण हम कहाँ भटक रहे हैं, इसे हम नहीं समझ पा रहे हैं। इनके दुष्परिणाम हमारे सामने हैं, फिर भी उधर से हम आँख मूँदे हुए हैं। झूठे जातीय अभिमान और अहंकार की नकली जिन्दगी हमारी आज की असली जिन्दगी बन गयी है। जातीयता की झूठी और खोखली शान हमारी रगों में किस प्रकार घर कर गयी है, इसे ही 'गढ़-कुण्डार' में उभारा गया है। नाग स्वयं तो अपने से ऊँचे कुल की हेमवती का वरण करना चाहता है पर अपनी बहन मानवती का हाथ अपने विजातीय मित्र अग्निदत्त को देने में अपना अपमान समझता है। यह कैसी विडम्बना है! संकीर्ण विचारों की यह लड़ाई ही खगारों और बुन्देलों के विनाश का कारण बनती है। अशक्य और कमजोर होने पर भी बुन्देलों का मिथ्या अभिमान कम नहीं हुआ है। उनके चरित्र को देखकर 'रस्सी जल गयी, पर ऐंठन नहीं गयी' वाली कहावत एक बार आ जाती है। झूठी शान और आडम्बर पूर्ण जातीयता की प्रतिष्ठा के लिए तलवारें बराबर खिंची रहती हैं। मानापमान और और खोखली जातीयता के मिथ्याभिमान की ज्वाला में खगारों और बुन्देलों की सारी बहादुरी और वीरता स्वाहा हो जाती है। भारतीय समाज के इस कलंक को उपन्यासकार ने बड़ी सफलता के साथ उतारा है। अन्तर्जातीय विवाह की समस्या भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। वर्मा जी ने उपन्यास में इस समस्या को उठाने के साथ इसका निराकरण एवं हल भी प्रस्तुत किया है। ऐसे प्रेमी जो कमजोर और समाज-भीरु हैं, वे अन्तर्जातीय विवाह का प्रश्न आने पर भाग खड़े होते हैं। इनके विपरीत सच्चे प्रेमी और साहसी युवकों के सामने विवाह के क्षणों में यह प्रश्न कभी उठता ही नहीं है। दिवाकर और तारा जातीयता को लाँघकर अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं और कोई उनका कुछ बिगाड़ नहीं पाता। दूसरी ओर मानवती इस दुर्गम दीवार को लाँघ नहीं पाती, लड़खड़ा उठती है और अग्निदत्त के साथ कदम नहीं मिला पाती। अग्निदत्त प्रेम में निराश और अपमानित होकर अपनी जन्म भूमि कुण्डार का ही नाश कर डालता है। अग्निदत्त का ऐसा करना अस्वाभाविक नहीं लगता। यह तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। दोष उस सामाजिक व्यवस्था का है, जिसका अग्निदत्त शिकार हुआ है। उस व्यवस्था की विकरालता के सामने भयाक्रान्त मानवती घुटने टेक देती है। हमारे समाज के इस पुराने रोग का एक लम्बा इतिहास है। इस रोग ने देश के सारे शरीर को चाल दिया है और आज भी खाये जा रहा है, फिर भी हम लोग इसका जवाब नहीं दे पाये हैं। इस उपन्यास की सबसे बड़ी उपलब्धि इसकी समस्याएँ हैं। कल और आज की वह समस्या इस उपन्यास की मुख्य कहानी है जिसके लिए उपन्यासकार बधाई का पात्र है। कथा की ये समस्याएँ ही उपन्यास को प्राणवान बनाती हैं। अपने अतीत में हम अपना वर्तमान पा लेते हैं। सीमा और काल में बँधकर आज भी उपन्यास हमें छूता है। उपन्यास की

समस्याएँ आज भी हमारी समस्याएँ बनी हुई हैं। किसी भी तरह वह हमारे आज के जीवन से कट नहीं पाती हैं। कलाकार की सफलता का यह बहुत बड़ा प्रमाण है, कि वह अतीत में वर्तमान जी रहा है।

ऐतिहासिक उपन्यास में कल्पना और ऐतिहासिकता की चर्चा के सन्दर्भ में 'गढ कुण्डार' के कुछ पात्रों का छिट-पुट विवेचन हो सका है। पर वह बात प्रासंगिक रही है। वहाँ दिवाकर और तारा की चर्चा काल्पनिक पात्र के नाते हुई है जहाँ यह स्वीकार किया गया गया है कि वर्मा जी के उपन्यासों के काल्पनिक पात्र, ऐतिहासिक पात्रों से ज्यादा स्वाभाविक, मानवीय, सबल और प्राणवान लगते हैं। नागदेव कथा का नायक है और उपन्यास का सबसे कमजोर चरित्र। ऐतिहासिक पुरुष है। 'युद्ध और प्रेम में सब कुछ सही है' की नीति में विश्वास करता है। हेमवती से एकतर्फा और जबर्दस्ती प्यार करता है। असफल होने पर षड्यंत्र का सहारा लेता है। हेमवती को जबर्दस्ती उठा ले जाने की साजिश करता है। रात में डाकुओं की तरह डाका डालता है। शराबी, चिड़चिड़ा और जिद्दी स्वभाव का है। बुन्देलों की भाँति इसे भी जातीयता का नशा चढा रहता है। संयम और सिद्धान्त नाम की कोई चीज नहीं जानता। वचन का भी कच्चा है। अपने मित्र अग्निदत्त को उसके प्रेम की सफलता के लिए हर तरह की सहायता का आश्वासन और वचन देता है, पर यह जान लेने पर कि उसकी बहन मानवती ही अग्निदत्त की प्रेमिका है तो साँप की तरह फुफकार उठता है। अग्निदत्त को लात मारता है और कुण्डार में कभी मुँह न दिखाने की आज्ञा देता है। सब मिलाकर, नागदेव एक कमजोर, बेकार और लचर पात्र ठहरता है। मानवती और अग्निदत्त एक दूसरे से प्रेम करते है, इसकी जानकारी के बावजूद भी वह उन्हें एक नहीं होने देता। किसी भी परिस्थिति में उसे पाठक की सहानुभूति प्राप्त नहीं होती है। अग्निदत्त का चरित्र नागदेव से ज्यादा सशक्त तो अवश्य है पर उसमें भी सन्तुलन और संयम का अभाव है। प्रेम में निराश और असफल होने पर वह अपनी मातृभूमि कुण्डार को ही विनाश के कगारे पर ला खड़ा करता है। छल और षड्यंत्र से वह खगारों का नाश कर देता है। अग्निदत्त की इस प्रतिक्रिया को यदि स्वाभाविक मान लिया जाय तो भी उसकी कुछ कमजोरियाँ नहीं भुलायी जा सकती। प्रेमिका के रूप में मानवती का उसका चुनाव ही गलत है। निष्ठावान और कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाली प्रेमिका की उसे पकड़ नहीं है। मानवती जैसी बिना रीढ की नारी को लेकर संसार बसाने का सपना देखता है। उसकी वयस्कता में भी बचकानापन झलकता है। अपनी विशिष्टताओं तथा कमजोरियों के बावजूद भी वह बहुत अस्वाभाविक नहीं लगता। सब मिलाकर ठीक है। नाग से तो बहुत ही अच्छा है। मानवती की असमर्थता जान लेने पर उसे बाध्य नहीं करता। नाग की हालत यह है कि यह जान लेने पर भी कि हेमवती उसे नहीं चाहती बल्कि घृणा करती है तो भी वह उसका पिंड छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। हेमवती अभिमानिनी और जातीयता की संकीर्ण सीमा में जिन्दा रहने वाली नारी है। उसका

अपना कोई सपना नहीं। पिता की राज्य प्राप्त करने की इच्छा के इर्द-गिर्द घूमती रह जाती है। नागदेव की तो बात छोड़िये, जिस व्यक्ति से उसकी शादी होने वाली है, और जहाँ उसकी मौन स्वीकृति भी है, उसके प्रति भी वह मधुर नहीं है। कुछ रुक्ष और सख्त स्वभाव वाली लगती है। नारी की कमनीयता और मधुरता तो उसमें क़तई नहीं है। सगारों के नाश के लिए वह षड्यंत्र का भी समर्थन करती है। इसके लिए वह अपने भाई सहजेन्द्र और दिवाकर को उकसाती है। स्वत कुछ भी नहीं करती। ढोंगी और अन्धी मर्यादा की रक्षा वह गढ़ी और दीवारों में बन्द रह कर ही कर सकती है। सब मिलाकर हेमवती एक 'डल करेक्टर' है। ऐतिहासिकता और कल्पना वाले प्रसंग में तारा और दिवाकर की चर्चा हुई है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि पूरे उपन्यास के ये सबसे सशक्त और ओरदार पात्र हैं। तारा और दिवाकर का प्रेम आदर्श है। वर्मा जी ने इन चरित्रों का निर्वाह बड़ा अच्छा किया है। तारा को पढ़ते समय शालीनता के क्षेत्र में यह 'चित्रलेखा' की यशोधरा से कदम मिलाती दिखाई देती है। कुछ अर्थों में वह यशोधरा से भी आगे है। यशोधरा अपने परिवेश को नहीं छोड़ पाती, जबकि तारा वीरांगना भी बन जाती है। फूल उठाने वाले हाथ तलवार भी उठा लेते हैं। वह रजिया और लक्ष्मीबाई के पथ पर चलती दिखाई देती है। पीछे कह चुका हूँ कि ये दोनों पात्र काल्पनिक हैं, शायद इसीलिए इतने अच्छे बन पड़े हैं। बाकी पात्र इतिहास के उलट-फेर में पिट गये हैं। इसके बाद एक और महत्त्वपूर्ण पात्र अर्जुन पहरेदार रह जाता है। अर्जुन पहरेदार इस उपन्यास का दूसरा मजेदार और अजूबा पात्र है। पूरे उपन्यास पर उतराया रहता है। गढ़ी और इतिहास के घटाटोप में वह दब नहीं पाता, जबकि अन्य पात्र दब से गये हैं। अर्जुन की कल्पना की प्रेरणा वर्मा जी को उनके एक मित्र दुर्जन कुम्हार से मिली है। दुर्जन कुम्हार की सहायता से ही वर्मा जी उपन्यास में वर्णित स्थानों को जान सके हैं। 'गढ़-कुण्डार' का दुर्जन इसी अर्जुन का प्रतिबिंब है। इस प्रकार अर्जुन पहरेदार भी 'फिफ्टी परसेंट' काल्पनिक ठहरता है, शायद इसीलिए इतना सशक्त और जीवट का हो पाया है। हरी चन्देल और इब्न करीम ये दोनों पात्र भी काफी स्वाभाविक बन पड़े हैं।

उपन्यासों के रगरेशे से सम्मत उपन्यास लिखने वाले वर्मा जी इतिहास के रेशे में इस तरह 'उरझ' जाते हैं कि उससे 'निकुर' ही नहीं पाते। इतने अधिक पात्रों की भरमार कर देते हैं कि 'कनफ्यूजन' होने लगता है। हेमवती को मानवती और मानवती को हेमवती समझने की भूल नाम सादृश्य के अलावा अन्य कारणों से भी होती है। उपन्यास में वर्मा जी इतने अधिक गढ़यढ़िया गढ़ डालते हैं कि उसी में मूल 'गढ़-कुण्डार' भी खो जाता है और पाठक भी भटकता नजर आता है। पाठक एक गढ़ी का सम्बन्ध और औचित्य दूसरी गढ़ी से बैठा नहीं पाता। बहुत से पात्र और स्थान भरती के हैं, जिनकी छँटनी करके अनावश्यक विस्तार से बचा जा सकता था। कथानक भ ः।स्पष्ट नहीं है। इसी कारण उपन्यास के आरम्भ में 'परिचय' लिखना

पड़ा है। काफी मोटा उपन्यास है, एक बार उसे देखते ही पाठक दहल जाता है। थोड़ी सी सावधानी पर इसे सुगठित बनाया जा सकता था। एक बात और यहीं कह देना आवश्यक है कि 'गढ़-कुण्डार' में जो शैली अपनाई गयी है, वह बड़ी दोषपूर्ण है। उपन्यास का हर परिच्छेद एक शीर्षक से प्रारम्भ होता है। शीर्षक देखते ही पूरे परिच्छेद का 'आइडिया' मिल जाता है। बस, 'मूड' उखड़ने लगता है। और उपन्यास पढ़ने का सारा उत्साह ठंडा पड़ने लगता है। एक जागरूक पाठक के लिए उपन्यास का 'परिचय' तथा सभी परिच्छेदों के शीर्षकों भर को पढ़ लेना पर्याप्त होगा। लगता है कि आज के जीवन की व्यस्तता और समयाभाव का अन्दाज वर्मा जी को अवश्य रहा। इसीलिए पाठक पर तरस खाकर वर्मा जी ने उसका काम आसान कर दिया। अब, यदि 'परिचय' और शीर्षकों के बाद भी पाठक उपन्यास पढ़ना चाहता है तो पढ़े, उसमें वर्मा जी को कोई एतराज नहीं है। यों उन्होंने अपनी तरफ से ऐसा बिलकुल नहीं चाहा है।

उपन्यास अन्य कई कारणों से बोझिल हो उठा है। पूरा उपन्यास जंगलों से भरा पड़ा है। गढ़पतियों और किल्लेदारों की भरमार कथा को नीरस कर देती है। हर परिच्छेद में एक लड़ाई है। युद्ध वर्णन से पूरा उपन्यास भर गया है। नदी, नाले और पहाड़ियों का बहुत अधिक वर्णन हुआ है। नैसर्गिक वर्णन में उपन्यासकार की वृत्ति खूब रमती है। जिन स्थलों का वर्णन 'गढ़-कुण्डार' में हुआ है, वे अधिकांश ऐतिहासिक हैं। वर्मा जी ने अपने जिन उपन्यासों में जनश्रुतियों और कल्पना के उचित समावेश का ध्यान रखा है, वे ही उपन्यास कलात्मक, रोचक और पठनीय बन पड़े हैं। इतिहास से थोड़ा हटते ही उनकी रचनाएँ कलात्मक हो उठती हैं। अपनी बाद की रचनाओं में वर्मा जी इस दोष से बहुत अंशों में मुक्त हैं। 'विराटा की पद्मिनी,' 'कचनार' और 'मृगनयनी' ऐतिहासिक होते हुए भी उनकी ऐतिहासिकता के 'गुरडम' से मुक्त हैं। 'विराटा की पद्मिनी' तथा 'कचनार' में जनश्रुतियों का और 'मृगनयनी' में कल्पना का आश्रय लिया गया है जिससे वे पाठक के लिए नीरस और बोझ होने से बच जाते हैं। हिन्दी साहित्य में इतिहास का सर्वाधिक शोषण करने वालों में 'प्रसाद' जी तथा वृन्दावनलाल वर्मा प्रमुख हैं। 'प्रसाद' जी इतिहास के सहारे कलात्मक ढंग से अपनी बात कहने की सामर्थ्य तो रखते ही हैं, साथ ही अपनी रचनाओं को ऐतिहासिकता के बोझ से भी बचा ले जाते हैं। पर वर्मा जी के साथ ऐसा नहीं है। वर्मा जी उपन्यास के नाम पर इतिहास टीपते रह जाते हैं। इतिहास उपन्यास का संसर्ग पाकर भी इतिहास ही बना रह जाता है।

दिग्गजों और गुरुजनों के आशीर्वाद से डफली, सारी ! डॉ० फिल० की पूँछ लगाने वाले डाक्टरों ने अपनी थीसिस की शल्य-क्रिया में वर्मा जी की रचनाओं में आंचलिक उपन्यास के कुछ लक्षण देखे हैं। वर्मा जी को आंचलिक उपन्यासकारों की पद्मश्री प्रदान कर दी गयी है। (यह बात और है कि वर्मा जी ने उसे लौटाया नहीं) हिन्दी उपन्यासों की आंचलिकता का इतिहास अभी जुमा-जुमा आठ दिन

का इतिहास है। आंचलिकता हिन्दी मे कभी थी नही, ऐसा मैं नही कहता। दूसरे रूप मे रही है। परम्परा बनते-बनते बनती है। पर आंचलिकता का जो रूप आज उभरा है, उसमे वृन्दावन लाल जी की रचनाएँ 'फिट' नही बैठती। आज आंचलिक उपन्यासो की सीमा काफी बढ गयी है। आंचलिकता के आज के अर्थ मे वर्मा जी की रचनाएँ पूरी नही उतरती। आंचलिक उपन्यास मे सभी औपन्यासिक तत्व आंचलिकता को उभारते हैं। सभी तत्वो के सहयोग से अचल का परिवेश उभरता है। एक सीमित क्षेत्र का सास्कृतिक इतिहास आंचलिक उपन्यास मे उजागर होता है। आंचलिक उपन्यासो मे उपन्यासकार वह सब कुछ जुटाता है जिससे परिवेश विशेष का चित्र उभरे। कथा, पात्र, भाषा-बोली, तथा सवाद की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे अचल की सस्कृति सजीव हो। वर्मा जी के उपन्यासो मे पहले तो ऐसी सुगठित व्यवस्था ही नही है, जो कुछ खीच-तान कर है भी, वह अत्यन्त ढीली-ढाली। 'गढ-कुण्डार' मे बुन्देलखण्ड का जीवन चित्रित किया है। बुन्देलो और खंगारो की आपसी कटुता, विद्वेष की भावना, जातीयता का झूठा अभिमान और अन्तर्जातीय विवाह की समस्या के ताने-बाने मे उपन्यास को कथा पिरोयी गयी है। युद्ध और प्रेम कथा का मूलाधार है। ये सारी बातें किसी अचल की समस्या नही है, यह सर्वदेशीय समस्याएँ हैं। तत्कालीन इतिहास मे झाँककर देखा जा सकता है कि उस समय देश के अन्य राजे-महराजे भी इस रोग की गिरफ्त में थे। हाँ, बुन्देलों की बहादुरी और बुन्देलखंडी जीवन अवश्य उभरा है। अर्जुन पहरेदार धुँआधार बुन्देलखडी बोलता है। शायद वर्मा जी टिपिकल बुन्देलखडी चित्रित करने के मोह में उसे ऐसी अटपटी भाषा थमा देते हैं। परिवेश उभारने और स्थानीय रग के लिए वर्मा जी को बुन्देलखडी शब्दो के प्रयोग की पूरी छूट है। उन्होंने ऐसा किया भी है। पर उसकी एक सीमा बाँधनी होगी। बुदेलखंडी पाठको के अलावा, इसके और भी पाठक होगे, शायद वर्मा जी इसे भूल गये। खडी बोली के साथ बुन्देलखंडी का प्रयोग वर्मा जी ने बडी कुशलता से किया है। परिवेश के उभरने मे इससे मदद मिली है। बुन्देलखंडी लहजे और लटके बडे अच्छे लगते हैं। ऐसे प्रयोगो से बात चुटीली हो जाती है। इतना सब कुछ तो ठीक है। पर जब वे अपने पात्रो से विशुद्ध बुन्देलखडी का प्रयोग करवाने लगते हैं, तब मामला उखड़ने लगता है। अर्जुन शुरू से अन्त तक बुन्देलखंडी मे बोलता है। इसके अलावा भी कुछेक पात्र बुन्देलखडी बोलते हैं। इसी कारण प्रारम्भ में अर्जुन पहरेदार को समझना कठिन होता है, पर थोड़ा आगे बढने पर उसकी बोली समझ मे आने लगती है। इसका अर्थ यह नही कि वह आगे चलकर प्रमान बुन्देलखंडी बोलता है, बल्कि उसका व्यक्तित्व उसके मन्तव्य के स्पष्टीकरण में सहायक होता है और तब तक पाठक को बुन्देलखंडी का थोडा परिचय भी मिल जाता है। अर्जुन का चरित्र इतना विलक्षण है तथा इतना मुखर है कि उसकी बात को वाणी की आवश्यकता नही। अगर इस तरह पैराग्राफ का पैराग्राफ बुन्देलखंडी का प्रयोग ही इष्ट था तो फुटनोट भी आवश्यकता था। हिन्दी के बढने दायरे के कारण यह बात और भी जरूरी हो गयी है कि ऐसे प्रयोगो के लिए फुटनोट अनिवार्य कर दिया जाय।

इस सिलसिले में हिन्दी के एक दूसरे आँचलिक उपन्यास की भाषा का जायजा लिया जाय, जिससे 'गढ़-कुण्डार' की भाषा को अच्छी तरह समझा जा सके। पं० शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र' की 'बहती गंगा' काशी के जीवन का दो सौ वर्षों का इतिहास है। बनारसी जीवन की निपट निर्द्वन्द्वता, अद्‌भुत मस्ती तथा उनके उत्कृष्ट स्वातन्त्र्य प्रेम को खूब उभारा गया है। भाषा पर काशी का (बनारसी बोली) का पूरा प्रभाव है। खड़ी बोली के साथ बनारसी शब्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। छिट-पुट बनारसी बोली के वाक्य भी दिखाई देते हैं। पर वे कहीं बोझिल नहीं लगते। गढ़-कुण्डार' में वे बोझिल बन गये हैं। अर्जुन की भाषा पल्ले नहीं पड़ती। 'बहती गंगा' की भाषा का विवेचन करते हुए पुस्तक की 'सदर्शिका' में लिखा गया है—'इस बहती गंगा की सबसे बड़ी विशेषता है, इसकी भाषा, जिसमें तनिक मिलावट नहीं, बनावट नहीं, सीधी, मुहावरेदार सरस सूक्तियों और लहरियादार शब्दावली से भरी, भावों के साथ ऐसी झूमती, इठलाती, बलखाती, सबकती, लहरें लेती, भूलती, मचलती च.ती है कि आप एक-एक वाक्य को दस-दस बार भी पढ़ें तो जी न भरे। वर्णन ऐसे सजीव कि जिसका वर्णन करना प्रारम्भ करें कि उसे ही दुहराते-तिहराते रह जाय। वास्तव में काशी की बोली-बानी बड़ी स्वाभाविकता से इस उपन्यास में प्रकित हुई है। 'गढ़-कुण्डार' के रचनाकार को यह कमाल हासिल नहीं है। आंचलिक उपन्यास में भाषा का प्रयोग बड़े सधाव तथा सूझ-बूझ के साथ होना चाहिए ताकि उपन्यास का सौष्ठव बढ़े। 'गढ़-कुण्डार' में इसका प्रयोग दुर्बोधता की सीमा तक है।

आंचलिक उपन्यास में भूगोल जिस सीमा तक उपन्यास को आंचलिकता की ओर ले जाता है, 'गढ़-कुण्डार' का भूगोल उसे उससे भी आगे ले गया है। 'गढ़-कुण्डार' के पढ़ने मात्र से ही बुन्देलखंड का पूरा भौगोलिक अध्ययन हो जाता है। मेरी धारणा है कि वर्मा जी अपने उपन्यासों में इतिहास की अपेक्षा भूगोल के प्रयोग में अधिक सफल हैं। वर्मा जी को बुन्देलखंड की प्रकृति, भूगोल और सांस्कृतिक जीवन की विस्तृत जानकारी है। प्रत्येक पहाड़-पहाड़ी, नदी-नाले, गढ़-गढ़ियाँ तथा वन-मैदान सभी वर्मा जी ने छान मारा है। शिकार की तलाश में उनके घुटने ने बुन्देलखंडी माटी का स्पर्श किया है, इसमें कोई संदेह नहीं है। नदियों का कलकल नाद वर्मा जी खूब पकड़ना जानते हैं। नदी की हर लहर की भाषा का अर्थ वर्मा जी समझते हैं ऐसे वर्णनों में हिन्दी के कम लेखक वर्मा जी की तुलना में आते हैं।

'गढ़-कुण्डार' वर्मा जी की प्रथम रचना रही है। उसमें औपन्यासिक कला की परिपक्वता ढूँढ़ना उचित नहीं है। रचनाकार की सतत साधना से उसकी बाद की रचनाएँ अधिक कलात्मक होती हैं। धीरे-धीरे परिपक्वता आती है प्रथम रचना में इसकी सम्भावना कम रहती है। अत. गढ़-कुण्डार में ऐसा कुछ खोजना उचित नहीं है। कालरिज ठीक इसके उलटे यह कहता है कि किसी भी साहित्यकार की प्रतिभा को उसकी प्रथम तथा प्रारम्भिक रचनाओं में ही देखा जा सकता है। रचनाकार की

प्रथम रचना से ही पता लग जाता है कि इसका भविष्य क्या होगा। सन् १६३० के आस-पास 'गढ़-कुण्डार' को पढ़ कर पाठकों को यह आशा बँधी होगी कि 'गढ़-कुण्डार' का कृतिकार हिन्दी उपन्यास-साहित्य में और भी कई गढ़ों का निर्माण करेगा। ऐसी आशा करने वाले पाठकों को वर्मा जी ने निराश नहीं किया और अपने परिश्रम और प्रतिभा के बल पर हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास में अपना अद्वितीय स्थान बना लिया।

अन्तर्मन के प्रश्नों का अधूरा रोज़नामचा[1]

●

शालिग्राम मिश्र

कथा-वस्तु की उत्कृष्टता ही उपन्यास की उत्कृष्टता का आधार मानी जाती है। परन्तु जैनेन्द्र जी का बहुचर्चित उपन्यास 'सुनीता' इस मान्यता का अपवाद प्रतीत होता है। इसकी कथा-वस्तु किसी अर्थ में उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती। स्वयं जैनेन्द्र जी ने स्वीकार किया है कि "कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है।" फिर भी उनका उपन्यास हिन्दी कथा-साहित्य का एक 'क्लैसिक' बन चुका है।

'सुनीता' में केवल चार व्यक्तियों की परस्पर स्नेह-भावना का वर्णन किया गया है। इनमें एक स्वयं सुनीता है, जो पत्नी होने के साथ-साथ नारी भी है। एक सत्या है, जिसका नारीत्व उभर कर ऊपर आने लगा है। तीसरा हरिप्रसन्न है, जिसके मस्तिष्क में आदि से अन्त तक श्रेय और प्रेय के बीच भयानक संघर्ष चलता रहता है और जिसका आदर्श अन्त में उसके 'पुरुषत्व' को दबा देता है। और चौथा सुनीता का पति श्रीकान्त है, जो सुनीता की पहेली हल करने के प्रयास में स्वयं एक पहेली बन जाता है। उपन्यास की कथा-वस्तु भले ही गौण अथवा सामान्य हो, परन्तु उसके ये चारों पात्र सामान्य नहीं हैं। ये सभी या तो असामान्य हैं या अति-सामान्य। इसी कारण इनकी प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया एक नये प्रश्न-चिह्न को जन्म देती है, और ये प्रश्न-चिह्न ही उपन्यास को उसकी उत्कृष्टता प्रदान करते हैं।

'सुनीता', वास्तव में, शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'हैम्लेट' के समान, एक प्रश्न-प्रधान कृति है। अन्तर केवल इतना है कि 'हैम्लेट' में केवल एक पात्र प्रश्न-चिह्नों को जन्म देता है, शेष सब सीधे तथा सुस्पष्ट हैं और राजकुमार के चरित्र को समझने में सहायता करते हैं। इसके विपरीत 'सुनीता' का प्रत्येक पात्र एक समस्या है, प्रत्येक प्रश्न-चिह्नों को जन्म देता है और अन्य पात्रों को अधिक जटिल बनाता है। एक, पाठकों की दृष्टि से सुविधाजनक, अन्तर और भी है। मनोविज्ञान-शास्त्र के अभाव में तथा अपने माध्यम की सीमाओं के कारण शेक्सपियर के लिए हैम्लेट के चरित्र की व्याख्या करना सम्भव नहीं था। अतएव उसने प्रश्न-चिह्न बना कर छोड़

---

१. सुनीता : जैनेन्द्र

दिये, उनके उत्तर समीक्षको की खोज के विषय आज भी बने हैं। परन्तु फ्रायड-युग के उपन्यासकार जैनेन्द्र जी के समक्ष ऐसी कोई कठिनाई नही थी। अतएव उन्होंने अपने उपन्यास मे स्थल-स्थल पर अनेक ऐसे सकेत दिये हैं जिनसे उनके चरित्रो को समझने मे सहायता मिलती है। एक स्थान पर उन्होंने समस्या के मूल की विस्तृत विवेचना भी की है जिससे पात्रो तथा घटनाओ पर पर्याप्त प्रकाश पडता है।

जैनेन्द्र जी के शब्दो मे : "नाना सज्ञाओं, विशेषणो और विविध सर्वनामों के सहारे जो मनुष्य-जाति अपना काम चलाती हुई जी रही है, प्रथमतः वह द्विविध है—स्त्री और पुरुष। कुटुम्ब-परिवार पीछे आते हैं, नाते-रिश्ते, नाम-गोत्र, मत-पथ, वर्ण-सम्प्रदाय, सब पीछे आते हैं। यह हमको भूलना नहीं है कि जो सुनीता है, वह सुनीता ही है, और हरिप्रसन्न हरिप्रसन्न है। पर यह भी नही भूलना है कि सुनीता नाम के तले सगृहीत व्यक्तित्व के भीतर वह मात्र और प्रकृत स्त्री है, उसी भाँति दूसरा भी अपने नाम की अभिधा ओढ कर बस पुरुष है।"

और भी : "हम कहते हैं पति और पत्नी, प्रेमी और प्रेयसी, माता और पुत्र, बहिन और भाई। वह सब ठीक है। वे तो स्त्री-पुरुष के मध्य परस्पर योगायोग के मार्ग से बने नाना सम्बन्धों के लिए हमारे नियोजित नामकरण हैं। किन्तु सर्वत्र कुछ बात तो सम-भाव से व्यापी है। सब जगह स्त्री-पुरुष इन दोनो में परस्पर दीखता है आशिक समर्पण, आशिक स्पर्धा। सब कहीं एक दूसरे के प्रति इतना उन्मुख है कि वह उसको अपने भीतर समा लेना चाहता है। सब नातों के बीच मे, और इन सब नातों के पार भी, यही है। एक में दूसरे पर विजय की भूख है, किन्तु एक को दूसरे के हाथों पराजय की भी चाहना है ही। एक दूसरे को जीतेगा भी, किन्तु उसके लिए मिटेगा भी कैसे नहीं? दोनों में परस्पर होड है, उतनी ही तीव्र जितनी दोनों में परस्पर के लिए उत्सर्ग होने की काक्षा। वे दोनों परस्पर विरोधी भाव स्त्री-पुरुष के बीच समतोल हैं। समतोल इसलिए नहीं कि वे बँटे हुए हैं, प्रत्युत इसलिए कि वे दोनो ही वहाँ अपनी-अपनी पूर्णता मे हैं।"

एक छोटा-सा उद्धरण और : "सुनीता स्त्री है, हरिप्रसन्न पुरुष है। उन नामो के बहुत नीचे जाकर उन दोनों मे एक केवल स्त्री रह जाती है, दूसरा पुरुष रह जाता है। अपने चलन-व्यवहार में चलने वाले नाते-रिश्ते और नाम-ग्राम असत्य वस्तु नहीं हैं, पर प्राणी के प्राणो में बहुत गहरे जाकर मानों वे सब कुछ ऊपर सतह पर ही छूट जाते हैं।"

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के दो व्यक्तित्व होते हैं—एक मूलभूत, और दूसरा आरोपित। मूलभूत व्यक्तित्व के केवल दो वर्ग हैं—स्त्री और पुरुष। आरोपित व्यक्तित्व समाज की व्यवस्था में जन्म लेता और विकास प्राप्त करता है, और उसके अनेक वर्ग होते हैं। मानव-जीवन का संघर्ष मूलतः इन दो व्यक्तित्वों का सघर्ष है। जहाँ इनमें सामंजस्य नहीं हो पाता, जब कहीं इन दोनों में असतुलन हो जाता है,

वहीं विषमताएँ जन्म लेती हैं और समस्याएँ सामने आती हैं। सुनीता प्रकृत स्त्री है। सत्या भी प्रकृत स्त्री है, यद्यपि उसका स्त्रीत्व अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुआ है। इसी प्रकार हरिप्रसन्न प्रकृत पुरुष है। इन तीनों की समस्याओं के मूल में उनके प्रकृत व्यक्तित्व निहित है। परन्तु श्री कान्त की समस्या यह है कि वह पूर्णतया पुरुष नहीं है। वह नियम के अपवाद के रूप में हमारे सामने आता है, इसीलिए उसका चरित्र उपन्यास की सबसे बड़ी समस्या है। सुनीता सुनीता भी है और प्रकृत स्त्री भी, पत्नी भी है और प्रेयसी भी, इसलिए वह एक समस्या है। हरिप्रसन्न हरिप्रसन्न भी है और प्रकृत पुरुष भी, देशभक्त भी है और प्रणयाकांक्षी भी। इसलिए उसके भीतर संघर्ष है, और वह एक समस्या है। परन्तु श्रीकान्त के भीतर कहीं संघर्ष नहीं है। वह पति भी नहीं है और पुरुष भी नहीं है, और सब कुछ है। इसलिए उसका चरित्र एक समस्या है।

उपर्युक्त उद्धरणों में अभिव्यक्त जैनेन्द्र जी की व्याख्या के अनुसार प्रकृत स्त्री तथा प्रकृत पुरुष का परस्पर आकर्षण उनके प्रकृत सम्बन्ध का आधार है। दोनों एक दूसरे के प्रति सहज उन्मुख होते हैं, दोनों एक दूसरे को अपने भीतर समा लेना चाहते हैं। उनका यह सम्बन्ध आंशिक समर्पण तथा आंशिक स्पर्धा में व्यक्त होता है। दोनों ओर विजय की कामना के साथ उत्सर्ग की भावना भी होती है। सुनीता हरिप्रसन्न पर विजय पाना चाहती है, फिर भी समर्पित हो जाती है। हरिप्रसन्न सुनीता पर समर्पित होना चाहता है, परन्तु विजय की आकांक्षा बार-बार उसे पीछे खींच लेती है। परन्तु श्रीकान्त क्या चाहता है? सुनीता पर विजय? पत्नी के नीचे छिपी प्रेयसी को, सुनीता के नीचे बहुत गहरे बैठी प्रकृत स्त्री को पाना? जो भी हो, उसका समर्पण अद्भुत है।

'सुनीता' वास्तव में एक प्रश्न-प्रधान कलाकृति है। उसे पढ़ते-पढ़ते स्थल-स्थल पर अनेक प्रश्न हमारे सामने आते हैं। अमुक ने ऐसा क्यों कहा? अमुक ने ऐसा क्यों किया? अमुक ने ऐसा क्यों नहीं कहा अथवा किया? यदि ऐसा होता तो क्या होता? यदि ऐसा न होता तो क्या होता? ये प्रश्न पाठक को इतना उलझा लेते हैं कि घटना-क्रम के प्रति उसकी उत्सुकता भी किसी सीमा तक दब जाती है। परन्तु इन सारे प्रश्नों के मूल में वस्तुतः केवल तीन समस्याएँ हैं—

(अ) श्रीकान्त क्यों हरिप्रसन्न को अपने यहाँ बुला कर उसे सुनीता की ओर, तथा सुनीता को उसकी ओर उन्मुख करने की प्रत्येक सम्भव स्थिति प्रदान करता है?

(आ) सुनीता—श्रीकान्त की पत्नी—क्यों हरिप्रसन्न की ओर झुकती है, क्यों उससे दूर जाने का अभिनय करती है, क्यों आत्म-समर्पण के लिए प्रस्तुत हो जाती है, और क्यों अन्त में उसके चरण स्पर्श कर लेती है?

(इ) हरिप्रसन्न क्यों पहले सुनीता की ओर झुकता है, और फिर उसे प्रवृत्त पाकर भी विमुख हो जाता है ?

ये मूल प्रश्न हैं। यदि इनका समाधान हो जाय तो इन्हीं से सम्बन्धित अन्य अनेक प्रश्न चिह्न स्वतः विलीन हो सकते हैं। परन्तु ये प्रश्न जटिल भी हैं। इनका सुनिश्चित, सर्व-सम्मत समाधान अत्यन्त कठिन है। हां, व्याख्या अवश्य की जा सकती है।

श्रीकान्त खुले मन, पुष्ट देह, सम्पन्न परिस्थिति, सुन्दर वर्ण और धार्मिक वृत्ति का एक युवक है जो पक्की सडक चलते-चलते गृहस्थ वकील बन गया है। वह आधा मन देना नही जानता। अपने सहपाठी-मित्र हरिप्रसन्न को उसने पूरा मन दिया है, पत्नी सुनीता को भी पूरा मन देना चाहता है। ससार मे केवल इन्ही दो व्यक्तियो को उसने हृदय मे चाहा है, और ये ही दोनो उसके जीवन की सर्वाधिक जटिल समस्याएँ बन गये हैं। हरिप्रसन्न को वह सफल बनाना चाहता है, और सुनीता को सुखी। हरिप्रसन्न मे उसने प्रतिभा देखी है, और इसलिए चाहता है कि वह जीवन मे कुछ प्रयोजन सम्पन्न करने के लिए आगे बढे, कोई 'आइडिया' दे, और यह 'आइडिया' समाज मे उगता हुआ और फलता हुआ दीखे। परन्तु हरिप्रसन्न एक *क्रान्तिकारी बन गया है, उसने जन्मभूमि के चरणो मे अपने को और अपनी प्रतिभा* को अर्पित कर दिया है। हरिप्रसन्न का यह आत्म-त्याग श्रीकान्त की समझ मे नही आता। वह चाहता है कि कलाकार भटकता न रहे, उद्भ्रान्त न रहे, किसी प्रयोजन मे नियोजित कर दिया जाए जिससे वह एक बडी शक्ति बन सके। सुनीता के प्रति कहे गये उसके अपने शब्दो मे, "उसको मार्ग देने के लिए हम झुक भी जायें, टूट भी जायें, तो हर्ज नही है।"

सुनीता भी उसके लिए एक समस्या है। वह सुनीता का पति है, और अनेक अर्थों मे एक आदर्श पति है। परन्तु उसका दाम्पत्य जीवन पूर्ण नही। उसमे कहीं विरोध नही है, कही कटुता नही है, फिर भी वह भावात्मक दृष्टि से पूर्णतया संतोष-जनक नही है। उसके विवाह को अभी केवल तीन वर्ष हुए हैं। उसकी पत्नी सुन्दरी है, सुशीला है, पतिपरायणा है। परन्तु उसके घर में अलसता और जडता छाती जा रही है। *पति-पत्नी दोनों अपने-अपने मे बद अलग रहते हैं। सुनीता हिन्दू पत्नीत्व के* आदर्शों का पालन अवश्य कर रही है, परन्तु पति के साथ उसका भावनात्मक लगाव नहीं है। पति के सामने वह फूल-सी नही खिल पाती है। वह कुंठित-सी रहती है, *उसका विकास, उसके व्यक्तित्व का विकास-विस्तार रुक सा गया प्रतीत होता है।* श्रीकान्त को इस पार्थक्य की गहरी अनुभूति है। वह आरम्भ मे ही हरिप्रसन्न को लिखता है—"मैं वकालत करता हूँ, और वह बेचारी भी कुछ साथ देती रही है। लेकिन हम दोनो में कुछ आन्तरिक मेल नही। मैं उसे रिझा नही सकता दीखता।" और लगभग इसी समय वह सीधे सुनीता से भी पूछता है, "पर कचहरी जाने मे देर हो जाए, यह इच्छा करके भी मैं तुम्हे कभी पा सकता हूँ या नही ?"

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी स्थिति में श्रीकान्त को क्या करना चाहिए ? सामान्य व्यक्ति के लिए इस स्थिति में कुछ नया नहीं है। वह सम्भवतः उसमें निहित विषमता की ओर ध्यान भी नहीं देता। परन्तु श्रीकान्त इस अर्थ में सामान्य नहीं है। वह पूरा हृदय देना चाहता है, और पूरा हृदय पाना चाहता है। अतएव पक्की सड़क पर चलने का अभ्यस्त यह पुरुष असाधारण साहस करके जीवन के गहरे समुद्र में फांद पड़ता है। वह सुनीता के माध्यम में हरिप्रसन्न को सही मार्ग पर लाने का, और हरिप्रसन्न के माध्यम से सुनीता को पाने का, महत् प्रयास करता है। दोनों ही उसे प्रिय हैं। वह दोनों का विकास चाहता है, दोनों को पूर्ण होने, अपना जीवन सार्थक बनाते देखना चाहता है। दोनों के लिए वह भारी त्याग कर सकता है, और करता है। वह सुनीता के मन में हरिप्रसन्न के प्रति जिज्ञासा के भाव भरता है, हरिप्रसन्न तथा सुनीता को निकट लाने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करता है, और अवसर आने पर अपने आप को कुछ समय के लिए उनके बीच से हटा लेता है। अन्त में उसे अपने उद्देश्य में आंशिक सफलता भी मिलती है। हरिप्रसन्न को तो वह अपनी धारणा के अनुसार नहीं सुधार पाता। परन्तु सुनीता को पा लेता है। कम में कम लगना ऐसा ही है।

सुनीता की समस्या भी इससे कम जटिल नहीं है। परन्तु वह दूसरे प्रकार की है। उसके पीछे कोई सुनिश्चित उद्देश्य नहीं है। वह जीवन के अनन्त सागर में डूब कर कोई मोती खोजने का प्रयत्न नहीं करती, केवल उसकी उद्दाम लहरों के साथ बहती रहती है। उसके प्रकृत नारीत्व की एक उत्ताल लहर उसे तट पर से खींच ले जाती है, और अन्त में न जाने कहां-कहां घुमाकर फिर सामाजिकता की उसी ठोस आधार-भूमि पर छोड़ जाती है। सुनीता उसके प्रति विद्रोह नहीं करती, केवल बहती रहती है, निर्लिप्त-निर्विकार भाव से बहती रहती है, मानो वह स्वयं एक प्रयोजन मात्र हो, मानो वह एक युद्धस्थल मात्र हो जहां प्रकृत और आरोपित संघर्षरत हैं।

वह उच्चशिक्षिता है, सुन्दरी है, और युवती है। साहित्य तथा संगीत में उसकी अच्छी पैठ है। संक्षेप में, वह "विरलों में विरल" है। उसके विवाह को तीन वर्ष हो चुके हैं, परन्तु परिवार-नियोजन के युग से पूर्व की यह नारी अभी तक निस्सन्तान है। उसका नारीत्व अभी सार्थक नहीं हुआ है, उसका मातृत्व अभी अपरिपूर्ण है। सम्भवतः इसीलिए वह अपने वर्तमान से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं है। "पानी बहते-बहते कहीं बंध गया है" और उसका जीवन कुंठित हो गया है। वह अपने चारों ओर फैले निरानंद को देखती है, समझती है, और यह भी जानती है कि वह जीवन के किवाड़-खिड़कियां खोल देने पर ही दूर हो सकता है। उसके जीवन में घुटन है, उसे खुले पवन की आवश्यकता है।

इस स्थिति में हरिप्रसन्न उसके जीवन में प्रवेश करता है। आरम्भ में वह हरिप्रसन्न के प्रति एक प्रकार का कौतूहल रखते हुए भी उसे कुछ सनकी समझती है। फिर धीरे-धीरे वह उसके लिए एक खिलौना, एक गोरखधंधा बन जाता है। इस

प्रकार प्रथम भेंट के समय हरि उसके सामने एक पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति के रूप में नहीं आता। भेंट होने के पश्चात् आकर्षण शीघ्रता से बढ़ता है, जैसे उर्वर भूमि में बोया गया बीज शीघ्रता से उगता तथा पनपता है। वह हरि की विचित्रता से खिंचती है, और उसके दाम्पत्य जीवन का नीरस वातावरण तथा श्रीकान्त का आग्रह इसमें सहायक होते हैं। हरि में यदि ऐसा कुछ है जो श्रीकान्त में सुनीता ने कभी नहीं पाया तो सुनीता में भी कुछ ऐसा है जो हरि के लिए सर्वथा नवीन तथा सुखद है। परिणामतः वह भी सुनीता की ओर खिंचता है, और शीघ्र ही हरिप्रसन्न हरिप्रसन्न नहीं रह जाता, और सुनीता सुनीता नहीं रह जाती। दोनों के आवरण हट जाते हैं। एक के भीतर का शाश्वत पुरुष उभरता है, एक के भीतर की प्रकृत नारी उभर कर ऊपर आ जाती है। दोनों के बीच स्पर्धा तथा समर्पण का चक्र चलने लगता है, जिसका मोहक चित्रण प्रस्तुत उपन्यास का विशेष आकर्षण है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि सुनीता कुछ ही दिनों में हरिप्रसन्न के साथ जितना घुल जाती है, जिस आत्मीयता, अधिकार-भावना और सलकोच के साथ उससे बोलने लगती है, उतना श्रीकान्त के साथ तीन वर्ष के वैवाहिक जीवन में भी सम्भव नहीं हो सका था।

सुनीता के चरित्र की एक और विशेषता भी ध्यान देने योग्य है। "उसके जी में बहुत है कि यह जो उसके बाहर दुनिया फैली है वह यह सब-कुछ देखे, सभी कुछ देख डाले। किन्तु पति के सम्बन्ध में पाती रही है कि कर्तव्यपरायणता और जीवन में यम-नियमादि पालन ही उनके लिए सब कुछ है, विश्व का चित्र-वैचित्र्य उनके लिए कुछ भी नहीं है। उस नारी के मन ने तो अभी तक कभी यह कहना छोड़ा नहीं कि विश्व भी दीखे। पर पति के अनुगमन में वह भी विश्व की ओर से मुँह फेरकर अन्तर्मुखी होने की महत्ता पर चित्त लगाती रही है।" ऐसी स्त्री के लिए हरि जैसे पुरुष का आकर्षण स्वाभाविक है।

यही आकर्षण विकसित होकर सुनीता के भयानक अन्तर्द्वन्द्व का कारण बन जाता है। वह एक सुसंस्कृत, जागरूक नारी है। वह समझती है कि वह एक पुरुष की पत्नी है और पत्नीत्व की मर्यादाओं का निर्वाह करना उसका कर्तव्य है। इसीलिए वह प्रारम्भ में ही सत्या को अपनी ढाल बनाकर बीच में ले आती है और हरिप्रसन्न के साथ उसके विवाह की योजना बनाने लगती है। परन्तु उसके भीतर की प्रकृत नारी इन मर्यादाओं में बँधकर नहीं रहना चाहती। वह बार-बार विद्रोह कर उठती है। हरि का संकोच, उसका पलायन, सुनीता के नारीत्व को चुनौती से देते प्रतीत होते हैं। उसका मन विजय की आकांक्षा से भर जाता है और वह हरि की तपस्या भंग करने के लिए कटिबद्ध मेनका बन जाती है। अपने स्त्रीत्व से लाचार वह सोचती है, "क्या स्त्री इसलिए है कि पुरुष को अपने से निरपेक्ष रहने दे और महाप्रकृति हो वन्ध्या ?"

अपने इस अभियान में सुनीता नारीत्व के प्रत्येक अस्त्र का प्रयोग करती है। वह अधिकार-भावना का प्रदर्शन करती है, मान करती है, निमंत्रण के संकेत प्रसारित

करती है, दूर जाने का अभिनय करती है, और बहुत निकट आकर "पकड़ में आने के लिए खुली" खड़ी हो जाती है। परन्तु हरिप्रसन्न की ओर से उसे अपेक्षित प्रतिदान नहीं मिल पाता। वह सुनीता की ओर खिंचकर भी, उसके बहुत निकट पहुँचकर भी, बार-बार संकोच में बँध जाता है और आदर्श की शरण खोजने लगता है। इसे अपनी पराजय मानकर सुनीता अत्यधिक आर्त्त और कातर हो जाती है, परन्तु उसका नारीत्व अभी पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं है। यहाँ आकर उसका अन्तर्द्वन्द्व प्रबलतम हो जाता है। एक ओर वह कहती है—"मेरा विश्वास मुझे देते जाओ। वह मुझमें से खिसका जा रहा है। क्या विवाह लौकिक नीति ही है? क्या वह धर्म भी नहीं है?" दूसरी ओर उसका नारीत्व हरिप्रसन्न को चुनौती देते हुए कहता है, "देखो, तुम भागते हो तो भागो। लेकिन अपने से कहाँ भागोगे? कुछ और तुम्हें नहीं रोक सकता, यह ठीक है। किन्तु स्वयं तुम अपने को नहीं रोक सकोगे, क्या यह भी ठीक नहीं है?"

श्रीकान्त के बाहर चले जाने पर अपने आप को हरिप्रसन्न के साथ अकेली पाकर उसके भीतर का यह संघर्ष भयानक रूप धारण कर लेता है। पत्नीत्व के, सामाजिक मान-मर्यादा के संस्कार एक ओर खींचते हैं, और उसका प्रकृत नारीत्व, उसकी विजय-कामना, उसकी पूर्णता की भूख, दूसरी ओर खींचती है। और अन्त में नारीत्व की विजय होती है। हरिप्रसन्न के साथ अपने आप को वन के एकान्त में पाकर वह अपना आखिरी दाँव लगा देती है, और आत्म-समर्पण के लिए प्रस्तुत उससे कहती है—"तुम्हें काहे की झिझक है, बोलो। मैंने कभी मना किया है? तुम मरो क्यों? मैं तो तुम्हारे सामने हूँ। इंकार कब करती हूँ?······तुम चाहते हो तो मुझे ले लो।" परन्तु हरि चाहते हुए भी उसे ले नहीं पाता है, और उसका आखिरी दाँव भी खाली चला जाता है। वह संकोच के नीचे दबे तथा आदर्श के पीछे सुरक्षित हरि के प्रकृत पुरुष को पूर्णतया अपनी ओर उन्मुख नहीं कर पाती।

परन्तु सुनीता का सन्तुलन भी उसके साहस के समान ही प्रशंसनीय है। वह पराजय के भार से दबकर कुचल नहीं जाती। वह पराजय में भी "अरी ओ छलनामयी! अरी ओ तू!" बनी रहती है, उसे निस्संकोच स्वीकार करके हरि के चरणों की रज ले लेती है, और इसके तुरन्त बाद पति के पक्ष से लगी कहती है, "अब मुझे छोड़कर तुम न जाना।"

हरिप्रसन्न के चरित्र में अपेक्षाकृत इतनी जटिलता नहीं है। उसकी समस्या किसी भी युवा पुरुष की समस्या हो सकती है। उसका अन्तर्द्वन्द्व भी असाधारण नहीं है। सहज आकर्षण और सहज संकोच का यह संघर्ष एक बार प्रत्येक युवा मस्तिष्क में होता है।

हरिप्रसन्न एक खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्राण युवक था। "वह कम बोलता था, कम मिलता था, और कुनन में अधिक खरा था।" धर्म उसके लिए तर्क का विषय नहीं था, नैतिकता के क्षेत्र, अर्थात् समाज, के साथ उसका कोई विशेष

सम्बन्ध नहीं था। उसने कलाकार की प्रतिभा थी, और कलाकार की आवारगी भी थी। श्रीकान्त ने इस प्रतिभा को पहचान लिया था। वह चाहता था कि हरि का कलाकार फले-फूले। परन्तु हरि देश-भक्ति के प्रवाह में पढ़ाई-लिखाई छोड़कर क्रान्तिकारी बन गया था। अंग्रेजी शासन तथा दमन के उस युग में क्रान्तिकारी होने का अर्थ था यायावर होना, आवारा होना, लुक-छिप कर योजनाएँ बनाना, लुक-छिप कर ही उन्हें कार्यान्वित करना, और फिर आखेट के पशु की भाँति प्राण लेकर इधर-उधर भागना। इस आवारगी में कलाकार का पनपना सम्भव नहीं था। श्रीकान्त इस कारण चिन्तित था। अतएव उसने सुनीता के माध्यम से हरि को सुनियोजित करने, तथा उसके माध्यम से सुनीता को पाने की अपनी योजना बनायी। इस प्रकार हरिप्रसन्न श्रीकान्त तथा सुनीता के जीवन में आया।

परन्तु एक बार इस जीवन में आकर फिर उसके लिए मुक्त होना बड़ा कठिन प्रतीत होने लगा। मोह-पाश में बँधकर वह कसमसाने लगा। सुनीता में उसने कुछ ऐसा देखा जो उसके लिए सर्वथा नया, और अत्यधिक काम्य था। उसके भीतर का पुरुष अँगड़ाई लेकर जाग उठा और तुष्टि के लिए छटपटाने लगा। परन्तु नारी के साथ पुरुष के प्रथम साक्षात्कार का जो अज्ञात-सा भय-मिश्रित संकोच स्वभावतः दोनों ओर होता है वह हरि के आड़े आया। उसने उदासीनता का आवरण ओढ़ लिया, मानो सुनीता से उसे कोई अपेक्षा ही न हो। परन्तु सुनीता के प्रहारों से उदासीनता की यह प्राचीर शीघ्र ही टूट गयी। हरिप्रसन्न का मन एक उद्दाम जिज्ञासा से भर गया और वह फिर सुनीता की ओर उन्मुख होने लगा। तब उसने पलायन का सहारा लिया। परिणाम इस बार भी वही हुआ। दूर रहकर भी वह अलग नहीं रह सका, और उसकी विवशता उसे फिर सुनीता के पास खींच लायी। अन्त में उसने आदर्श का आँचल पकड़ा। उसका संकोची हृदय यह स्वीकार नहीं कर पा रहा था कि सुनीता प्रेयसी बनकर उसके पास रहे। परन्तु सुनीता का पास रहना आवश्यक था। अतएव उसके मस्तिष्क ने सुनीता के लिए एक नयी भूमिका निर्धारित की। सुनीता कामिनी ही नहीं, दुर्गा भी थी, छलनामयी ही नहीं प्रेरणामयी भी थी। उसने प्रेरणा-स्रोत के रूप में सुनीता को अपने साथ दल की बैठक में ले जाने की योजना बनायी। परन्तु वन में पहुँचकर इस आत्म-प्रवंचना का आवरण भी हट गया, और क्षण भर के लिए वह पुरुष, मात्र प्रकृत पुरुष बन गया। परन्तु केवल क्षण भर के लिए, जैसे आकाश में बिजली चमकती है। तुरन्त ही भय की भावना ने उसके आवेश को दबा दिया, और संकोच ने उसे पलायन की ओर प्रवृत्त कर दिया। वह सुनीता के पास से हट गया, और उसके जीवन से निकलकर न जाने कहाँ चला गया।

परन्तु क्या यह वास्तव में उसकी विजय थी? यह कहना कठिन है। यदि विजय थी तो उसे इससे क्या उपलब्धि हुई? कौन-सी वैजयन्ती उसके हाथ लगी? उसने ऐसा क्या पा लिया जो श्रीकान्त को नहीं मिला? वास्तव में उसके इस पलायन के पीछे सजग नैतिकता की कोई धारणा नहीं थी। धर्म का निषेध भी नहीं था।

देश-सेवा की अनिवार्यता भी नहीं थी। वहाँ था केवल संकोच, प्रथम साक्षात्कार के समय एक अन्तर्मुखी युवा हृदय का सहज संकोच! यदि सुनीता उस समय उसकी एक उँगली भी पकड़ लेती तो सम्भवत. वह उसे छुड़ाकर कहीं भी न जा पाता।

प्रस्तुत प्रश्नों की उपर्युक्त विवेचना के पश्चात् यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 'सुनीता' में जीवन के एक अंग का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। जीवन ऐसा ही होता है। तूफान आता है और तरु-पल्लवों को झकझोर कर चला जाता है, और प्रकृति के कार्य-कलाप फिर पूर्ववत् चलने लगते हैं। परन्तु जो वृक्ष तूफान के साथ समझौता नहीं करता, उसके सामने कुछ क्षणों के लिए झुक नहीं जाता, वह टूट जाता है। 'सुनीता' के सभी पात्र समझौता करना जानते हैं। एक हरिप्रसन्न नहीं कर पाया। परन्तु उसका अपना अलग एक संसार था। उसी से निकलकर वह कुछ काल के लिए मंच पर आया था, लौटकर फिर उसी में चला गया। सुनीता ने जीवन से समझौता कर लिया, श्रीकान्त पहले ही कर चुका था। यही जीवन का यथार्थ स्वरूप है।

परन्तु यह जीवन का नैतिक स्वरूप नहीं है। हरिप्रसन्न अथवा सुनीता के आचरण का नैतिक औचित्य सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है। श्रीकान्त का आचरण भी पूर्णतया नैतिक नहीं कहा जा सकता। परन्तु इस संदर्भ में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्यक्ष रूप से नैतिकता की प्रतिष्ठा करना कलाकार का कार्य नहीं होता। वह जीवन को देखता है, उसकी व्याख्या करता है, और कला के माध्यम से अपने इस जीवन-दर्शन को प्रसारित करता है। नैतिकता की प्रकृति आदर्शवादी होती है, अतएव एक यथार्थवादी उपन्यासकार के लिए सदा उसकी रक्षा करना सम्भव नहीं होता। उसकी कला नैतिक नहीं होती। परन्तु वह अनैतिक भी नहीं होती। वह वस्तुत नैतिकता-निरपेक्ष होती है।

इसके अतिरिक्त, नैतिकता का एक व्यक्तिगत पक्ष भी होता है, जिसका 'सुनीता' में अभाव नहीं है। उसके पात्रों का आचरण लौकिक नैतिकता की दृष्टि से चाहे जैसा हो, परन्तु व्यक्तिगत रूप में प्रत्येक अपने प्रति, तथा एक-दूसरे के प्रति सच्चा है।

सामाजिक संचेतना की यथार्थवादी अभिव्यक्ति

●

सलिल गुप्त

'कंकाल' प्रसाद जी का प्रथम उपन्यास है जो सन् १६२६ मे प्रकाशित हुआ था। प्रसाद जी मूलत कवि थे। अस्तु प्रश्न यह उठता है, कि ऐसे कौन से कारण थे जिन्होने कवि प्रसाद को उपन्यास-क्षेत्र मे भी कलम चलाने को बाध्य कर दिया होगा? उत्तर स्पष्ट है। कवि जब भावुकता के सिन्धु में उतरकर सत्य के मोती खोजता है तब जीवन का कुरूप यथार्थ ही कंकड़ और घोघे के समान अधिक संचित होता है भावुक कवि उस भयानक और वीभत्स सत्य को देखकर गा उठता है "ले चलन मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे धीरे।" आखिर क्यों? यह पलायनवादी स्वर क्या जीवन से, समाज से, और संघर्ष से पलायन की ओर संकेत करता है? कदापि नही। वस्तुत. कवि यथार्थ को अनुभव करता है और पलायनवादी या निराशाजन्य स्वरो से उस शान्ति की ओर इगित करता है जिसे वह घुट-घुट कर जीता है इसके साथ ही अपनी कुण्ठाओं को अभिव्यक्ति देकर नये समाज की संरचना की ओर भी संकेत करता है। यह कविता की पृष्ठभूमि है। अत जहाँ, कवि की भावुकता बौद्धिकता मे परिणत हो जाती है वही उपन्यास का आधार लेकर वह यथार्थ की अभिव्यक्ति करने लगनी है। कविता जिसका संकेत मात्र देती है, उपन्यास उसी को स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त करता है। कविता और उपन्यास मे यही मूल अन्तर है, जिसने कवि प्रसाद को उपन्यासो पर भी कलम चलाने को बाध्य किया। प्रसाद जी ने यथार्थ की आत्मा को भली भाँति समझा है। "उस व्यापक दुख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता मे अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते है। वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थ साहित्य करता है।"

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारो मे प्रसाद जी का नाम, यथार्थवादी उपन्यासकारो के परिप्रेक्ष्य मे, अग्रगण्य है। प्रेमचन्द जी ने अनेक 'टाइप' पात्रो के माध्यम से जीवन को अभिव्यक्ति दी किन्तु प्रसाद और प्रेमचन्द जी के पात्रो में हमें बहुत अन्तर

१—कंकाल : जयशंकर प्रसाद

दिखलायी पड़ता है। प्रेमचन्द जी के पात्र जहाँ जीवन की कुरूपता आडम्बर अन्ध-विश्वास और पाप-पुण्य से भयभीत जीते है वहीं प्रसाद जी के पात्र अभिनव संचेतना से युक्त है और उनका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण रूढियो और मान्यताओ के विरुद्ध क्रान्ति की नवीन भूमि प्रस्तुत करता है उनके उपन्यासों के सभी पात्र जीवन को सही ढग से जीना चाहते हैं और सामाजिक परिवेश का एक बदला हुआ चित्र प्रस्तुत करते हैं। अस्तु प्रसाद जी ने समाज की तहो को खोलकर उसके यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत किया तथा उसके मूल को भी भली भाँति पहचानने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। केवल झूठे आदर्श की स्थापना करने का भार उन्होंने अपने कधो पर नहीं लादा।

"एक स्त्री पास ही मलिन वसन मे बैठी है। उसका घूँघट आँसुओ से भीग गया है और निराश्रय पड़ा है—एक ककाल।" यह ककाल विजय का है। उस विजय का जो समाज की कठोरता, जर्जरावस्था और धार्मिक पाखंड से पराजित हुआ। विजय का ककाल, विजय का नही, बल्कि उस समाज का प्रतीक है जिसके आदर्श खोखले हैं। कठोरता की अस्थियो के मध्य में सहज मानवीय पीड़ा और संवेदन का शून्य है। इस उपन्यास का नायक विजय वस्तुत खोखलेपन का प्रतीक है जो नाम-करण की सार्थकता की ओर भी इगित करता है। यह खोखलापन समाज की चिर-प्रचलित रूढियों के नीचे छिपी पाशव वृत्ति है। जो आदर्शों के झूठे आवरण के अन्दर धीरे धीरे सडा करती है, जिसकी बदबू व्यक्ति की स्वच्छन्दता के लिये मृत्यु के समान घातक है।

तो क्या विजय की मृत्यु विद्रोही स्वरों की पराजय है ? वस्तुत नही, क्योकि उसके कुचले जाने पर भी, एक ध्वनि निरंतर गूँजती रहती है कि समाज की ये रूढियाँ और अधविश्वास, जिसने व्यक्ति को कसकर जकड रखा है, विकास मार्ग के लिये अवरोध हैं यथार्थ के लिए वीभत्स हैं। तभी तो तारा (यमुना) की अंतश्चेतना मे भी चिन्तन का यही ज्वार निरन्तर हिलोरें लेता रहता है। "भीतर जो पुण्य के नाम पर धर्म के नाम पर, गुलछर्रे उडा रहे हैं, उसमे वास्तविक मूल्यो का कितना भाग है, यह पत्तलो के लूटने का दृश्य बता रहा है। भगवान तुम अन्तर्यामी हो।"

इस उपन्यास मे प्रसाद जी ने समाज को पूरी तरह नग्न कर दिया है। उसके एक एक आवरण को उघाड कर उस सत्य को दिखाया है जिसमे हमारा समाज घुट-घुट कर जीता है। और मानवगत स्वाभाविक आकाक्षाएँ सिसक-सिसक कर दम तोडती हैं। समस्त उपन्यास मे यद्यपि जीवन से पूर्ण साक्षात्कार तो नही है किन्तु धार्मिक आवरण मे समाज के अनेक खोखले आदर्शों से साक्षात्कार अवश्य है जिसके माध्यम से, सामाजिक कुरीतियाँ, अन्ध-विश्वास और तत्सम्बन्धी अनेक आडम्बरों का स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण होता है। विशेषकर पाप और पुण्य की व्याख्या करने वाले धर्म के उन अगों का स्पर्श है जिन्हें हम पुण्य की परिभाषा देते हैं, किन्तु छूने पर पाप का असह-नीय ताप हाथों को जलाने लगता है और आस्था घृणा मे परिवर्तित होकर दूर भागने लगती है अथवा विद्रोह बनकर उसे शीतल कर देना चाहती है।

निरंजन और पादरी ब्राथम के चरित्र इस उपन्यास में धार्मिक आडम्बर और मिथ्या विश्वास के चोगे में ढके कुलबुलाते कीड़े हैं। प्रारम्भ में जब निरंजन का व्यक्तित्व पाठक के समक्ष आता है तो पाठक की श्रद्धा जाग्रत हो उठती है। उसका दिव्य व्यक्तित्व मानव-कल्याण के लिए वरदान स्वरूप दिखलायी देता है परन्तु किशोरी का परिचय और अतीत की स्मृतियाँ उसके ओढ़े हुए आडम्बर को हिला कर रख देती हैं—

"जगत तो मिथ्या है ही, जिसके जितने कर्म हैं, वे भी माया हैं। प्रमाता जीव भी प्राकृत है क्योंकि वह भी अपरा प्रकृति है। जब विश्वमात्र प्रकृति है तो इसमें अलौकिक अध्यात्म कहाँ ? यही खेल यदि जगत बनाने वाले का है तो मुझे भी खेलना चाहिए।"

संयम की दीवार चरमरा कर बैठ जाती है। अध्यात्म की आकृतिहीन रेखाओं का त्रिकोण जोड़ों से टूटकर विशृंखलित हो जाता है। निरंजन का दिव्य व्यक्तित्व मानवीकरण के साँचे में ढल जाता है। किशोरी का समर्पण उसका जीवन बन जाता है मानव की स्वाभाविक प्रकृति। जब मनुष्य जीवन के यथार्थ को निस्पृह होकर स्वीकार कर लेता है तब पाप-पुण्य की लक्ष्मण रेखा निरर्थक सिद्ध हो जाती है। वह जीवन को जीने लगता है, भोगने लगता है। मनुष्य की खींची हुई सारी सीमाएँ व अध्यात्मवादी धारणाएँ उसकी स्वाभाविक मनोवृत्तियों के वेग से खंडित हो जाती है लेकिन इस स्वाभाविक मनोवृत्तियों की स्वच्छन्दता का अन्त पाशव प्रवृत्ति में जाकर होता है। निरंजन के प्रेम का मधुर आकर्षण शनैः-शनैः विधवा रामा की ओर बढ़ता हुआ पशुता पर उतर आता है। प्रेम की स्वप्निल अनुभूति वासना मात्र बनकर रह जाती है।

निरंजन और किशोरी के संयोग में मनुष्य का मनोवैज्ञानिक चिंतन भी इस सम्मिलन के माध्यम से बड़े ही सहज ढंग से व्यक्त हुआ है। साहचर्य से मनुष्य की अतीत की स्मृतियाँ जगमगाने लगती हैं। उसकी दमित आकांक्षाएँ ज्वालामुखी के समान विस्फोट कर देती हैं। संयम का ओढ़ा हुआ देवत्व उसकी मनुष्यता बनकर ललकारने लगता है। यही कारण है कि निरंजन अपने देवत्व के कौपीन को उतार फेंकता है और किशोरी को समर्पण को निश्छल भाव से स्वीकार करता है। भागना चाहकर भी वह अचेतन की दमित कामनाओं से भाग नहीं पाता है स्वीकार करता है, मजबूर होकर स्वीकार करता है। "यही खेल यदि जगत् बनाने वाले का है तो मुझे भी खेलना चाहिए।"

अवैध यौन सम्बन्ध इस उपन्यास की प्रमुख समस्या है। इन अवैध यौन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप जारज पुत्रों की एक अच्छी खासी भीड़ हमें उपन्यास के अन्दर दिखलायी पड़ती है। श्रीचन्द की वास्तविक धर्मपत्नी किशोरी है जो अपने बाल-सहचर निरंजन स्वामी से पहले पुत्रैषणा की तृप्ति हेतु अवैध सम्बन्ध स्थापित

करती है किन्तु यौन तृप्ति का अपार आनन्द पाकर वह अनवरत निरंजन स्वामी के साथ रहने लगती है। इन दोनों के अवैध सम्बन्धों से जारज पुत्र विजय का जन्म होता है। इसके साथ ही सबसे विचित्र बात तो यह है कि विजय के जीवित रहते किशोरी यमुना के पुत्र को दत्तक रूप में स्वीकार कर लेती है साथ ही अपने पति का त्याग भी कर देती है। किशोरी का पति श्रीचन्द यह जानते हुए भी कि किशोरी और निरंजन दोनों का आपस में अवैध सम्बन्ध है, चुप रहता है तथा किशोरी का भरण पोषण भी निरन्तर आर्थिक सहायता देकर करता है। इसके मूल में छिपी है चन्दा नामक विधवा की अपार सम्पत्ति और उससे अवैध सम्बन्ध। चन्दा के धन को प्राप्त करने के लिए किशोरी से श्रीचन्द यह प्रस्ताव भी रखता है, कि विजय का विवाह चन्दा की कन्या से कर दिया जाय। कैसी विडम्बना है और कितना घृणित स्वरूप है। गुरु निरंजन जो पहले एक दिव्य आत्मा के रूप में पाठकों के सामने आता है, अपनी बाल-सहचरी किशोरी को आत्म समर्पण कर देता है। यहाँ तक कि सन्यासी जीवन को त्याग कर गृहस्थ जीवन को भी स्वीकार कर लेता है। यमुना, जो पहले तारा थी वह भी जारज-सतान है और रामा नामक विधवा की पुत्री है। यमुना का चरित्र इस उपन्यास का सबसे उज्ज्वल चरित्र है और पाठक की संवेदना उसके साथ जुड़ जाती है। यमुना जीवन का आदर्शवादी स्वरूप है और नारी की त्यागमयी मूर्ति। मंगल, जो कि सरला का पुत्र है, और जारज सतान है, यमुना को वेश्यागृह से बचाकर निकाल लाता है। यमुना उसे पाकर विभोर हो उठती है और अपने जीवन में एक नया संचार पाती है। वह अपने को मगल के चरणों में समर्पित कर देती है परन्तु वेश्या को वेश्यालय से निकाल कर गृहिणी बनाने वाला साहसी मंगल कायरों की तरह विवाह के दिन उसे छोड़कर भाग जाता है। यमुना सम्पूर्ण जीवन में तपकर भी पातिव्रत धर्म का पालन करती है और मगल के अवैध पुत्र को जन्म देकर ससार की विषमताओं को आँसुओं के घूँट के रूप में पीती रहती है परन्तु मगल प्रेम में धोखा देता है बेचारी यमुना को और अन्त में विवाह करता है मुसलमान डाकू गूजर की पुत्री गाला से। पादरी बाथम जोकि सरला का अवैध पति है धार्मिक आडम्बरों के भीतर छिपा एक भयानक भेड़िया है। विजय और घण्टी को आश्रय देकर, वह घण्टी के यौन-रस को चखना चाहता है। विजय जब ताँगे वाले की हत्या करके भाग जाता है और भिखारी बन जाता है तब पादरी बाथम अपनी अतृप्त वासना की पूर्ति घण्टी से करना चाहता है। जबकि लता का चरित्र वह पहले ही भ्रष्ट कर चुका है। इस प्रकार अवैध यौन-सम्बन्धों और जारज पुत्रों की भीड़ इस उपन्यास की आत्मा बनकर सर्वत्र विद्यमान है।

इन अवैध यौन सम्बन्धों और जारज पुत्रों का जो जाल प्रसाद जी ने बिछाया है और उलझाव पैदा किये हैं, वे निरर्थक नहीं हैं। यौन भाव की अतृप्ति मानव-मनोवृत्ति की स्वाभाविक माँग है जिसे समाज के कठोर नियम अपनी शृंखला से जकड़े रहते हैं। विधवा-विवाह के न होने से विधवाएँ हमारे सामने समाज का कलंक

बनकर आती हैं। विधवा स्त्रियाँ हमारे समाज के लिये समस्या हैं जिसकी ओर प्रसाद जी ने संकेत किया है। चन्दा और रामा अपने पतियों के देहावसान के पश्चात् अपनी यौन प्रवृत्ति की तृप्ति हेतु ही श्रीचन्द और गुरु निरंजन से अवैध सम्बन्ध स्थापित करती है। श्रीचन्द और किशोरी का विवाह अनेक विवाह परम्परा की ओर संकेत करता है। अनमेल विवाह के परिणाम स्वरूप सामाजिक विशृंखलता स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है जिसका स्पष्ट उदाहरण है विजय। बाल-विवाह की समस्या को प्रसाद जी ने घण्टी के माध्यम से प्रस्तुत किया है। घण्टी के बाल-विधवा हो जाने पर यौन तृप्ति की स्वाभाविक माँग उसे स्वच्छन्दतावादी विचारों की ओर खींचती है और इसीलिये वह सामाजिक आडम्बरों को छोड़कर जीने के लिये रचमात्र भी तैयार नहीं होती। घण्टी सामाजिक मर्यादाओं और मान्यताओं को खुले-आम अस्वीकार करती है, उन पर ठोकर मारती है और उपहास करती है। इस प्रकार अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह और बाल-विवाह तथा समाज द्वारा प्रेम सम्बन्धों की अस्वीकृति ही अवैध-यौन-सम्बन्धों और जारज पुत्रों के लिये उत्तरदायी है। यौन की भूख मानव की स्वाभाविक मनोवृत्ति है जिसे समाज अपने कठोरतम बन्धनों से बाँधकर भी रोक नहीं सकता। यही इन समस्याओं के मूल में है।

परन्तु इन अवैध यौन सम्बन्धों से जहाँ एक ओर समाज टूटता है वहीं दूसरी ओर आदमी भी टूटता है। जीवन का समस्त सौख्य केवल यौन-तृप्ति में ही नहीं होता। इसके परे भी कुछ है और वह है आत्मिक शांति। यौन-तृप्ति और धन का अपार भण्डार मनुष्य को आत्मिक सुख और शांति नहीं दे सकते। कठिन परिस्थितियों, मुसीबतों और संघर्षों में उलझा आदमी भी आत्मिक सुख का अनुभव कर सकता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सौंदर्य के रनिवास में रहकर और सम्पत्ति के शिखर पर बैठ कर भी वह आत्मिक सुख का अनुभव कर सके। इसीलिये टूटा हुआ आदमी अपनी दमित आकांक्षाओं और आत्मिक सुख के साथ समन्वय स्थापित करने के लिए मजबूर हो जाता है। इस उपन्यास में किशोरी और श्रीचन्द का मिलन, मंगलदेव और गाला का विवाह, निरंजन का गृहस्थ जीवन त्याग घंटी और यमुना का संवेदनशील व्यक्तित्व मानव की समन्वयात्मक प्रकृति के प्रतीक हैं। इन सबका त्याग और सुधार जीवन के साथ नया समझौता है। यह समझौता केवल समझौता ही नहीं बल्कि समाज, परिस्थिति, व्यक्ति और नियति का व्यंग्यात्मक स्वरूप है जो मानव और समाज को समन्वय करने के लिए बाध्य कर देता है।

यद्यपि इस उपन्यास में घटनाओं की बहुलता, और नाटकीयता सर्वत्र पायी जाती है परन्तु जीवन के उद्घाटन और चारित्रिक विकास में बाधक नहीं होती है। सभी घटनाएँ निरन्तर एक-एक कर सामने आती हैं और कथानक का सूत्र बनकर उपन्यास को गति देती हैं। हाँ, लम्बे-लम्बे भाषण अरुचिकर लगते हैं और कहानी के विकास में अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस उपन्यास की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि सभी पात्र बार बार एक ही स्थान (जैसे हरिद्वार, काशी और मथुरा आदि)

में आकर स्वतः इकट्ठे हो जाते हैं। यह बनावटीपन पाठक को अखरने वाला है लेकिन इसमें प्रसाद जी का दोष नहीं क्योंकि नाटकों की प्रवृत्ति वह उपन्यास में भी छोड नहीं सके हैं बारम्बार पात्रों के एक स्थान पर एकत्र हो जाने से ऐसा लगता हैं जैसे पात्रों के घूमने का संकेत स्वतः प्रसाद जी कर रहे हों। घटनाओं की बहुलता भी नाटकीय प्रयोग में प्रयुक्त है जो कि कथानक का जोड़ बनकर सदैव उपस्थित हुई है। प्रत्येक घटना एक समस्या की ओर संकेत बन कर आयी है।

कथानक में प्रयुक्त सभी नाटकीय घटनाएँ और रहस्य पूर्ण प्रसंग चल-चित्रों की शैली को आत्मसात किये हैं। गुलेनार (यमुना) का वेश्यालय से भागना, पिता का ट्रेन पर मिल जाना, विजय पर पादरी के घर के समीप प्रहार, श्रीचन्द का अमृतसर से आगमन, मंगल के गले का त्रिकोण, भिखारी द्वारा कथा का उद्घाटन, आदि यद्यपि मनोरंजकता की वृद्धि करते हैं परन्तु उपन्यास संगठन के लिए अनुपयुक्त हैं।

प्रसाद जी का यह उपन्यास घोर यथार्थवादी है। यद्यपि इसके सभी पात्र भावुक हैं परन्तु उनमें गुण और दुर्गुण दोनों स्पष्ट हैं। प्रमुख और गौण पात्रों की संख्या लगभग पन्द्रह-सोलह है। पात्रों की अधिकता उपन्यास के मर्म को समझने के लिए घातक सिद्ध हुई है। सभी पात्रों के माध्यम से प्रेम का स्वरूप व्यञ्जित होता है किन्तु अधिकतर वह 'सेक्स' पर आधारित है। केवल यमुना और घटी ही प्रेम की मूर्ति बन कर आयी हैं और उनके स्वरूप में समाज का उत्पीडन स्पष्ट झलकता है। यमुना और घटी का चरित्र पाठकों की समस्त संवेदना को अपनी ओर घसीट लेता है। उनके आँसुओं में जीवन की करुणा और समाज की कटुता बूँद-बूँद बनकर रिसती है।

प्रसाद जी का कंकाल समाज का नग्न चित्र है जिसका वीभत्स रूप हमें कुछ सोचने के लिये बाध्य करता है। समूचा उपन्यास जीवन के कई प्रसंगों की नयी और उर्वरक भूमि प्रस्तुत करता है। युग-बोध और यथार्थ की ध्वनि कठोर सामाजिक शिलाओं से टकराकर प्रतिध्वनित होती है। प्रसाद जी ने उसी ध्वनि को आत्मसात कर शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है। अस्तु प्रसाद जी की सभी कविताओं, कहानियों और नाटकों से भी अधिक महत्व इस उपन्यास को प्राप्त होता है। प्रसाद जी के अन्य दोनों उपन्यासों से भी यह उपन्यास उत्कृष्ट ही ठहरता है क्योंकि तितली मात्र आदर्शवादी उपन्यास है और इरावती अधूरा। अपने क्रान्तिकारी विचारों को वे इतने सहज और स्पष्ट रूप में इस उपन्यास में व्यक्त कर गये हैं जितनी अभिव्यक्ति के लिए उन्हें सदैव छायावादी निराशावाद में उपमा, उत्प्रेक्षाएँ और रूपक खोजने पड़े हैं।

वस्तुतः प्रेमचन्द के उपन्यासों की बहुत बड़ी कमी को इस उपन्यास ने पूरा किया है तथा यथार्थवादी उपन्यासों की शृंखला में एक नयी और बहुत मजबूत कड़ी इस उपन्यास ने जोडी है। अतः हिन्दी साहित्य जगत के लिए 'कंकाल' एक बहुत बड़ी और अनूठी उपलब्धि है जिसने न केवल कड़ी ही जोडी है बल्कि भविष्य का दिशा-निर्देशन भी किया है।

जीवनव्यापी असफलताओं की सफल गाथा[1]

शंकरदेव अवतरे

गोदान को बचाते हुए श्री मुंशी प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य को गोदान दिया है। यमक-मूलक विरोध है तो श्लेष-मूलक परिहार। गोदान के नायक होरी के प्राणोत्क्रमण के समय पुरोहित दातादीन का स्वर सुनाई पड़ता है कि यही समय गोदान का है। धनिया के पास केवल बीस आने हैं जो उस दिन की सुतली की बिक्री से प्राप्त हुए हैं। उसने उन्हें ही अपने पति की ठंडी हथेली पर रख दिये और दातादीन से निवेदन किया कि 'घर में न गाय है, न बछिया; यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है और पछाड़ खाकर गिर पड़ती है।' भला दान के लिए गाय कहाँ से आती! यह तो उस किसान के लिए सातवें आसमान की नियामत थी जिसे वह सारे जीवन का हवन करके भी नहीं प्राप्त कर सका था और मरते समय भी उसकी लालसा लिये हुए संसार से विदा हो रहा था—'मेरा कहा-सुना माफ़ करना धनिया! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गई।'

अभाव की इससे बड़ी विडम्बना क्या है जब कोई किसी से कहे कि जीते-जी तो क्या, मर कर भी तुम अमुक वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते। और सचमुच होरी मर कर भी गाय नहीं प्राप्त कर सका। हिन्दू जाति के विश्वास में गाय इस लोक का और परलोक का भी साधन है। होरी को न वह इस लोक में प्राप्त होती है और न परलोक में। कितनी छोटी इच्छा और कितना बड़ा अभाव। लघुता की दृष्टि से भी अमूल्य और गुरुता की दृष्टि से भी अमूल्य। छोटी-से-छोटी चीज क्यों न हो, जो सर्वथा अप्राप्त है, उससे बड़ी कोई चीज नहीं, यहाँ तक कि भगवान् भी नहीं। एक कृषक की जीवनव्यापी असफलता की मरणावधि करुणा 'गोदान' नामक शीर्षक में भनभना रही है (शास्त्रीय भाषा में व्यंजित है)।

और कौन रोक सकता है यदि हम इस 'गोदान' शब्द को एक-दूसरे अर्थ-सन्दर्भ से भी जोड़ दें? हम कहेंगे कि भले ही होरी को मरते समय गोदान नहीं

---

१. गोदान : प्रेमचन्द

दिया जा सका फिर भी उसे अमर होना था क्योंकि मरते हुए हिन्दी कथा-साहित्य को गोदान देकर मुंशी प्रेमचन्द ने अमर बना दिया। यदि कोई यह कहे कि हिन्दी का कथा-साहित्य मर तो नहीं रहा था जो उसे गोदान की आवश्यकता पड़ी, तो निवेदन है कि गोदान का एक दूसरा प्रसिद्ध अर्थ 'केशान्त संस्कार' रख लें जो हिन्दू धर्म में किशोर अवस्था से सम्बन्ध रखता है (अथास्य गोदानविधेरनन्तरम्—कालिदास)। लाक्षणिक अर्थ होगा कि मुंशी प्रेमचन्द ने 'गोदान' के रूप में हिन्दी कथा-साहित्य का 'केशान्त' संस्कार किया है यानि उसे बचपन से किशोर होने का प्रमाण-पत्र दिया है और युवावस्था की ओर जाने का प्रवेशपत्र सौंपा है।

और 'गो' शब्द का मतलब 'गाय' या 'केश' ही तो नहीं है, वाणी या सरस्वती भी है जो 'गोदान' शीर्षक को और भी साभिप्राय बनाता है। अर्थ होगा कि 'गोदान' के रूप में लेखक ने अपनी उस वाणी का दान हिन्दी साहित्य को दिया है जो उसकी जीवन-व्यापी साहित्य-साधना का पुष्कल फल है। कहना कठिन है कि हिन्दी-साहित्य में 'गोदान' के समान या समानान्तर किसी और भी कृति का ऐसा नामकरण है जिसमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीनों शब्द शक्तियाँ अपने-अपने प्रतिपाद्य को लेकर इतना अर्थ-विस्फार पाती हों और जीवन की वृत्तियों के स्वाभाविक संश्लेष और विरोध में साहित्य को विषम अलंकार का कौतुक प्रदान करती हों। 'गोदान' उपन्यास का शीर्षक नामकरण के सन्दर्भ में चुनौती देता है आज के नए युग की नई-से-नई संवेदना को।

गोदान की असाधारणता अपने समय की साधारण से साधारण व्याहृतियों में मूर्च्छित है। दूसरी बात यह है कि देश की सार्वदेशिक अभिव्यक्ति इसमें है। आपाततः लगता है जैसे गोदान में शहर और गाँव की कथाएँ दो न्यारे-न्यारे जीवनसमूह हैं जिन्हें विज्ञापन के लिए एक ही पत्र में छाप दिया गया है। गोदान में दोहरी कथा का आक्षेप इसी आधार पर आलोचकों ने उठाया है। यहाँ दृष्टिकोण आलोचकों का ही दूषित है, गोदान के लेखक का नहीं। पूछा जा सकता है कि शहर और देहात का विभाजन भी क्या भारत का विभाजन है? यदि नहीं, तो इन दोनों के जीवन-समूहों को नितान्त निरपेक्ष और परस्पर स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है? यह तो एक ही वस्तु का आगा-पीछा और अगल-बगल है। जब कथानक का आधार-फलक समूचे भारत की अखण्ड जीवन-संस्कृति है तो किसी डोरे को कपड़े से अलग खींचकर ढोंग सिद्ध करने का क्या अर्थ है? क्या शहर से देहात के प्रभावित होने का सिलसिला आज भी नहीं चल रहा? क्या देहात के लोग किसी-न-किसी आकर्षण से आज भी शहरों को नहीं भाग रहे? और क्या आज भी देहातों पर अप्रत्यक्ष शासन करने वाले हाथ शहरों में परमिट नहीं काट रहे? यदि इस सहज सांस्कृतिक संक्रान्ति का चित्रण गोदान में हुआ है तो यह उसे महाकाव्यिक उपन्यास होने का गौरव देता है। आधुनिक राष्ट्र को अखण्ड अभिव्यक्ति देने वाले आधार-फलक की दृष्टि से गोदान की

वेदना प्रकट करने का प्रस्ताव पास कर दिया जाता है अथवा इसका रूप वह है जो मृतक के परिवार की सक्रिय क्षति-पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है। यदि पहली बात है तो बात खत्म हुई। और यदि दूसरी बात है तो गोदान का उपर्युक्त मसला उद्देश्य एकांगी और सतही है।

होरी के उपलक्षण से सामान्य कृषक-वर्ग की दयनीय दशा का संकेत और पाठकों की उसके प्रति करुणा उभारने का लक्ष्य ही गोदान के लेखक का नहीं है, अपितु वह यह भी चाहता है कि सामाजिक वैषम्य की चिकित्सा करे जो कि गोदान के उद्देश्य का उत्तरपक्ष किंवा सिद्धान्तपक्ष है। सबूत यह है कि लेखक ने कृषक की दुर्दशा की अपेक्षा, दुर्दशा के परिवेश का चित्रण अधिक किया है। किसान का शोषण *किया जा रहा है और जमींदार जान-बूझकर उसका शोषण कर रहा है। ऐसा इस*-लिए है कि ये अपने-अपने कार्यकारण-बद्ध परिवेशों के अधीन है औरकिसान-जमींदार ही नहीं, समाज के अन्य अनेक तबकों के बीच भी शोषित और शोषक का सम्बन्ध बनाये हुए हैं। और भी बुरी बात यह है, कि एक ही तबका किसी एक का शोषक है और साथ ही किसी दूसरे से शोषित भी होता है। किसान को जमींदार चूस रहा है तो जमींदार को भी सम्पादक-नेता चूस रहा है। सामाजिक विषमता का यह अन्यो-न्याश्रित अप्रत्यक्ष परिवेश-चक्र प्रत्येक तबके को दायित्वहीन बना देता है और इसी-लिये यह रोग असाध्य है। इसकी चिकित्सा तब तक नहीं हो सकती जब तक समाज का आमूलचूल ढाँचा नहीं बदला जाता और प्रत्येक सामाजिक वर्ग का परिवेश स्वयं नहीं बदल जाता। गोदान के लेखक ने इसीलिए समाज की इस विषम-रचना की एक-एक ईंट का चित्र उतार कर पाठकों को दिया है और प्रत्येक वर्ग के परिवेश की कार्य-कारण व्याख्या प्रस्तुत करके उसका 'पोस्टमार्टम' किया है। समाज के इस चक्र-को तोड़ना इतना कठिन नहीं है जितना इसे समझना। 'गोदान' के कथानक को *ढीला-ढाला और बेडौल कहने वाले यह नहीं बता सकते कि 'गोदान' के बाद आज* तक भी कोई ऐसी कृति भारतीय साहित्य में आई है जिसमें अपेक्षाकृत चुस्त और कम शब्दों में समाज के इस विषम चक्रव्यूह का भेदन किया गया हो। समाज की उलझी हुई इस विषम लौह-शृंखला को बौद्धिक हाथों से सहला-सहला कर खोलने वाले एकमात्र मुंशी प्रेमचन्द हुए हैं। साम्यवादी बल-प्रयोग और कला के चुस्त झटकों से इस शृंखला की कड़ियाँ या तो और उलझेंगी या सुलझने से पहले टूट जायेंगी। इस दृष्टि से गोदान के कथानक की शिथिलता भारतीय कलाकार की स्वार्जित तक्नीक है। इन्जेक्शन के लिए तनी हुई नहीं, अपितु शिथिल नस की आवश्यकता है। कला-कार की इस तक्नीक को दोष मानने का अर्थ है कि हम उसके कला-विकास की चरम परिणति को देख नहीं पाते या देखना नहीं चाहते।

समाज के इस विषम-परिवेश की महिमा और पात्रों की इस सम्बन्ध में विव-शता के एक-दो उदाहरण देना चाहता हूँ जिससे 'गोदान' के औपन्यासिक उद्देश्य के साथ कथानक की शिथिलता की तकनीक की साभिप्रायता प्रकट हो सके। होरी उसी

जमींदार से मिलते रहने को बाध्य है जो उसे चूस रहा है। होरी की पत्नी धनिया विरोध करती है तो वह कहता है—'इसी मिलने-जुलने रहने का प्रसाद है कि अब तक जान बची हुई है जब दूसरों के पाँवों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।' उसी प्रकार गोबर जब यह कहता है कि भगवान् ने सबको एक बराबर ही बनाया है तो होरी का कथन यह है—'यह बात नहीं है बेटा, छोटे-बड़े भगवान् के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्व जन्म में जैसे कर्म किए थे, उसका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा तो भोगें क्या?' तीसरा उदाहरण है जब पंचायत होरी पर डांड लगाती है तो होरी उसे सिर माथे स्वीकार कर लेता है—'पंच में परमेश्वर रहते हैं। उनका जो न्याय है, वह सिर-आँखों पर। अगर भगवान की यही इच्छा है कि हम गाँव छोड़कर भाग जाँय, तो हमारा क्या बस।' धनिया के द्वारा पंचायत के अन्याय का विरोध किये जाने पर होरी कहता है—'धनिया, तेरे पैरों पड़ता हूँ, चुप रह। हम सब बिरादरी के चाकर हैं, उसके बाहर नहीं जा सकते। वह जो डांड लगाती है, उसे सिर झुका कर मंजूर कर।'

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण हैं जिनसे पाठक भली-भाँति परिचित है। पूछना यह है कि क्या इन्हें पढ़ कर पाठकों को होरी के प्रति बौद्धिक सहानुभूति होती है या बौद्धिक खीज? हमारे विचार से होरी की चारित्रिक जड़ता पर पाठकों को बौद्धिक खीज अधिक होती है। और यदि बौद्धिक सहानुभूति ही अधिक होती है तो यह निश्चय ही वहाँ स्वान्त-विश्रान्त नहीं है। होरी का चरित्र पाठकों को जितनी देर तक अपने पास खींचकर रखता है, वह केवल इसलिए कि वह उन्हें किसी अन्तिम लक्ष्य की यात्रा का सबल देना चाहता है। जितनी तेजी से और जितनी देर तक वह पाठकों को अपनी ओर प्रत्यंचा पर खींचता है, उतनी ही तेजी से और उतनी ही दूर तक पाठक तीर की तरह उद्दिष्ट दिशा में बढ़ता है। होरी जिस सामाजिक परिवेश फँसा हुआ है एवं उसकी समझ पर जिस पुनर्जन्म और भाग्यवाद की काई चढ़ी हुई है, उन सबके साथ पाठक का क्षोभ उभरता है। उसे होरी पर खीज आती है और इसीलिए वह धनिया की बातों का समर्थन करता चलता है। इसके बाद उसे समाज के अनगढ़ ढाँचे पर और उसकी अन्ध-विश्वासी एवं रूढ़ि-ग्रस्त बुनियाद पर क्रोध आता है। आलोचकों ने आक्षेप किया है कि गोदान में बौद्धिकता की कमी है पर उपर्युक्त उदाहरणों के समकक्ष गोदान की हजारों पंक्तियाँ आज के बुद्धिवादी को मानो कह रही हैं कि हिम्मत हो तो करो इस समाज के विषम-ज्वर की चिकित्सा। माना कि अत्याधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों में सीधी-सरल बात को अतिबौद्धिकता के पेंच में डाल देने की क्षमता है पर सरल से सरल शब्दों में टेढ़ी से टेढ़ी बात को कह कर उसे सुलझाने की चुनौती आज की अतिबौद्धिकता को दे देना क्या साधारण तकनीक की बात है? अब यह निर्णय आज के बुद्धिवादियों पर ही छोड़ना समीचीन है कि मुंशी प्रेमचन्द ने अपने समय का अधिक साथ दिया है अथवा उनके समय ने उनका अधिक साथ दिया है।

घटना और पात्रो पर से बौद्धिक निष्कर्ष लेना मुंशी प्रेमचन्द की सर्वोच्च तकनीक ही नहीं है, जो अत्याधुनिक कथाकारो मे पाई जाती है। मुंशी प्रेमचन्द की खूबी है कि वे घटना और पात्रो के अलग-अलग और सम्भव हुआ तो एक ही साथ पर्त खोलते हुए उनके अन्त करण मे प्रविष्ट हो जाते हैं और अपने साथ पाठकों को भी बिना बौद्धिक आयास के या दूसरे शब्दो मे अतिबौद्धिकता-जन्य एव प्रति-विश्वासोत्पादक आत्मीयता की पद्धति से प्रविष्ट करा ले जाते हैं। पाठक यदि सामान्य बुद्धि का है तो वह केवल चित्रण का आनन्द लेकर लौट आएगा और यदि वह ऊँची सूझ-बूझ का है तो वह घटना और पात्रो मे एक रस और सविभागी बन कर सामाजिक विषमता के परिहार की बौद्धिक दिशा में लेखक के उद्देश्य के साथ-साथ यात्रा करेगा। इसके विपरीत अत्याधुनिक कलाकार को अपने पाठक पर इतना विश्वास नहीं है, वास्तव मे वह अपनी आत्मीयता के अनुदान से घटना और पात्रो के चित्रण में उसे अपना अन्तरग नही बनाना चाहता। आज का कथाकार घटना और पात्रो की सर्जरी तो करता है पर अपने पाठक को द्वार पर ही खड़ा कर देता है और चित्रण के बौद्धिक निष्कर्ष एक हाथ से उसकी ओर फेंकता रहता है। फल यह होता है कि जहाँ मुंशी प्रेमचन्द का सुबुद्ध पाठक परिस्थितियो की विषमताओ को सुलझाने की उलझन में बौद्धिक विकास पाता है वहाँ नए कलाकार का पाठक उसके बौद्धिक निष्कर्षों से चमत्कृत होता चलता है। अब यह बात दूसरी है कि आज के पाठक का भी यह समय-दोष बढ़ता जा रहा है कि वह बिना लक्ष्य समझे कथाकार के साथ प्रतिविश्वासी बन कर नही चल सकता। इसे दूसरे शब्दो में यों भी कहा जा सकता है कि नया कथाकार ही प्रतिविश्वास-परक आत्मीयता के अनुदान से कतराता है और इसीलिए उसका पाठक भी लक्ष्य-बोध के केवल विस्मय-कौतुक को एवं बौद्धिक सनसनी को ही सब कुछ समझे बैठा है। पर यह तो कला की भिन्न तकनीक की बात है जो मुंशी प्रेमचन्द मे नही है। इसके आधार पर उनके कथा-शिल्प को शिथिल या कम बौद्धिकता-पूर्ण कहना विविक्य-वचन नही हो सकता। यह तो एक मनमानी बात हुई कि पाठक को सनसनी या दोलायन (सस्पैन्स) पैदा करने मे तो बौद्धिकता समझी जाय और उसके प्रति प्रतिविश्वासी आत्मीयता के अनुदान की सक्षम पद्धति को बौद्धिकता का अभाव कहा जाय। उसी प्रकार लक्ष्य की अनिश्चितता और निष्कर्ष की अनिर्दिष्टता मे तो किसी कृति को बौद्धिकता-पूर्ण माना जाय पर निश्चित लक्ष्य और निर्दिष्ट निष्कर्ष की प्रतिपत्तियो के बौद्धिक समाधान की ओर प्रेरित करने वाली दूसरी कृति को कम बौद्धिकता-पूर्ण कह दिया जाय। यह तो उद्धव की गोपियो के 'मन माने की बात' का धर्म है जिसका उत्तर किसी बुद्धिवादी के पास नही है।

कथानक के प्रबन्धत्व के सम्बन्ध मे हम कह चुके हैं कि गोदान की देहाती और नागरिक प्रवृत्तियो को उभय-निष्ठ पात्रो के द्वारा पाटा गया है। दोनो स्थानो के जीवन-समूहो को एक दूसरे से प्रभावित और परस्पर कृत-प्रतिकृत चित्रित किया

गया है। भारतीय जीवन का सांगोपांग चित्र यही है जिसमें न तो देहात की उपेक्षा की गई है और न शहर की। मुंशी प्रेमचन्द ने इन दोनों के सम्बन्ध वातावरण को उज्जीवित करके यह दिखाया है कि इस देश की वास्तविक तस्वीर क्या है और क्या हो सकती है। राष्ट्र-व्यापी आधार-फलक है तो राष्ट्रीयता को सीमान्त अभिव्यक्ति उसका उद्देश्य है।

होरी उपन्यास का नायक है। वह एक भारतीय किसान है जिसमें वर्ग-गत विशेषताएँ बहुत अधिक और व्यक्तिगत विलक्षणताएँ बहुत कम हैं। वह अशिक्षित परम्परा-ग्रस्त, अन्धविश्वासी और रूढ़ि-जर्जर कृषक-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने हाथ से अपनी दुर्दशा को सादर निमन्त्रित करता है, अत पाठक उसकी पत्नी धनिया के साथ उसके प्रति करुणा-मिश्रित खीज से भर जाता है। होरी पर जितनी भी आपत्तियाँ आई हैं वे सबकी सब उसकी अपटुकारिता के कारण उत्पन्न हुई हैं और उसकी अपरीक्ष्यकारिता के कारण सहस्रगुणी होती चली गई हैं। वह भाग्यवाद के झटके के सहारे अपनी दुरवस्था का समाधान समझ लेने की भ्रान्ति करता है और अपने सहज जीवन-विकास के द्वार पर ताला मार कर बैठा रहता है। वह अपने अनुभव से भी कुछ नहीं सीखना चाहता और इस दृष्टि से वह एक जड़ चरित्र है। यद्यपि आज का औसत किसान तीस वर्ष पहले के 'गोदान' के होरी की तरह अन्धादर्श-विमूढ़ नहीं रहा, वह बहुत स्वार्थी और चालाक बन गया है, फिर भी परम्परागत सामाजिक रूढ़ियों से वह सर्वथा मुक्त भी नहीं है। कहना यह है कि सभी भारतीय किसान होरी जैसे तो नहीं होते पर उसमें होरी जैसे भी हो सकते हैं; वर्ग-गत होते हुए भी यह उसका व्यक्ति-वैलक्षण्य है।

अब बन्ध की दृष्टि से यह देखना है कि उपन्यास के नायक के साथ सभी देहाती और नागरिक पात्र किसी-न-किसी सबल सूत्र में बँधे हुए हैं कि नहीं। यदि इनमें कोई दृढ़ सूत्र का सम्बन्ध है तो गोदान के कथानक पर दोहरे होने का आक्षेप भी विचार स्वस्थ नहीं माना जा सकता और न उसकी कलात्मक संघटना में ही किसी अन्यथा-भाव की कल्पना की जा सकती है।

किसान के दयनीय परिवेश का चित्रण होरी के कृषक-जीवन की सबसे मोटी चारित्रिक रेखा है और यह दयनीय परिवेश उसके राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक शोषणों से तैयार किया गया है। इन तीनों प्रकार के शोषणों की अपनी-अपनी शृंखलाएँ हैं जिनमें होरी का जीवन एक कड़ी बन कर फँस गया है और जो बिना टूक-टूक हुए निकल नहीं सकता है। इससे अधिक कथा की समन्वयी योजना और क्या होनी चाहिए थी, इसे वे ही लोग जानते होंगे जो इसके दोषज्ञ होने का दावा करते हैं।

जमींदार राय साहब अमरपाल सिंह ने होरी का राजनैतिक शोषण किया है। अंग्रेजी राज्य ने जमींदार को किसानों के ऊपर हुक्काम की कोटि में रख छोड़ा

था। उसके हाथ मे किसानो का अवग्रह और अनुग्रह था। वह उन्हें बेदखली, इजाफा लगान, नजराना और अनेकानेक आर्थिक दण्ड-विधान देता था, जिनसे दबा हुआ किसान पेट मे घुटने देकर बेगार करता था। राय साहब का चरित्र इस दृष्टि मे यद्यपि एक वर्ग-पात्र की सीमा मे ही पडता है फिर भी उसका अपना भी कुछ व्यक्ति-वैलक्षण्य है। वह अंग्रेजी राज्य के अन्तिम दशक का जमीदार पात्र है जो जमीदारी प्रथा को बुरा कहते हुए भी उससे चिपका हुआ है। वह बौद्धिक युग का जमीदार है जो जमीदारी के शीघ्र सम्भावित सायकाल की धारणा लिये बैठा है और 'सभा-चतुर' होने के नाते समाज के सामने अपनी परवशता दिखा कर निर्दोष होने का प्रमाणपत्र लेना चाहता है। उसके मन, वचन और कर्म का अन्तर स्पष्ट है। और यह सीधी-सादी बुराई न होकर बहुत पेचीदा है जिससे छुटकारा पाना वह स्वयम् नही चाहता क्योकि अपनी भलमनसाहत के सिक्के से किसानो की हितैषणा का ढोग खरीद कर वह उनके शोषण को सर्वात्मना न्याय सिद्ध कर सकता है।

इन जमींदारो को नियति-चक्र मे पीसने वाला कृषक-वर्ग या समाज न होकर इनकी ही स्वार्थी सन्तान है। किये गये अत्याचार का दण्ड यदि किसी को अपने ही सर्वाधिक प्रेम-पात्र से मिल जाय तो इससे बड़ा सामाजिक न्याय और क्या होगा। राय साहब के पुत्र रुद्रपाल के चरित्र की यही सगति है। राजा सूर्य प्रताप सिंह और ताल्लुकेदार कुँवर दिग्विजय सिंह भी अपने-अपने सम्बन्ध से राय साहब के चरित्र की उपपत्तियों मे ही प्रायः दाएँ-बाएँ निकलते रहते हैं।

सेर को सवासेर वाली बात है सम्पादक ओकारनाथ का चरित्र। राय साहब को भी चूँसने वाला यह पात्र है। अपने पात्र मे राय साहब को सही रंग मे दिखाने का डर वह दिखा सकता है और सौ ग्राहको का चन्दा उनसे ऐंठ सकता है। खन्ना साहब भी राय साहब से खूब कमीशन लेता है। वह शुगर मिल का डाइरेक्टर है और एतावता पूँजीवादी है। रायसाहब किसानो का शोषण करते हैं तो खन्ना साहब मजदूरो का। मिर्जा खुर्शेद के द्वारा भडकाए हुए मजदूरो के सघर्ष मे गोबर का सविभाग है जो होरी का पुत्र है और झिंगुरी सिंह गाँव में खन्ना साहब का एजेण्ट है जो ब्याज पर रुपये देकर किसानों को चूसता है। होरी के जीवन-परिवेश मे ये सब अच्छी तरह जुड़े हुए हैं।

नोखेराम कारिन्दा है जो राजनैतिक शोषण का दूसरा काला चित्र है। होरी के द्वारा लगान चुकता करने पर भी वह दो वर्ष का बकाया निकाल कर उस पर लाद देता है। लगान की रसीद जो उसने नही काटी थी। अब रही थानेदार जैसे घूँसखोरो की बात, सो वह शहरी और देहाती जीवन मे आज भी बासी नही हुई है।

गाँव के महाजन मँगरू शाह, पटेश्वरी, बिसेसर, दातादीन प्रभृति हैं जो किसानो का महाजनी सभ्यता से सामाजिक शोषण करते हैं। होरी का इन सबसे वास्ता पडा है और एक-एक के दस-दस उसने दिये हैं और बिना लिये उसने दिये हैं।

और पण्डित दातादीन जैसे ब्राह्मण-राक्षस सामाजिक शोषण के साथ-साथ धार्मिक शोषण भी करते हैं। धर्म की व्याख्या और पाप-पुण्य की परिभाषा इनके हाथ है। धार्मिक शोषण के नाम पर ये मरने वालों के हाथ की दही चाट सकते हैं और गोदान का धार्मिक अंकुश मारकर मरे हुए को मार सकते हैं।

जिस प्रकार देहाती और शहरी शोषक-वर्ग की प्रमुख कड़ी राय-साहब और खन्ना साहब जैसे पात्रों में है उसी प्रकार उभयत्र शोषित-वर्ग की सबल कड़ी होरी और गोबर जैसे पात्रों में है। गोबर तो एक प्रकार से उभय-निष्ठ है। वह शोषित कृषक-वर्ग का पुत्र होकर शहरी मजदूरी के रूप में स्वयं शोषित है। गोबर अपनी माता धनिया के साथ अपने पिता होरी की जड़ता को उभारने वाला जागरूक पात्र है और साथ ही देहाती जीवन को नागरिक पद्धति का मिश्रित विकास देने वाले ग्राम्य युवा वर्ग का प्रतिनिधि भी है। वह शहरी जीवन का प्रश्न है और देहाती जीवन का उत्तर वह नागरिक सम्पर्क के गर्व से गाँव की अघसार सभ्यता का नेता है। लगता है, देहात के विकास का सक्रान्ति-सूत्र गोबर जैसे युवाओं के हाथ में ही उपन्यासकार ने छोड़ा है।

देहात की अपेक्षा नगर की प्रेम-पद्धतियों में एक खास अन्तर है जिसे मेहता और मालती के सम्बन्ध-सूत्र से कुछ जाना जा सकता है। इन दोनों पात्रों में प्रेम की कलात्मक उच्चता को लेकर एक अजीब प्रतिद्वन्द्विता है। यहाँ मन की मासलता ही नहीं, हृदय की भावुकता भी पराजित है। ये दोनों पात्र देहाती जीवन के क्रिया-कलापों में इस तरह सलग्न दिखाए गए हैं कि प्रत्येक बड़ी घटना का संविभाग इन्हें मिलता है। उपन्यास के अनेक अनमेल विवाहों का उत्तर भी इन दोनों पात्रों के चरित्रों में निहित है। दूसरे शब्दों में विवाह और प्रेम का अन्तर यहाँ स्पष्ट है। विवाह में बन्धन है और प्रेम में प्रेरणा है। विवाह के स्वार्थी प्रेम से सात्विक प्रेम का निरीह त्याग जितना भिन्न होता है उतना ही अन्य पात्रों के वैवाहिक सम्बन्धों से मेहता-मालती का भाव-बन्धन भिन्न है। दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार गोबर देहाती सभ्यता को सामने करके शहरी सभ्यता से टकराता है उसी प्रकार मेहता-मालती अपनी शहरी सभ्यता को सामने करके देहाती सभ्यता से टकराते हैं। दो भिन्न स्थानों के जीवन-समूहों को एकरस करने में ये पात्र स्वयं पट गए हैं।

जीवन-दर्शन की पद्धति का विचार अब यहाँ आनुषगिक है। मुंशी प्रेमचन्द की धारणा है कि उच्च कोटि के उपन्यास वे होते हैं जिनमें यथार्थ और आदर्श का समन्वय रहता है। युगधर्मी आलोचकों ने लेखक की इस धारणा के विरुद्ध उसकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'गोदान' के सम्बन्ध में निर्णय दे मारे हैं। कुछ आलोचकों ने कहा है कि 'गोदान शुद्ध यथार्थवाद का उदाहरण है' और इस प्रकार मुंशी प्रेमचन्द की कला का चरमान्त विकास वे इसी रूप में आँकते हैं। कुछ आलोचकों ने कहा कि आदर्श और यथार्थ का परस्पर कोई समन्वय ही नहीं हो सकता, क्योंकि ये दो विरोधी जीवनतत्त्व-हैं। इनके मत में या तो 'गोदान' केवल आदर्शवादी है या केवल यथार्थवादी। आदर्शो-

न्मुख यथार्थवाद जैसी अभिसन्धि पर इन्हे बहुत नाराजगी है। हमे इन दोनो प्रकार के आलोचको से पूरी-पूरी असहमति है।

यह धपला सम्भवत. इसलिए हुआ है कि इन लोगो ने 'आदर्श' और 'यथार्थ' शब्दो को अपने-अपने दृष्टिकोण से नैयार्थ बना रक्खा है। एक भ्रान्ति तो आदर्श को केवल भावुकता-परक और यथार्थ को केवल वस्तु-परक मानने से पैदा हुई है। दूसरी भ्रान्ति आदर्श को खाली सुखोदर्क और यथार्थ को खाली दु:खोदर्क परिणति मे स्वीकार करने के कारण पैदा हुई है। और तीसरी भ्रान्ति आदर्श मे शुद्ध आशावादिता और यथार्थ मे शुद्ध निराशावादिता की प्रतिवृत्तियो से पैदा हुई है। मुन्शी प्रेमचन्द का कोई भी नैष्ठिक पाठक इन भ्रान्तियो का शिकार नही बन सकता।

आदर्श और यथार्थ के मूल व्यावर्तक तत्त्व दूसरे हैं। किसी भी नैतिक मान्यता का वह सरम्भ जिसमे किसी निश्चित जीवन-पद्धति का आग्रह ध्वनित हो, आदर्शवाद है। इसके विपरीत किसी का यथातथ्य निरूपण जिसमे नियामकता का भाव अनिर्दिष्ट न सही तो अनिश्चित अवश्य हो, यथार्थवाद है। यो तो यावन्मात्र तत्वों में आदर्श और यथार्थ की सघटना हो सकती है पर पात्र, कथावस्तु और उद्देश्य इन तीन में यह अधिक उपचित और इसीलिए अधिक परिचेय होती है।

यह तो माना कि आदर्श और यथार्थ की रेखाएँ परस्पर विरोधी हैं पर इसी कारण इनका समन्वय क्यो नही हो सकता ? क्या विरोधी जीवन-दृष्टियो का समन्वय एक ही जीवन या जीवन-समूह मे हम नहीं देखते ? यदि ऐसा न होता तो काव्य के परस्पर विरुद्ध रसो का अविरोध, जो काव्य का और भी उत्कर्षाधान करता है, साहित्याचार्यों ने कुछ विशेष परिस्थितियो मे प्रतिपादित न किया होता। स्पष्ट है कि 'गोदान' मे आदर्श और यथार्थ के समन्वित रूप को अस्वीकार करना विवेचन की कठोरता-मात्र है।

'गोदान' मे आदर्श और यथार्थ का समन्वय किस प्रकार हुआ है, यह अब विचार का विषय है। मुंशी प्रेमचन्द ने इसे अगागिभाव, वाध्य-वाधकभाव और व्यग्य-व्यजकभाव से तैयार किया है। पात्र, कथा और उद्देश्य की दृष्टियाँ ही यहाँ प्रमुख हैं जिनमे उनके आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का स्पष्ट रूप मिलता है।

पहले पात्रो की बात लीजिए। 'गोदान' के सारे प्रमुख पात्र प्राय: वर्गपात्र ही हैं। वर्गपात्र का मतलब ही है कि वह किसी भली या बुरी सैद्धान्तिक मान्यता का सस्कारी पात्र होता है। होरी में भलाई की वर्गपात्रता है तो रायसाहब अमरपालसिंह मे बुराई की वर्गपात्रता है। एक की भलाई आदर्श है तो दूसरे की बुराई आदर्श है (सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु)। इसके अतिरिक्त भलाई-बुराई की मिश्रित वर्गपात्रता भी हो सकती है। तीनों ही वर्ग आदर्श-पात्र के कहलाएँगे। गोदान मे इन सभी वर्ग-पात्रो का सघर्ष देश-काल और परिस्थितियो के सन्दर्भ मे अत्यन्त स्वाभाविक है, इसलिए चित्रण की दृष्टि से ये पात्र अत्यन्त यथार्थ पात्र भी हैं।

फिर इनकी यथार्थता आदर्शोन्मुख इसलिए है कि इनके वर्ग-गत संस्कार अत्यन्त दृढ हैं और यथार्थ के झटकों से टूटने के बजाय संघर्ष की कसौटी पर और भी दृढ़ उतरते हैं। फलतः यथार्थ पराजित या बाधित होकर विजेता आदर्श को और भी उत्कर्ष प्रदान करता है, यही मुंशी प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है।

मेहता और मालती जैसे पात्रों का आदर्श वर्ग-गत न होकर व्यक्तिगत है। ये व्यक्तिगत मान्यताओं के आदर्श-पात्र हैं जो अपनी अवधारणाओं के लक्षण से स्वरूप-विकास प्राप्त करते हैं।

'गोदान' में कथावस्तु की योजना अत्यन्त स्वाभाविक है और घटनाओं का चित्रण एकदम स्वतः सम्भवी यथार्थ है पर लेखक ने जो उनकी परिणामी योजना से निष्कर्ष लिए हैं वे उसके अपने आदर्श हैं। उसने गाँव और नगर की प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण करके भी एक स्वतःभूत मिश्रित संस्कृति के आदर्श का संकेत कर दिया है। 'भले का फल भला और बुरे का फल बुरा' जैसी आदर्श-मान्यताओं को विभिन्न घटनाओं और पात्रों की सहज-सीमा में प्रकट किया गया है। राय साहब अमरपाल सिंह के अत्याचार का उत्तर उसका ही वाहियात पुत्र रुद्रपाल है। गोबर भी एक हद तक अपने पिता होरी की संस्कार-बद्धता का उचित प्रतीकार है। प्रेम का यथार्थ चित्रण जहाँ धर्म, जाति और वंश की कृत्रिम सीमाओं के अतिक्रमण से मातादीन और सिलिया के जोड़े में प्रकट हुआ है वहीं होरी और धनिया का दाम्पत्योचित आदर्श-प्रेम और मेहता-मालती का कलात्मक प्रेम सात्विक आदर्श के साथ सामने आता है। प्रेमदर्शन का इसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जा सकता है जो विभिन्न जोड़ों में लेखक के आदर्श का यथार्थ विकास है।

और सबसे बड़ा उद्देश्य तो यह है कि लेखक ने जो 'गोदान' के रूप में देश का राष्ट्र-व्यापी यथार्थ चित्र दिया है उसकी व्यंजना आदर्श-मूलक है। वास्तव में यथार्थ चित्र तो एक प्रश्न या पहेली है जिसके उचित समाधान के लिए लेखक ने पूरे समाज को चुनौती दी है। इसी चुनौती के पीछे लेखक का आदर्श ध्वन्यमान है। यदि प्रश्न है, कैसे ? तो उत्तर भी प्रश्न-मूलक है कि 'गोदान' में जो सामाजिक विषमता का यथार्थ चित्र है उसे पढ़कर सभी बुद्धिजीवियों को उसके प्रति क्षोभ या ग्लानि होती है या नहीं ? यदि नहीं होती है तो सारा उपन्यास ही निरुद्देश्य मानना पड़ेगा जिसे कोई भी मानने को तैयार नहीं है। और यदि होती है तो उसकी सोद्देश्यता निर्विवाद है जो लेखक की नई सामाजिक निर्मिति की आदर्श-प्रेरणा में विस्फुरित है। यहाँ आदर्श और यथार्थ का व्यंग्य-व्यंजकभाव का या प्रमाणिभाव का सम्बन्ध है। यथार्थ व्यंजक है और आदर्श व्यंग्य है। यह भी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का ही रूप है।

अन्तिम बात यह है कि मुंशी प्रेमचन्द ने जो यथार्थ और आदर्श के समन्वित रूप को उत्कृष्ट कला घोषित किया था उसका कुछ मतलब था और इसीलिए उनकी

उत्कृष्टतम कृति 'गोदान' के सम्बन्ध मे उनकी उपर्युक्त कसौटी को उपादेयता अस्वीकार करना बिल्कुल बेमतलब है। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि यथार्थ और आदर्श का जब तक समन्वय न होगा तब तक कला की पूर्णता मे विश्वास करना भी कठिन है। जीवन अनेक विरोधी दृष्टिकोणो का समवाय है, यही उसकी पूर्णता है। केवल आदर्श या केवल यथार्थ कह कर हम उसे एकागी नही बना सकते। केवल आदर्श भी अस्वाभाविक है और केवल यथार्थ भी अस्वाभाविक है, क्योंकि इन दोनो मे से केवल किसी एक का नाम जीवन नही है। दोनो का अविभाज्य रूप ही जीवन की स्वरूपात्मक सत्ता है। ऐसी दशा मे स्वाभाविकता इन दोनो के समन्वय मे ही है, अन्यम मे नही। जीवन की व्याख्या करने वाली कला मे यह स्वाभाविकता ही विश्वसनीयता का आधार है और कलाकार की प्रेषणीयता का प्राण-तत्त्व है। 'गोदान' की प्रेषणीयता से जो इसका दोषज्ञ-मानी आलोचक भी घायल है उसका मूल मन्त्र इस कृति मे यथार्थ और आदर्श का स्वाभाविक समन्वय ही है। स्वभावोक्ति अपने आप मे पूर्ण काव्य होता है और 'गोदान' स्वभावोक्ति का एक उत्कृष्टतम उदाहरण है।